

# प्रज्ञा

अरविन्द जन्मशती विशेषांक



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक १८ भाग (१)

अक्टूबर, १९७२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj, Lucknow



## मूल्य दर ( प्रति अंक )

संयुक्त राज्य अमेरिका

\$ २

ब्रिटेन

£. १

भारत

रुपये १०.००

## नियम

- (१) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व ।
- (२) सभी प्रकार का शुल्क सह-संपादक, 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-२२१००५ के नाम भेजें ।
- (३) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए २० जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए २० नवम्बर तक संकाय सम्पादकों के पास तथा सम्पादक-मंडल के पास क्रम से ३० जुलाई और ३० नवम्बर तक पहुँच जाना चाहिए ।
- (४) लेख फुलस्केप कागज पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यतः १० पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए । लेखकों को उनके लेख की रिप्रिन्ट्स की ५० प्रतियाँ दी जायेंगी ।

### Subscription Rates ( per issue )

U.S.A.	..	...	...	\$ 2
U.K.	...	...	...	£. 1
India	...	...	...	Rs. 10.00

## RULES

- (1) The 'Prajñā', shall, so far as possible, be published twice a year : one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.
- (2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor, 'Prajñā', B.H.U. Journal, Varanasi-221005.
- (3) Articles intended for publication in this Journal by B.H.U. scholars should be submitted to the Faculty Editor before July 20 for the first issue and November 20 for the next issue and should reach the Editorial Board on July 30 and Nov. 30 respectively.
- (4) Articles should ordinarily be type-written on foolscap paper on one side only and should not ordinarily cover more than 10 pages. Authors contributing original articles to the Journal are entitled to receive 50 off-prints gratis.





अरविन्द जन्मशती विशेषाङ्क



# काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक १८ भाग (१)

अक्टूबर, १९७२



सम्पादक-मण्डल

डॉ० रत्नशंकर मिश्र

विभागाध्यक्ष, गणित ( संयोजक )

डॉ० विजयपाल सिंह

विभागाध्यक्ष, हिन्दी

डॉ० श्रीकृष्णराज भण्डारी

प्रोफेसर, वाणिज्य एवं व्यवसाय प्रबन्ध

संकाय सम्पादक

१. मीमांसारत्नम् अ० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री—रीडर, मीमांसा, प्राच्य विद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय
२. डॉ० तुलसीनारायण सिंह—प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, कला संकाय
३. डॉ० महाराजनारायण मेहरोत्रा—रीडर, भौमिकी विभाग, विज्ञान संकाय
४. डॉ० ( कुमारी ) पद्मा मिश्रा—रीडर, संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय
५. श्री राजेश्वर उपाध्याय—लेक्चरर, शिक्षा-शास्त्र संकाय
६. श्री श्याममोहन तिवारी—प्रोफेसर एवं डीन, वाणिज्य एवं व्यवसाय-प्रबन्ध संकाय
७. डॉ० लालमणि मिश्र—प्रोफेसर, वाद्य संगीत, संगीत एवं ललित कला संकाय
८. डॉ० राधाकान्त हरिहर शरण—अध्यक्ष, राजनीति-शास्त्र, सामाजिक विज्ञान संकाय

सह-सम्पादक

गिरिजाशंकर सिंह



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक  
पूज्य महामना



हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां  
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।  
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे  
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥  
हिन्दूराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा  
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)

मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गशीषकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)







## विषय-सूची

१. श्रीअरविन्द शतकम् ... ..	१-१६
पं० रतिनाथ झा	
2. Sri Aurobindo : An Introduction ... ..	17-22
Arabinda Basu	
३. श्रीअरविन्द की मानव विषयक विकासवादी धारणा ...	२३-३०
डॉ० शिवप्रसाद सिंह	
4. Some Features of Sri Aurobindo's Thought ...	31-35
Dr. R. K. Tripathi	
5. Sri Aurobindo Ghosh and the Freedom Movement ...	36-46
Dr. J. N. Vajpeyi	
६. श्रीअरविन्द और तन्त्र ... ..	४७-५२
डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय	
७. सौन्दर्यानुभूति और श्री अरविन्द का समाज-दर्शन ...	५३-५७
डॉ० हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव	
८. अरविन्दो महायोगी ... ..	५८-५९
पं० त्रिनाथ शर्मा	
९. अरविन्द का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान ...	६०-६४
डॉ० पीताम्बरदत्त कौशिक	
10. Political Views of Sri Aurobindo : An Analysis ...	65-70
Dr. R. H. Saran	
11. Religious Experiences : Rudolf Otto and Sri Aurobindo ...	71-77
R. C. Sinha	
१२. ह्याइड्रैड एवं अरविन्द के विकासवादी सिद्धान्त ... ..	७८-८३
प्रमोदकुमार कोयल	
१३. महर्षि अरविन्द और तांत्रिक योग-पद्धति ... ..	८४-९५
डॉ० जनार्दन उपाध्याय	
१४. अरविन्द के अनुसार गीता में भक्तियोग ... ..	९६-१०२
रामजी सिंह	
15. Sri Aurobindo : Life and Thought ... ..	103-120
K. L. Srivastava	
१६. आत्मा का स्वरूप ... ..	१२१-१२२
चिन्तामणि झा	



( ii )

१७. श्री अरविन्द और उनकी गीता दृष्टि	...	...	१२६-१३२
रामजी पाण्डेय			
१८. श्री अरविन्द का पूर्णद्वैत दर्शन	...	...	१३३-१३९
प्रेमकुमार अग्रवाल			
१९. महात्मा अरविन्द और सांख्य-दर्शन	...	...	१४०-१४४
सुश्री चन्द्रलेखा पन्त			
२०. अतिमानव : श्री अरविन्द और नीत्ये	...	...	१४५-१५१
राघवेश्याम श्रीवास्तव			
21. Concept of Human Bondage & Sri Aurobindo	...		152-160
Dr. B. N. Tripathi			
२२. अरविन्द-दर्शन में अतिमानसिक सत्ता	...	....	१६१-१६६
अंजनिकुमार सिंह			
23. The Role of Reason in Life According to Sri Aurobindo			167-172
Sudha Srivastava			
24. The Vedantic View of Man & Aurobindo	...		173-178
R. C. Pradhan			
25. Nature of Consciousness in Aurobindo Philosophy			179-182
D. B. Chaturvedi			
26. Rishi Aurobindo	...	...	183-188
R. P. Sen			
२७. गीता में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अस्तित्ववादी आधार	...		१८९-१९६
कुमारी सुधा			
२८. अवाचीन जगत्तियोग :	...	...	१९७-२०८
पं० केदारनाथ त्रिपाठी			
29. Aurobindo on Education	...	...	209-213
G. P. Srivastava			
30. Ascent Through Descent : An Aurobindo			
An Paradox	...	...	214-222
Harsh Naraiian			
31. Sri Aurobindo on Yoga	...	...	223-228
L. K. L. Srivastava			
32. Select Bibliography on Sri Aurobindo's Thought			229-240
S. K. Pandey			

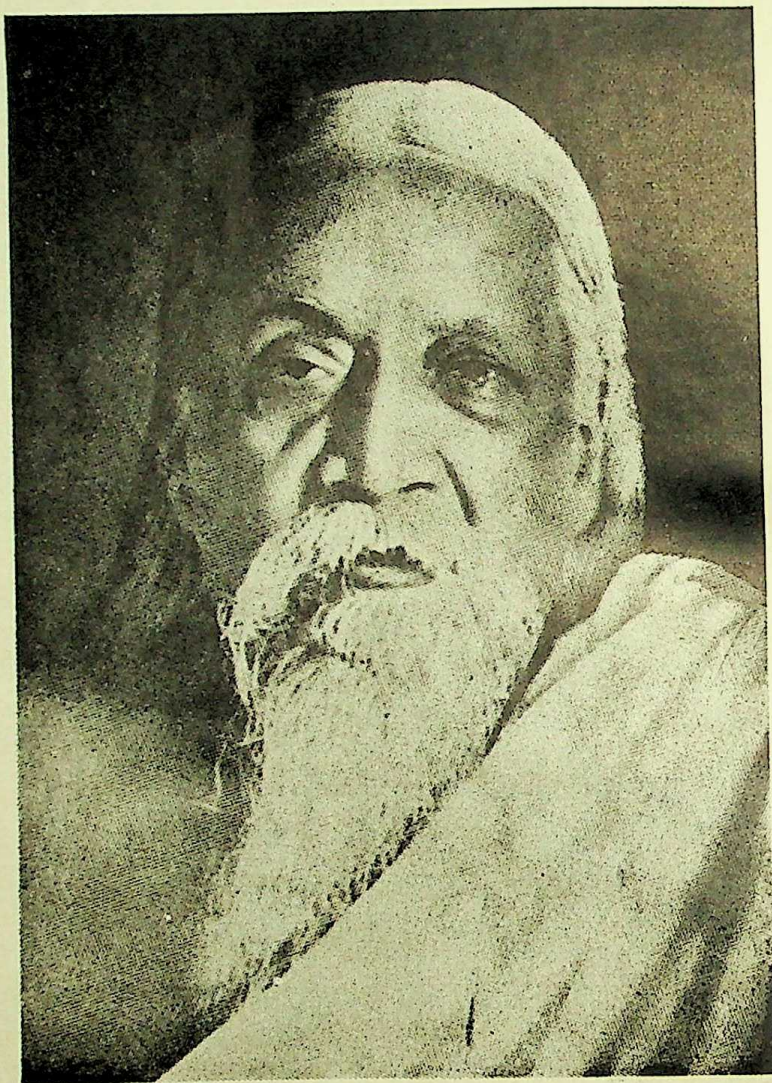
---

Printed By : S.N. Upadhyaya, Naya Sansar Press, Varanasi-1









श्री अरविन्द (१९५०)



## श्रीअरविन्दशतकम्

पं० रतिनाथ झा,

प्राच्यविद्याधर्मविज्ञान सङ्कायः, का० हि० वि० वि०

( १ )

वन्देऽरविन्दनयनं नयनाञ्जनाभं  
वन्देऽरविन्दनिलयां निलयाधिलक्ष्मीम् ।  
वन्देऽरविन्दकुसुमासनमादिदेवं  
वन्देऽरविन्दमुषमां सुरभारतीं च ॥

( २ )

मृद्वी रसार्द्रहृदया ललिता कलाभि-  
मुग्धा श्रिया मरकतांशुकमादधाना ।  
दाम्ना चिराद् वलयिता प्रियपद्मिनीनां  
श्यामेव राजतितरामिह वङ्गभूमिः ॥

( ३ )

रत्नप्रसू विपुलशालिसमृद्धशोभा  
मीनाम्बुजोलसितपुष्करिणीभिरीड्या ।  
रम्भाभिनन्दितपदा धृतनारिकेला  
केलिस्थली जयति काचन मञ्जुतायाः ॥

( ४ )

सर्वासु कोमलकलासु नदीष्णतायाः  
सिद्धिः समुल्लसति यत्र जगत्प्रणम्या ।  
तर्काटवीषु विहरन्मृगराजशौर्य-  
गर्जापि तर्जयति यत्र महामतङ्गान् ॥

( ५ )

या कोमलापि परुषा मधुरापि तीक्ष्णा  
क्रान्तिप्रियापि शुभशान्तिनिशान्तलक्ष्मीः ।  
प्राच्यां स्थितापि धृतपश्चिमदिग्विभूति-  
दिव्यप्रसूतिरपि मानवमानभूमिः ॥

( ६ )

नीराजिताः सुमनसः सुरसिद्धिलक्ष्म्या  
गौराङ्गदेवमधुसूदनरामकृष्णाः ।  
सम्पूजिता जितजगद्धिभवा विवेका-  
नन्दारविन्दयतो मतिमत्समाजे ॥



( ७ )

पूजास्पदं सुमनसामभिमानभूमि-  
 विद्यायतां नृपतिलक्ष्मणसेनसंसत् ।  
 अद्यापि मानसमलंकुस्ते कवीनां  
 हेमारविन्दकमलेव मरन्दवन्द्या ॥

( ८ )

वैज्ञानिके जगति विद्युतनामधेयं  
 ध्येयं सुधीन्द्रनिवहैर्जगदीशचन्द्रम् ।  
 वन्दे रवीन्द्रमपि विश्वकवीन्द्रमेक-  
 मुन्नायकं भरतभूतलभाललक्ष्म्याः ॥

( ९ )

स्वातन्त्र्ययुद्धविजयाय लसत्प्रताप-  
 श्चण्डांशुतामुपगतोऽत्रसुभाषचन्द्रः ।  
 श्यामाप्रसाद उदयाय च मातृभूमेः  
 श्यामाप्रसाद इव कोऽस्त्यपरो जगत्याम् ॥

( १० )

लोकोत्तरै रनुपमाचरितैरसंख्यैः  
 संख्यावतां सदसि पूज्यपदैरुदारैः ।  
 दीव्यत्प्रभैः पुरुषरत्नवरैर्वरेण्यै -  
 रुद्भासिता जयति वङ्गवसुन्धरेयम् ॥

( ११ )

अस्या नमस्यकमलामलदर्पणश्री -  
 भोगीन्द्रवृन्दपरिवर्धितराज्यलक्ष्मीः ।  
 धन्या धरायुवतिभालतले ललाम-  
 सिन्दूरविन्दुरिव राजति राजधानी ॥

( १२ )

वैदेशिकैरधिकृते खलु भारतेऽस्मिन्  
 संवर्धितानि नगराण्युपकूलमब्धेः ।  
 अद्यापि यानि विपुलानि समृद्धिमाञ्जि  
 गण्यन्त एव कृतिभिर्भुवनान्तराले ॥

( १३ )

यन्त्रैर्विशालभवनैः पार्थभिः प्रशस्तै -  
 भंव्यापणैर्विपणैर्भिर्नृपमन्दिरैश्च ।  
 विधुत्प्रभाभिरथ यानसहस्रभेदैः  
 प्राच्या विभूतिरिव राजति कालिकाता ॥



1972 ]

श्रीअरविन्दशतकम्

3

( १४ )

आंगलाधिपप्रतिनिधिप्रणयोपभोगी

पद्मालयाधिकृतसद्गुणदामवद्धः ।

तत्रान्वयो वसुमतां वसुबान्धवाना-

मद्यापि भाति नितरामभिजातवन्द्यः ॥

( १५ )

कालाद्वहोः

परवशीकृतभारतस्य

स्वस्थः क्रमोऽपि सहसा लुठतिस्म लोके ।

क्षञ्जानिले प्रचलिते सुदृढोऽपि वृक्ष-

उत्पाटितः पतति पङ्क्तिभूमिभागे ॥

( १६ )

दृक् पूरिता परुषपांसुकणैरजस्रैः

पुंसां प्रभञ्जनरयेण तु भारतस्य ।

अभ्युदगतो जगति पश्चिमदिग्विभागाद्

वातो हि शातयति दर्शनशक्तिमक्ष्णोः ॥

( १७ )

कर्तुं करे विपुलमर्थमथाधिकारं

लोकतिगं किमपि कौशलमाप्तुकामः ।

ससाब्दिकं स्वतनयं परिशिक्षितुं द्राग्

इंग्लैण्डमुन्नततमं जनको न्यवेशीत् ॥

( १८ )

तस्मिन्नवप्रणयिनि प्रथितेऽपि वंशे

जाता स्पृहाभिनवशासनदक्षतायाः ।

रीतिं पुराणपुरुषार्चितभारतस्य

त्यक्त्वाग्रहीदनुकृतिं नृपसभ्यतायाः ॥

( १९ )

राष्ट्रे चिरात् परवशेऽतिपवित्रवृत्ते

बालस्य चेतसि न यावदुदेति रागः ।

ऋद्धं समुन्नतमति स्पृहणीयरूपं

तावद् ब्रिटेनमुपसंगमितोऽरविन्दः ॥

( २० )

अष्टादशेऽल्पवयसि प्रविशन् स्वर्पित्रो-

राकांक्षितं सफलयन्निव बुद्धियोगात् ।

सर्वोच्चशासनपदे प्रथमार्हतां स

प्रापत् प्रवीणविदुषामपि विस्मयाय ॥



( २१ )

निष्पक्षपातविधिनैव परीक्षितेषु  
 च्छात्रेष्वनुत्तमपदं प्रतिपद्य सद्यः ।  
 अश्वाधिरोहणविधौ विमते परन्तु  
 तत्प्राज कृत्स्नमपि गौरवमूलभूतम् ॥

( २२ )

सम्प्रेषितः स्वजनकेन करेऽधिकतुं  
 सौभाग्यहेतुमधिकारमलभ्यमिदम् ।  
 भिन्ने मते सपदि सर्वमिदं विहाय  
 स्वाभाविकं स्वगरिमाणमुरीचकार ॥

( २३ )

आमन्त्रितः सबहुमानतया वडौदा-  
 भूमीश्वरेण तिलकेन नरेन्द्रतायाः ।  
 अङ्गीचकार पदमुन्नतमर्चितोऽयं  
 मानी वृणोति हि समादरमेव नार्थम् ॥

( २४ )

यूरोपमण्डलविमण्डितभव्यभाषास्वासीत्  
 स षट्सुनिपुणोऽधिवसन् ब्रिटैनम् ।  
 तेजस्विनी प्रकृतिरन्यजनैर्दुरापां  
 सिद्धिं झटित्यधिकरोति हि बुद्धिभाजाम् ॥

( २५ )

अल्पीयसापि वयसातिकुशाग्रबुद्ध्या  
 वृदैर्जनैरपि सुदुष्करकार्यसिद्धिम् ।  
 क्षिप्रं प्रशासनविकाससुयोजनाद्यै-  
 रध्यापनादिभिरयं प्रकटीचकार ॥

( २६ )

कार्यं यदेव कुरुतेस्म तदेव सम्यग्  
 जातं फलेन सहितं हितसाधनेन ।  
 अस्मिन् प्रशासति चिराय नरेन्द्रलक्ष्मी-  
 रुल्लासपूर्णहृदयेव ननर्त राज्ये ॥

( २७ )

कार्यान्तराणि विधिवद् विदधत् स विज्ञः  
 प्राप्ताधिकार इह भारतभारतीषु ।  
 तत्रापि देवगिरि गौरववर्धनेन  
 रागं स्वकीयमतुलं सततं ततान ॥



1972 ]

श्रीअरविन्दशतकम्

( २८ )

वाचं सुधामुचमिमां महतीं सुराणा—

माचम्य संस्कृतिमुदारमां पपो सः ।

प्राच्यप्रतीच्यसुविचारपरम्पराया

एवं वभौ परमपावनतीर्थराजः ॥

( २९ )

दूरे स्थितोऽप्ययमतीव पितुः प्रयासात्

पाश्चात्यनव्यतमसभ्यतया गृहीतः ।

यां संस्कृतिं नहि विवेद पुरा पुराणीं

तत्रैव पूर्णमतनोदनुरागमूत्कः ॥

( ३० )

नारोपितो गुणगणः सहजां प्रवृत्तिं

रोद्धुं समर्हतितरां नितरामलङ्घ्याम् ।

सम्यक् प्रतापितमपि प्रसभं किमम्भो

निर्वापणाय न भवत्यनलस्य शश्वत् ? ॥

( ३१ )

अर्थाधिकारजननेऽप्रतिमं नरेन्द्र—

सम्मान वैभवसमर्पणसिद्धिपीठम् ।

त्कृत्यवा पदं स दुरवापमपि प्रकामं

प्रत्यागमच्चिरसमीहितवङ्गभूमिम् ॥

( ३२ )

आंग्लाधिपप्रथितसंस्कृतिसभ्यतादि

सम्पत्समृद्धकुलसेवितकालिकाताम् ।

राष्ट्रोदयाय परिशिक्षणमन्दिरस्य

प्राचार्यतामनुबभूव जनानुरोधात् ॥

( ३३ )

श्रद्धाभरैः सपदि भारतमातुरङ्घ्रैः

पांशं दृढं श्लथयितुं परतन्त्रतायाः ।

मृत्योर्मुखेऽपि पतितुं कृतनिश्चयानां

क्रान्तिप्रियप्रणयिनां शुशुभेऽग्रदत्तः ॥

( ३४ )

दुःशासनेन पवनेन सीमिद्धमन्यु—

बह्वौ बभूव घृतमेव स बङ्गभङ्गः ।

यज्ज्वालया कवलिता मनुजेन्द्रलक्ष्मीः

शोभां निजां निरुपमामपि नाभिमेने ॥



( ३५ )

यो लोकमान्यतिलकेन सहोग्रवादि-  
वर्गस्य नायकपदं सहसाधिकृत्य  
आन्दोलनं प्रचलितं तु <sup>१</sup>चतुःस्वरूपं  
भूपप्रतीपमतुलं प्रबलं चकार ॥

( ३६ )

क्रान्तिस्फुलिङ्गमयवर्णभरैः समृद्धं  
पत्रं स दैनिक<sup>१</sup> मलंकृतमुच्चभावम् ।  
प्रारभ्य भव्यजनवन्दितकीर्तिरेखा—  
मासादयन्निखिलदेशसमर्चिताङ्घ्रिः ॥

( ३७ )

एतादृशे ब्रिटिशशसननाशदक्षे  
क्रान्तिप्रियेऽतितरुणे ज्वलदग्निकल्पे ।  
वैदेशिकः प्रबलशासक एव राज—  
द्रोहाभियोगमनयन्नयवर्त्मं हातुम् ॥

( ३८ )

भुक्तः सकृत्, पुनरपि प्रबला<sup>३</sup>भियोग-  
बद्धो निरुद्धचरितो वत वन्दिगेहे ।  
तत्र स्थितः स 'भगवानथ वासुदेवः'  
सर्वं, पवित्रमनसाऽनुबभूव सम्यक् ॥

( ३९ )

साक्षात्कृतः स भगवान् करुणावतारः  
कारागृहं निवसता विमलाशयेन ।  
येनातिदुर्लभ उदग्रमहात्मवर्यो  
लोकेन कौतुकवता स सता व्यलोकि ॥

( ४० )

सन्दर्शने भगवतो न विभावनीयं  
चित्रं मनागपि सतां चरितानुविद्धम् ।  
अन्तः स्थितोऽपि हि गुणः समये समग्र-  
शक्त्योन्नतो भवति पावनमानसानाम् ॥

१. स्वदेशी, असहयोगः राष्ट्रिय शिक्षा, विदेशिवहिष्कारश्च ।

२. 'बन्देमातरम्' नामक दैनिकं पत्रम् ।

३. अलीपुर बमकाण्डम् ।



( ४१ )

कारागृहात् प्रतिनिवृत्त्य स 'कर्मयोगिन्'  
 सासाहिकं विधिवदांगलगिरा व्यतानीत् ।  
 येन स्वराष्ट्रहितसाधननीतिनिष्ठां  
 प्रासारयत् सकलभारतवासिचित्ते ॥

( ४२ )

'धर्मा'ख्यमन्यदपि पत्रमुदारवङ्ग—  
 वाचा प्रकाश्य जनतान्तिकमाजगाम ।  
 भाषाद्वयेन युगपद्विहितप्रयासः  
 स्वातन्त्र्ययुद्धविजयाय स दीक्षितोऽभूत् ॥

( ४३ )

कालान्तरे भरतभूमिविचारराजि—  
 रत्नावलीवलयितं वरणीय 'मार्थम्' ।  
 पत्रं सदर्थरमणीयतमैर्निबन्धै  
 तुद्भासयन्नरुलगौरवमुद्धार ॥

( ४४ )

देशे चिरात्परवशेऽपि न मानवीय—  
 कल्याणकारिचरिताज्जनताऽपरक्ता ।  
 बद्धे करेऽपि वसुधैककुटुम्बताया  
 औदार्यमेष हृदयेऽनुबन्ध शश्वत् ॥

( ४५ )

कीर्णे चिरादवकरेऽप्युपरिप्रदेशे  
 गर्भे विभर्ति वसुधा बहुमूल्यरत्नम् ।  
 कायेषु धूसरतमेष्वपि पार्थिवेषु  
 ज्योतिर्मयी स्फुरति कापि परात्मकान्तिः ॥

( ४६ )

मृत्योरुदग्रकरुणाविमुखस्य शश्वत्  
 प्रेम्णश्च युद्धमधिकृत्य नितान्तकान्तम् ।  
 काव्यं नवीनतममांगलगिरा विधाय  
 विश्वं स्वभारतगुरो विन्दधेऽद्य शिष्यम् ॥

( ४७ )

बाल्मीकिमादिकविमर्षितरामवृत्तं  
 व्यासं च भारतविभूतिमरैः स्फुरन्तम् ।  
 श्रीकालिदासमपि विश्वकवीन्द्रवन्द्यं  
 व्याख्यातवानुचितचारुमुचिन्तितेन ॥



( ४८ )

आंगलाधिपेन सततं समुपद्रुतोऽगात्  
 फ्रान्सीयचन्द्रनगरं प्रति गुसरीत्या ।  
 क्षिप्रं ततोऽपि परमेश्वरनोदितोऽयं  
 प्रापन्चिराय वसतिं प्रियपाण्डचेरीम् ॥

( ४९ )

आध्यात्मतत्त्वपरिक्षणदत्तयोगं  
 योगं समभ्यसदसौ नियमेन सार्धम् ।  
 प्राप्तञ्च सिद्धिमिह वर्षचतुष्टयेन  
 सूक्ष्मार्थमैक्षत मुदिव्यदृशा समस्तम् ॥

( ५० )

अन्तर्मुखः सततमासजनाभिवन्द्यो  
 योगेश्वरोऽयमचिरेण ऋषित्वमाप्तः ।  
 तत्रारविन्दमुकृताश्रममश्रमेण  
 संस्थाप्य हस्तयुगलेऽर्पयतिस्म मातुः ॥

( ५१ )

त्यक्त्वान्यशीर्षकनिबन्धनिबन्धानि  
 योगे स्वशिष्यजनसंशयमेव हातुम् ।  
 आत्मानुभूतममलार्थविचारमात्र —  
 मुल्लेखितुं प्रयतवान् स यदा कदाचित् ॥

( ५२ )

आहृत्य बाह्यविषयेषु रतं स्वचित्तम्  
 आत्मानुचिन्तनपरः परमः स योगी ।  
 इत्थं समाहितमनाः शनकैर्जगत्यां  
 लग्नं मनः सपदि सुस्थिरयाञ्चकार ॥

( ५३ )

लोकव्यथाहरणदिव्यरसायनाख्यां  
 यद्यप्ययं सदुपदेशकथामनेकाम् ।  
 व्याख्यातवांस्तदपि यं परमेश्वरस्य  
 सन्देशमाह स तु पूर्णतयाऽद्वितीयः ॥

( ५४ )

कारागृहं निवसतः करुणावतारः  
 कल्याणपूर्णवचनं परमेश्वरो मे ।  
 व्याहृत्य कर्णकुहरेषु समादिदेश  
 नव्यां सुधामिव भवत्सविधेऽभिधातुम् ॥



1972]

श्रोअरविन्दशतकम्

9

( ५५ )

भारतीयो निजस्वान्ते शक्तिसीहार्दवर्धनम् ।

'वन्देमातरम्'मित्येव प्रेरकं वाक्यमुच्चरेत् ॥

( ५६ )

बाह्यं समस्तमपि शस्तमशस्तरूप-

मध्यात्मबोधपरिपन्थि विहाय कृत्यम् ।

साक्षाद् विधातुमिह निर्मलमात्मतत्त्व-

मावाहयत् स भगवाननुकम्पया माम् ।

( ५७ )

किञ्चिन्मया सुमनसां भवतां समाजे

गीतोक्तमैव सुविचिन्त्य निवेदनीयम् ।

ईशं सिषेविपति यः सुकृती स जह्याद्

द्वन्द्वं समग्रमपि दुःखसुखात्मकं द्राक् ॥

( ५८ )

श्रद्धामुपासनविधिं च समेत्य लोके

धर्मान्तरं प्रचलतीति न संशयोऽत्र ।

श्रेयस्करो विजयते परमेष 'हिन्दू-

धर्मो' विमुक्तिमुपहर्तुमशेषपुंसाम् ॥

( ५९ )

प्रत्यक्षजीवनमिदं सुकृतं नराणा-

मित्याकलय्य तु पुरा प्रथितो ध्वजोऽस्य ।

धर्मं प्रवर्तयितुमेव पुनर्जगत्या-

मेतं सनातनमयं स्फुरतीव देशः ॥

( ६० )

आत्मानमेव सकलोपरि राजमानं

द्रष्टुं समभ्युदयमेत्यधुनैव देशः ।

शक्त्या व्यवस्यति परन्त्वपनेतुमन्तः-

क्लेशानशेषजनजीवनतापहेतून् ॥

( ६१ )

बाधिष्यते न च कदाप्यसमर्थदेशान्

अन्यान् स्वविक्रम् समुन्मिषितावलेपात् ।

उद्धर्तुमेव सकलानपि शोकशङ्कून्

सर्वात्मना प्रयतिता दलिताशयानाम् ॥



( ६२ )

धर्माभूतं सपदि पाययितुं नराणौ  
 निःश्रेयसाय विषमापनयान्नियन्तुम् ।  
 देशोऽयमुन्ननिमुपैति मनुष्यतायाः  
 कल्याणमाकलयितुं परमार्थबुद्ध्या ॥

( ६३ )

अर्थेषु चिज्जडमयेष्वखिलेषु शश्वद्  
 व्याप्नोति वह्निरिव दारुषु सर्वशक्तिः ।  
 सर्वत्र तिष्ठति परात्पर एव देव-  
 इत्यादिशक्त्यनुपदं मनुजान् स्वधर्मः ॥

( ६४ )

आत्मन्यवस्थितमधीश्वरमेतमेव  
 सर्वोऽवलोकयतु सर्वजगन्निवासम् ।  
 येनाद्रियेत परमेश्वरमन्दिरं तन्  
 मत्वा समस्तजनजातमजातदोषः ॥

( ६५ )

कुर्वे समस्तमपि कृत्यमहं परेशो  
 नह्वं न चान्यपुरुषः कुरुषेऽत्रकिञ्चित् ।  
 इत्यादिदेश भगवान् मयि सानुकम्पो  
 मां हातुमेव निखिलाकुलतां मनस्तः ॥

( ६६ )

अभ्युदगतेष्वपि निरन्तरमन्तराये-  
 ष्वास्थाय कर्मणि मनोऽभिनिवेशमेव ।  
 नैराश्यसान्द्रतिमिरावृतदृष्टिशक्ति-  
 रप्यादधीत धृतिमात्मनि जागरूकः ॥

( ६७ )

हेयं भयं स्वमनसो विकलत्वहेतु  
 त्याज्यो विनाशपिशुनोऽखिलसंशयो द्राग् ।  
 नास्त्येव किञ्चिदपि कष्टमजेयमत्र  
 नासम्भवं किमपि तिष्ठति कर्मठस्य ॥

( ६८ )

नारायणः स्वयमहं निवसामि देशे  
 राष्ट्रोदयाय सकलानहमेव युञ्जे ।  
 सर्वं भवत्यनुपदं परमेच्छया मे  
 नान्योऽवरोद्धुमिह किञ्चिदपि क्षमेत ॥



( ६९ )

भूयोऽपि मां स भगवानवदीद् यदद्य  
धर्मं सनातनमहं पुनरुन्नयामि ।  
सन्तोऽवतारिपुरुषा निजजीवनेन  
सिञ्चन्ति यं त्वमृतगर्मफलानि लब्धुम् ॥

( ७० )

धर्मोऽयमेव सकले जगति प्ररूढं  
सान्द्रान्धकारमपनेष्यति दिव्यभासा ।  
ईशप्रतीतिमथ सर्वजनेषु मैत्री-  
मुदभावयिष्यति भुवोऽभ्युदयाय शीघ्रम् ॥

( ७१ )

धर्मेण जीवति सदैव विशेषदेशो  
धर्माय सर्वमति सोढुममिप्रवृत्तः ।  
देशोदयेन सह पूर्णतयेक्यमाप्तो  
धर्मोदयो भवति—नात्र विचारणास्ति ॥

( ७२ )

राष्ट्रोन्नति भुवि सनातनधर्मवृद्धि-  
मन्योन्यमिश्रणवशात् परिकल्प्य लोकः ।  
पर्यायमेव मनुते यदि तर्हि सत्यं-  
सत्यावलोकललितां दृशमाससाद ॥

( ७३ )

संक्षालयन्ति चरणं सततं समुद्रा  
यस्या भुवस्तिष्ठेषु दिक्षु लसत्तरङ्गाः ।  
आभासते हिमगिरिदिशि चोत्तरस्यां  
दिव्यालयस्त्रिदशवन्दितदेवतात्मा ॥

( ७४ )

अत्रादितः सुचरितार्जितपुण्यकीर्त्ति-  
रार्यो जनो वसति भूमिसुतोऽभिवन्द्यः ।  
तामायंजातिमभिरक्षितुमेष धर्मो  
दत्तो मयैव जगदभ्युदयाय कामम् ॥

( ७५ )

जातेन चात्र मनुजेन समर्चितोऽपि  
ख्यातो गुणेन तु सनातनविश्वधर्मः ।  
सर्वत्र सञ्चरति मानवताहिताय  
येनातिपावनतमो विगतव्यलीकः ॥



( ७६ )

आरम्भतः प्रभृति भौतिकवादतत्त्व-  
माविष्कृतं नवविचारककल्पनाच्च ।  
स्वीकृत्य सम्यगवधारणया विवेका-  
दध्यात्मभावमभिनन्दति देश एषः ॥

( ७७ )

सम्यग् विचिन्त्य विनिवेदितमस्ति 'जीवो  
ब्रह्मैव नापर' इति श्रुतिङ्गिण्डमोऽस्ति ।  
तत्कर्मणापि तदुपासनयापि तत्त्व-  
ज्ञानेन चाप्यधिकरोति पुमान् परेशम् ॥

( ७८ )

मृत्योरलंघ्यमनुशासनमाशु जित्वा  
लोकोत्तरममरतां जनंताधि कुर्यात् ।  
विश्वप्रपञ्चचरचनाभिनये नियुक्ता  
स्वां भूमिकामभिनयेदिति धर्मशिक्षा ॥

( ७९ )

राष्ट्रं स्वधर्मं इति भिन्नतयाप्यभिन्नः  
पर्यायमेव सुधियः प्रतिपादयन्ति ।  
एकस्य जागरणमन्यविबोधमेव  
ध्यायन्ति धीरमतयो यतयोऽन्तरङ्गे ॥

( ८० )

कारागृहं निवसता परमेश्वरस्य  
सन्देश एव कथितोऽथ भया भवद्भ्यः ।  
श्रद्धा परेशपदयोः समुपासना च  
ख्याता विदां सदसि राष्ट्रियता, न नीतिः ॥

( ८१ )

वैदेशिकेन खलशासननायकेन  
संप्रेरिता यवनजातिसभाऽतिवक्रा ।  
धृत्वा दुराग्रहमखण्डमिदं स्वराष्ट्रं  
खण्डं चकार नितरामविचारमूलम् ॥

( ८२ )

एतत् पुरा शकलितं विपुलं स्वराष्ट्रं  
भूयोऽप्यखण्डमचिराद् भवतीति भवात् ।  
योगीश्वरोऽयमखिलेश्वर पादपद्म—  
मभ्यार्थयत् स्वजनुषोऽन्तिमवासरेषु ॥



( ८३ )

दुर्नीतिदुष्फलरसं परिपीय मत्तो  
 लोकः स्वबन्धुभिरलं कलहायमानः ।  
 शक्तिक्षयं परमुखेक्षणमेव कुर्वन्  
 स्वातन्त्र्यरत्नमपि निक्षिपतीव धूल्याम् ॥

( ८४ )

स्वाभाविकेतरममान्यमिमं विभागं  
 देशस्य सत्वरमपास्य विरोधमूलम् ।  
 भूयोऽपि भारतमिदं क्रियतामखण्ड-  
 मार्योचितचरणचर्चितचारुवृत्त्या ॥

( ८५ )

इत्यादिवस्तुविशदं सुविचारपूर्णं  
 स्वातन्त्र्यजन्मदिवसे निजराजधान्याम् ।  
 व्याख्यानमुत्तममदाज्जनताहिताय  
 स्वाभीष्टलाभमुदितो यमिनामुपास्यः ॥

( ८६ )

पाश्चात्यसंस्कृतिसमादृतमानसोऽपि  
 पौरस्त्यधर्मपरिपालनबद्धकक्ष्यः ।  
 यो राजनीतिगगने तपनायमानो-  
 ऽप्यध्यात्मतत्त्वपरिशीलनक्तनरक्तचित्तः ॥

( ८७ )

दिव्येन सौरभभरेण दिगन्तलक्ष्मी-  
 मामोदयन्, प्रमदयैश्च सुधीन्द्रभृङ्गम् ।  
 उल्लासयन्तुलभारतभव्यभालं  
 कीर्त्तिश्रिया विजयते भुवनेऽरविन्दः ॥

( ८८ )

व्याख्यातुमुत्तमतया मनुजस्वरूपं  
 लोकोत्तरप्रणयमुज्ज्वलमुक्तिहेतु ।  
 यो निर्मलप्रतिभया ललितार्थबन्धं  
 सन्धाय बन्धुरतमं व्यदधात् सुकाव्यम्<sup>१</sup> ॥

( ८९ )

शब्दार्थगुम्फपरिकल्पितदिव्यदाम्नि  
 निःष्यन्दमाप्तमधुविन्दुमुपादानः ।  
 अत्यन्तशस्तमपि काव्यरहस्यवस्तु  
 कोऽन्योऽप्येन्मधुकराद् रसिकब्रजाथ ॥

१. 'सावित्री' नामकमांगलभाषया निबद्धं महाकाव्यम् ।



( ९० )

यो जन्मना वसुकुलं विदधे समृद्धं  
 पुतं स्वदेशमपि पूततम चकार :  
 लोकप्रशसनकलामपि निर्विकारा-  
 मात्मानुशासनविधामनुतिष्ठतिस्म ॥

( ९१ )

धर्मानुशोऽप्यखिलधार्मिकसंधुधुर्यो  
 योगीश्वरोऽपि सततार्जितलोकयोगः ।  
 भोगस्पृहाविरहितोऽपि पि नितान्तरक्तो  
 भोगीन्द्रतल्पचरणे शरणायमाने ॥

( ९२ )

योगीश्वरस्य जननेन समृद्धिमाप्तं  
 स्वातन्त्र्यजन्मदिनमेव तु भारतस्य ।  
 विश्वस्य सान्द्रतिमिरक्षपणाय दिव्य-  
 ज्योतिः प्रसारयतु सर्वसुखैकबीजम् ॥

( ९३ )

विद्या विवर्धयतु बुद्धि, मलभ्यलाभं  
 सम्पादयत्वतितरां मनसोऽथ योगः ।  
 क्रीडा शरीरबला, मात्मजयं, तितिक्षां,  
 स्फूर्तिं, धृति, समुदयं च तनोतु यूनाम् ॥

( ९४ )

स्वातन्त्र्ययुद्धविजयेन तु भारतश्री-  
 द्वीपान्तरेऽप्युपनयेत् प्रसभं प्रबोधम् ।  
 रिक्तं सनातनमशेषजनैकसेव्य-  
 मापं प्रकाशयतु विश्वमुदारदीप्त्या ॥

( ९५ )

आविष्क्रियाप्रणयिनोऽभिनवैः पदार्थैः  
 प्रासश्रियोऽपि जगतः सुखशान्तिमूलम् ।  
 अध्यात्मरत्नमचिरेण वितीर्य सम्यग्-  
 ग्रहापि शिक्षयितुमर्हति राष्ट्रमेतत् ॥

( ९६ )

इत्येवमिद्वर्गुणधर्मविवेकरत्न-  
 मालां निधाय जगतो रमणीयकण्ठे ।  
 शोभासमृद्धिमिह मानवतैकलक्ष्म्याः  
 सर्वात्मना सततमुन्नमयाञ्चकार ॥

( ९७ )

अध्यात्मकल्पतरुकल्पितमालबालं  
धर्माभूतेन परिपूर्णं यतीश्वरोऽयम् ।  
संशालयन् मलमशेषमनल्पपुंसां  
स्वजीवनं परमपावनमुत्ससर्ज ॥

( ९८ )

उच्चैः स्थितापि विबुधावलिबन्दितापि  
द्वौर्लजितापि यदि केवल भोगभूमिः ।  
तत्कर्मधर्मपरिपालनबन्धुरायाः  
पूजां करिष्यति कथं न वसुन्धरायाः ? ॥

( ९९ )

एतादृशां सुमनसां मकरन्दभाजा-  
मङ्ग्ले चिरं निवसतां तनयोत्तमानाम् ।  
दिव्यप्रभासपनतोऽमलकान्तिरेखा  
लेखार्चिता जयति भारतभूमिरेषा ॥

( १०० )

अत्यन्तचञ्चलमनो विनियन्तुमद्धा  
श्रद्धाभरेण सततं सुकृतं विधातुम् ।  
संकल्पमुज्ज्वलयितुं जनताहितानां  
तीर्थस्थली जयति काचन पाण्डिचेरी ॥

( १०१ )

आमोदिता दश, दिशो, मधुपा दिगन्ताद्  
आमन्त्रिताः सरसि कापि कृता समृद्धिः ।  
वाचालितं द्विजकुलं, मुदितां मरालः  
संप्रापितोऽत्रभवता भवताऽरविन्द ॥

( १०२ )

राजन्तु कोमलदलानि दृशोऽमृतानि  
सौरभ्यभव्यभवनानि सुमानि लोके ।  
उद्बोधितं भुवि सहस्रकरेण किन्तु  
कोपं मरन्दसुरभेररविन्दमीडे ॥

( १०३ )

अध्यात्मरागमथ धर्मरति विभर्तुं  
वैज्ञानिके पथि चरन्नापि देश एषः ।  
बन्धुत्वमेतु जनता, कलहोऽपयातु  
धान्यं, धनं, सुचरितं च विवर्धतां नः ॥



( १०४ )

विद्यार्थिनां मनसि सुस्थितिमेतु शान्ति-  
 देशप्रशासनमतीव पवित्रमस्तु ।  
 कल्याणमुल्लसतु विश्वजनाय शश्वद्  
 ऐश्वर्यमुद्भवतु भारतवर्षराष्ट्रे ॥

( १०५ )

निःसारभूतमपि पर्युषितं च भूयः  
 पुण्यात्मनां सुचरितेन पवित्रिताङ्गम् ।  
 एतच्चतुर्थशतकं रसिकावलीनां  
 संजायतां मनसि मङ्गलवृद्धिहेतु ॥

( १०६ )

कापि प्रशस्तकविमण्डलमण्डनीय-  
 वृत्ताधुना विजयते 'कविभारती'ह ।  
 तत्किङ्करस्य रतिनाथकवे रुदारा—  
 येतां गिरं सहृदयाः श्रुतिभिः पिबन्तु ॥

( १०७ )

काव्योचितेन रमणीयगुणेन हीन—  
 मप्येदस्तु भवतां प्रमदाय कामम् ।  
 सामान्यमप्यभिनवं भुवि वस्तु जातं  
 चेतोवतां मनसि कौतुकमातनोति ॥





बाल्यावस्था में श्री अरविन्द मैनचेस्टर (इंग्लैण्ड) में श्री एवं श्रीमती ड्रैवेट्स के  
संरक्षण में उन्हीं के घर में रहकर अध्ययन में रत ।







## SRI AUROBINDO : AN INTRODUCTION

Arabinda Basu,

*Visiting Professor, Sri Aurobindo Chair, Deptt. of Philosophy, B. H. U.*

The birth centenary of Sri Aurobindo this year has served to draw the attention of people, who were previously either not interested in his personality, activities or literary works, to make an attempt to know something about him. The reason why there has not been much interest in him is that he was not in the public eye for forty years. Even his books were not published till quite a few years after they were written. For example, his prose magnum opus, '*The Life Divine*' was finished in 1921 in the pages of the '*Arya*' but did not see the light of the day as a book till the end of 1939. And this is a book which was hailed by Sir Francis Young Husband, the famous explorer and diplomat and founder of the World Congress of Peace, as the greatest book produced in our times. '*The Times*' literary supplement in a front-page article on Sir Aurobindo hailed him as a new type of thinker who combined the wisdom of the East with the alacrity of the West, wrote with the constellations as his companions and the sky for a page, and his writings created wide circles of peace. Prof. Wilson Knight, one of the greatest contemporary authorities on Shakespeare, once wrote to the present writer in a letter that he found '*The Life Divine*' one of the greatest and most profound books in Philosophy of Religion and that he had derived great benefit from it.

Sri Aurobindo has now been accepted by many competent writers on Philosophy as a great Philosopher. But he read very little academic and technical philosophy. Indeed, he has himself said that he was never, never, never a philosopher, though he had written on philosophy. In fact, he might not have written any philosophy except for the fact that a French gentleman proposed to him that they should collaborate in founding and conducting a philosophical review the task of which would be to synthesise all knowledge. And, said Sri Aurobindo, since his theory was that a yogi should be able to try his hand at anything, he accepted the proposal of the French gentleman. The result was the review '*Arya*', which was a monthly magazine in which Sri Aurobindo wrote all his main works, not one after the other, but simultaneously. He was publishing '*The Life Divine*', '*The Synthesis of Yoga*', '*The Secret of the Veda*', '*The Essays on Gita*', '*Isha Upanishad*', occasional articles, brief book reviews, questions and answers, and comments, in the first couple of years of '*The Life Divine*'. Later, the



'*Psychology of Social Development*' (now published as '*The Human Cycle*'), '*The Ideal of Human Unity*', '*The Future Poetry*', '*A Defence of Indian Culture*' and '*A Rationalist Critique of Indian Culture*' (now jointly published under the title '*The Foundations of Indian Culture*'), were added to the list. Besides, when books were sent to him for reviews, his estimations of the volumes would themselves grow into books. Thus were written '*A Defence of Indian Culture*', which was review of Sir John Woodroffe's, '*Is India Civilized?*', '*The Future Poetry*', which was a review of James Cousins's '*New Pathways in English Literature*', '*Heracitus*', which was a review of the same name by the late lamented Prof. R. D. Ranade. All these years he was writing a considerable amount of poetry in English and also '*Sāvitri*' a legend and a symbol, the longest epic of the English language, an astounding poem which spans the whole gamut of human experience. All of these books have now been published. A great deal of unpublished material is still there waiting to be presented to the public.

What is the secret of this amazing intellectual and poetic activity, is it merely a great genius pouring out his thoughts and imagination in metaphysics, spiritual psychology, sociology, philosophy of history, exegies of Indian Scriptures etc., or is there something behind all these works a power which is more than human?

Sri Aurobindo started yoga in 1904 with the idea of gaining power which could be utilized to gain freedom for his enslaved motherland, which to him was a living Goddess. His political career—he was described by Dr. Pattabhi Sitaramaiyyah as a extremely brilliant meteor in the political firmament of India lasted only about six years. But it brought a new note in the political consciousness of the Indian people, a freshness of outlook, an undaunted courage, a practical programme, a new optimism, an overwhelming passion these were Sri Aurobindo's contributions. His political purpose was two fold : first, he wanted to create a revolutionary spirit among the Indian People and also to prepare them for an armed revolt against the foreign rulers, if necessary; secondly to create condition for a movement of passive resistance to and non-cooperation with the administration. For the furtherance of the first, he became closely associated with many secret societies in different parts of India and tried to coordinate their activities. He did not have much faith in mere terroristic acts, though he was not blind to the possibility of the occurrence of such acts. Even these had this good point about them that they were the results of a new kind of courage and commitments on part of many youngmen.

Sri Aurobindo was the first political leader who declared complete independence as the goal of the Indian Nationalist Movement. He



condemned the politics of prayers and petitions of the moderates and said that nothing short of complete independence should be the aim of his countrymen. He suffered for his political convictions and work. He was prosecuted twice and was an under trial prisoner for a year on suspicion of being implicated in the famous Alipur Bomb case. But on both the occasions he was acquitted for lack of evidence. The three journals, '*Bande Mataram*', '*Karma Yogin*' and '*Dharma*', the first two in English and the last in Bengali, spread the fire of Nationalism through out the country and Sri Aurobindo's outlook on the basic questions of life, his political philosophy and his vision of the destiny of India in the comity of nations were formulated in essays of unsurpassed power and elegance.

But the developing spiritual life as a result of the practice of yoga began to assume greater importance. Towards the end of 1907 Sri Aurobindo met a Maharashtrian Yogi called Lele. This yogi, asked to give some suggestions, told Sri Aurobindo to look at thoughts coming from the atmosphere and entering into the mind and filing them back outside. Sri Aurobindo tried the discipline and to his amazement found that thoughts did really come into the mind from outside and successfully prevented them from getting an entry into his mental consciousness. In three days, indeed in one, he achieved what he himself described as the silent Mind, mind in which there was no thought, no movement of mental activity at all. There was a direct and concrete experience of something, nameless and formless, aloof, detached from everything in the physical world. Sri Aurobindo felt that this was the only Reality which did not admit the reality of anything else. The world seemed to be nothing but 'materialised shadows' as Sri Aurobindo put it. This Silent Mind never left Sri Aurobindo in his life. This was the first great and basic experience that Sri Aurobindo had.

When he was in Jail from 1908 to 1909, Sri Aurobindo had another great experience and realisation. This was the immediate knowledge of Vāsudeva, the Omnipresent Cosmic Reality. The warder of the jail who kept watch on the bars of his cell, the blanket which served him as a couch, the food, the utensils, other accused persons who were in the same jail dacoits and robbers and people accused of committing murders, everything and everyone was concretely seen and experienced as Vāsudeva. The transcendent that was now experienced as the Cosmic Divine. Sri Aurobindo had also the experience of the will and power of work descending from above, of God into his silent mind in which there was, as he himself wrote to me once, complete *citta vritti nirodha*, utter restriction of all mental modes. Since then all his actions were merely outpourings of the S'akti of the Divine.



Any of these realizations would have been a crowning achievement for most yogis. But for Sri Aurobindo these were only the basis of his own yoga. He retired to Pondicherry in 1910, because he had a direct divine command, an *Ādēṣa* to proceed to Chandranagore and then to Pondicherry. In Pondicherry Sri Aurobindo started developing his own Integral Yoga. This comprehensive Yoga does not only aim at synthesizing all the current yogas but at preparing human consciousness and nature for a new evolution for a reaching out to Knowledge and Will and Enjoyment, not mental, but Supramental. When we say 'mental' we imply not only mind as we mean ordinarily but mind touched, influenced and suffused by knowledge, power, joy coming down from the spirit. Sri Aurobindo calls this mind the 'Spiritualized Mind'. It is through the medium of this spiritualized mind that human soul has the experience and realization of the Truth in one aspect or the other. Because of this there is difference between mystical experiences, philosophies based on them, religious perceptions and the goal of life resulting from them. Sri Aurobindo's Yoga proposes to raise the human soul from the level of the spiritual mind to that of the Supermind. This is a level of consciousness in which there is perfect and integral knowledge and invincible will and perfect and shadowless bliss. It is, says Sri Aurobindo, "The Divine's own knowledge of himself and his own native power of acting." This is the true principle of synthesis of all the Yogas. For, in the integral Yoga of Sri Aurobindo, neither knowledge nor devotion, nor works is outside the scope of spiritual discipline and fulfilment.

In Sri Aurobindo's view, the Divine is *Saccidānanda*, though he does not understand this term exactly as it is interpreted in the schools of Vedānta. He accepts the Buddhist experience of 'Sunya' or 'Asat' as genuine. 'Asat' is only a negative description of the Vedantic Parabrahman, and not a nullity. It is the omnipresent Reality conceived and experienced as utterly Transcendent, transcendent not only of the cosmos but also of Self, of Being. *Cit* in *Saccidānanda* is *cit-śakti*, Consciousness force. The first function of consciousness-force is, as it were, turn upon itself and to know itself as identical with Being and this is Ananda or Bliss. The resulting knowledge is the supermind. It is not the Brahman and yet there is no limitation of being, consciousness and bliss in it, Sri Aurobindo says that there is in the Divine an uncreative self awareness but there is also a creative self knowledge and the latter is the Supermind. It is in the Supermind that the idea of the Universe to be is inherent, so also the law and the process of the manifestation of the universe are potential in the Divine. One of the powers of God is that of self limitation and creation is from one



point of view a concealing of the Absolute, from another it is unfolding. The Supermind is, indeed, the original seed of the universe. We should not understand by this that Brahman is not the original cause of the universe. Perhaps, it will be better to say that Brahman as Supermind is the seed of the Universe.

The progressive self concealing of the Supermind is also described as 'descent of consciousness'. The stages of this descent are 'Overmind', 'Mind', 'Life' and 'Matter'. 'Overmind' is in direct touch with the 'Supermind' and is that level of consciousness where there is a global view of all creation. The 'Overmind' looks upon the creation as an organic whole. But it also does concentration and brings out certain lines of development of consciousness, ignoring its other movement. This is the beginning of Ignorance which Sri Aurobindo describes as the result of exclusive concentration. Ignorance for him is not diametrically opposed to knowledge but knowledge partly or perhaps very nearly completely concealed. Mind is the seat of Ignorance because Mind is the level of consciousness which supports, divides and makes everything very discrete. And yet, there is in the Mind a tendency towards unification. Consciousness descends from the level of Mind to Life in which it becomes sub-conscious, insensitive, impulsive. Life is force creating material force. It is also the impulse behind desire, ambition and self-aggrandisement. The next stage in the ladder of descent is Matter in which consciousness becomes completely hidden and unity is a Chimera.

However, even in the heart of Matter consciousness is essentially present and in one aspect is aware of itself. It is the Supermind which maintains Matter in its stability, moves life to its activities, inspires mind to shake off ignorance and result out for knowledge. The descens or involution of consciousness is followed by the ascent or evolution of consciousness. Evolution is nothing but bringing out into the open which is already concealed. What is evolving is the Supramental Divine and its instruments of powers. Evolution has brought about on the earth scene. Mind is capable of seeking the soul and God when it purifies itself, makes itself calm and silent, it can receive knowledge power bliss of the spirit into it. But Mind is incapable of knowing all the aspects of the Truth simultaneously and integrally. The Reality has got many aspects, it is Transcendental, universal and individual; spirit, Mind, Life and Matter. To know and experience and realize the Divine in all these aspects is not possible if one does not evolve beyond mind to some other level of consciousness which contains this knowledge inherent in it. This level of consciousness is the 'Supermind'.



Sri Aurobindo envisages the realisation of unity as it is exemplified in a tree with all its branches, twigs and leaves and flowers or in the sea with all its endless weaves. The Vision and the experience that the Integral Yoga of Sri Aurobindo seeks is that of the unity which is then seen fully in everything; nothing is seen except as the Divine. It is only possible for the Supramental consciousness to have this vision.

Since the 'Supermind' is not only knowledge but also will and active force, its vision of perfect unity and harmony of all things will bring about a redical change in things which are the results of the sense of separation and vision. The Mind will, then, become a profound receiver and reflection of the Truth within and life will become a perfect flow of consciousness-force. Even the consciousness in living matter will become capable not only of aspiring after, but also of knowing the Divine as its inner Reality and Divine Power. As Sri Aurobindo puts it in his epic the '*Sāvilri*', "*Even the body will remember God.*"

---





लगभग १८७९ में लन्दन में कै० डी० घोष (मध्य में खड़े हुए) और  
उनका परिवार । दाहिने खड़े विनय भूषण, बाँए—मनमोहन और मध्य  
में बठीं स्वर्णलता, गोद में सरोजिनी तथा बाँए श्री अरविन्द ।







## श्री अरविन्द की मानव विषयक विकासवादी धारणा

डॉ० शिवप्रसाद सिंह,

रीडर, हिन्दी विभाग, का० हि० वि० वि०

यह सत्य है कि आधुनिक दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में प्रत्यक्षवाद ( पॉजिटिविज्म ) और अस्तित्ववाद ( एक्सिस्टेंशियलिज्म ) के रूप में परम्परा का विरोध महत्वपूर्ण वस्तु है, किन्तु इसी के साथ इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि मानव अस्तित्व विषयक इन धारणाओं ने मनुष्य के मूल्य को बहुत ज्यादा घटाया है। जब सात्रं ने कहा था कि आदमी एक व्यर्थ का इन्द्रियबोध मात्र है तो वे वस्तुतः नंगे और बेहोश सत्य को पाने या कहने का प्रयत्न कर रहे थे। अब तक सभी जीवित धर्मों ने मनुष्य के अस्तित्व को गौरवपूर्ण बताने का प्रयत्न किया है। प्राचीन भारतीय दार्शनिक ने जब कहा था—“न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरो हि कश्चित्”, तब वह यही कार्य कर रहा था। बाइबिल में मनुष्य को सिर्फ ईश्वर से घट कर बताया गया है। हो सकता है कि इन अतिवादी गौरवीकरण की प्रतिक्रिया में उपर्युक्त बातें पैदा हुईं।

ये दार्शनिक आन्दोलन—यानी प्रत्यक्षवाद और अस्तित्ववाद सम्बन्धी मनुष्य की व्यक्तिगत गरिमा की रक्षा के उद्देश्य से परिचालित हुए क्योंकि ये मानते थे कि यदि पूरे विश्व को किसी निरपेक्ष सत्ता का परिणाम और प्रसार मान लिया जाय, तो व्यक्ति की समुच्चो विशिष्टता ही खत्म हो जाती है। इसलिए निरपेक्ष आदर्शवाद के खिलाफ विरोध का उठना स्वाभाविक था, किन्तु इस प्रक्रिया में मनुष्य के सार्वभौम मूल्य खतरे में पड़ गये। कवि वर्न्स ने इस स्थिति को अपनी शोक कविता में इस तरह व्यक्त किया :

“आह ईश्वर आदमी क्या है ?  
वह कैसा सीधा सा लगता है  
लगातार हथकंडों के बल पर  
बढ़ने की कोशिश करता है  
गहराई और छिछलेपन के साथ देवता है  
पर वहां कलमषता भी अकेली है  
सब कुछ मिला कर :  
वह शैतान के लिए भी भारी पहेली है ।”

वह जमाता गया, जब प्रोतोगोरस ने कहा था कि आदमी ही हर वस्तु के निर्णय का मानडण्ड है। शायद ही कोई फ्रांसिस बार्लै के इस कथन पर ध्यान दे कि आदमी सृष्टि की सर्वोत्तम रचना है। प्रत्येक व्यक्ति जॉन रस्किन के इस गूढ़ कथन से आश्चर्यचकित होगा कि आदमी “हाथहीन जहरीला मकड़ा है जो डंक मार सकता है, खून चूम सकता है, किन्तु कुछ भी बुन नहीं सकता।” काफ़का के आश्चर्यजगत् में आ कर आदमी तिलचट्टे में बदल गया।



सिर्फ ये ही लोग नहीं जिन्हें हो सकता है कि पश्चिम के 'क्रुद्ध नवयुवक' कह कर टाल दिया जाय बल्कि अनेक गम्भीर और शान्त मन के दार्शनिक और समाजशास्त्री भी मनुष्य की आधुनिक संज्ञा से बहुत परेशान हैं। लीविस ममफोर्ड वैश्विक परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के रूपान्तर की समस्या पर विचार करते हुए कहते हैं—“हम आज नये युग के कगार पर खड़े हैं, एक ऐसे खुले हुए विश्व के नये युग के कगार पर, जो अनेक दिशाओं में अपनी भूमिका निभा सकता है। नवीनता का यह युग जहाँ श्रम और विश्राम, अध्ययन और प्रणय जीवन की प्रत्येक स्थिति के लिए समन्वित ढंग से एक ऐसे आधार को जन्म दे सकते हैं जो पूरे मानव जीवन के लिए सुखद त्रिपादिका का कार्य करेगी। पुरातन मनुष्य, सम्य मनुष्य, मशीनो सम्यता से उत्पन्न मनुष्य ने मानवीय क्षमताओं को अंशतः ही उपलब्ध किया है, और यद्यपि उनके द्वारा उपलब्ध वस्तु अब भी बहुत कुछ टिकाऊ और उपयोगी है जिसे आधार बना कर मनुष्य का अग्रिम विकास हो सकता है, किन्तु उसकी भ्रष्टप्राय संस्कृति की टूटी हुई ईंटों की राशि से हमें आगामी विश्व संस्कृति के लिए कोई भी काम लायक चीज नहीं मिल सकती।” इन सारे प्रत्यवायों के बावजूद ममफोर्ड मानते हैं कि “मनुष्य के आत्मिक रूपान्तर के आगामी चरण में विश्व संस्कृति एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति को उत्पन्न करेगी जो मनुष्य की अज्ञात क्षमताओं को प्रत्यक्ष करेगी, जो आज मनुष्य में उसी प्रकार अदृष्ट हैं जैसे शताब्दों पूर्व भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में रेडियम अदृष्ट रहा।”<sup>२</sup>

विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक और समाजशास्त्री पितिरिम सोरोकिन ने अपनी विचारोत्तेजक पुस्तक में आधुनिक संकट का निदान करते हुए लिखा है कि “अनुबन्धात्मक समाज का भ्रंश रोका जा सकता है अथवा उसके ढहते हुए ढाँचे की मरम्मत की जा सकती है, व्यर्थ की बकवास है।”<sup>३</sup> अपने चिन्तन के दौरान सोरोकिन को कुछ-कुछ आशा एक ऐसी विचार पद्धति में दिखती है जिसे वे ‘परापेक्षावाद’ ( Altruism ) कहते हैं यानि दूसरों के प्रति सम्मान और सहअस्तित्व की भावना। यह परापेक्षावादो सिद्धान्त ईसाई धर्म का ही प्रकारान्तर विकास कहा जा सकता है। श्री अरविन्द इस सिद्धान्त की कमजोरियों से पूर्णतः नाकाम थे। इसीलिए उन्होंने कहा—“परापेक्षावाद आदमी के लिए अच्छी वस्तु है, पर यह तब काफी कम उपयोगी हो जाती है जब सर्वोच्च आत्मरति का रूप लेती है, अथवा दूसरों को स्वार्थपरता की हिमायत करने लगता है।”<sup>४</sup>

श्री अरविन्द का उद्देश्य आज की मनुष्यता के सम्मुख उत्पन्न समस्याओं का बनाया समाधान ढूँढ़ना नहीं था, वे अद्वितीय कोटि के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने मनुष्य-अस्तित्व के आधुनिक संकट के मूल कारणों के अन्वेषण का प्रयत्न किया और इसी प्रक्रिया में उन्होंने विकासशील मनुष्य की धारणा की तथा उसकी भविष्यत् क्षमताओं को उपलब्ध की।

श्री अरविन्द का विकासशील मनुष्य डार्विन की प्रतिकृति नहीं है। डार्विन ने क्या दिया? विल ह्यूरेट के शब्दों में—“अचानक विश्व रक्तिम हो गया और प्रकृति जो पतझड़

१. लीविस ममफोर्ड : ट्रांसफार्मेशन ऑव मैन, पृ० १६१।

२. वही, पृष्ठ १९२।

३. पितिरिम सोरोकिन : क्राइसिस ऑव आवर एज, पृष्ठ २०३।

४. श्री अरविन्द : थाट्स एण्ड एफारिज्म्स, पृष्ठ ५६।



1972 ]

श्री अरविन्द की मानव विषयक विकासवादी धारणा

25

के मौसम में झूबते सूरज की अरुणाई में बहुत सुहानी और खूबसूरत लगती थी, संघर्षों और खूनखराबे का अखाड़ा बन गयी। जहाँ जीवन आकस्मिक घटना बन गया और मृत्यु अवश्यमावी नियति। प्रकृति प्राकृतिक चुनाव बन गयी, जहाँ सभी अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्षरत दिखाई पड़े।<sup>१</sup> तो क्या यह डार्विन की गलती थी, या इसके पीछे कोई अभिप्राय था? विलकुल नहीं, डार्विन ने अपनी वैज्ञानिक परिदृष्टि से जो कुछ देखा उसे ही उन्होंने निरुद्धेग भाव से हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया। यह सही है कि जहाँ कोपर्निकस ने पृथ्वी को घुलते बादलों के बीच एक क्षुद्र धब्बे में बदल दिया, डार्विन ने मनुष्य को पशु में बदल दिया जो पृथ्वी पर अधिकार करने की क्षुद्र लिप्सा से लड़ता रहता है, पर शायद ही कोई यह कह सके कि डार्विन ने अपनी विचारधारा को उपस्थित करने में गैर-ईमानदारी का परिचय दिया। उसके विचार इतने धक्कामार थे कि जे० के० चेस्टरटन ने व्यंग्यपूर्वक कहा—“ये विकासवादी लगता है कि विकास प्रक्रिया की खंडित श्रृंखला के बारे में सब कुछ जान गये हैं सिर्फ इतना छोड़ कर कि यह श्रृंखला खंडित है।” यह सही है कि डार्विन ने मनुष्य को ईश्वरीय पुत्र के स्थान पर अपनी सुरक्षा के लिए निरन्तर लड़ते रहने वाले जानवर का रूप दे दिया। अनेक लोगों को पशुओं की पंक्ति में रखने जाने में आपत्ति हुई। वेन्जामिन डिजरायली ने १८६४ में ऑक्सफोर्ड के जिला पादरी सम्मेलन में कहा कि प्रश्न यह है कि आदमी बनमानुष है या फरिशता। हे भगवान् ! जो हो, मैं तो अपने को फरिश्तों की पांत में ही रखने के पक्ष में हूँ।

श्री अरविन्द ने कभी भी इस या उस पक्ष में होने की कोशिश नहीं की, क्योंकि वे इतने शक्तिवान् थे कि वे डार्विन के सिद्धान्तों की मूल स्थापना को ही प्रश्नाहत कर सकते थे। उन्होंने स्वीकार किया है कि विकास की दो विचार सरणियाँ मानी जा सकती हैं। प्राचीन विकासवादी धारणा अन्तःसंबोधिज्ञान की देन थी जब कि आधुनिक विकासवादी धारणा वैज्ञानिक परीक्षण और निरीक्षण की देन है। प्रत्येक पद्धति में आज वे जिस रूप में उद्घोषित की जाती हैं, कुछ न कुछ छूट जाता है। फिर भी प्राचीन विचारधारा विकासवादी प्रक्रिया को अन्तरात्मा को पकड़ सकी थी जब कि आधुनिक विचारधारा कलेवर और आकार के बाह्य मशीनी रूप को ही पकड़ पाती है। वे वैज्ञानिक विचारधारा का संक्षेपीकरण करते हुए कहते हैं—“वैज्ञानिक यह मानकर सन्तुष्ट हो जाता है कि मूल वस्तु या पदार्थ, आणविक, वैद्युतिक, ईथरिक या चाहे जो भी नाम दे लें, या अन्त में यह जैसा साबित हो अपने अन्तर्भूत के कारण, यह शक्ति इसके भीतर हो या बाहर से कार्य कर रही हो, यद्यपि दोनों एक ही चीजें नहीं हैं, यद्यपि यह अन्तर शुरू में वाहियात जैसा लग सकता है, पर यह दूरगामी परिणाम उत्पन्न करने वाला है, कुछ अध्याख्येय कारणों से निश्चित पद्धति में परिणामों को जन्म देता है।”<sup>२</sup> श्री अरविन्द इस सिद्धान्त के महत्व को स्वीकार करते हैं किन्तु कुछ प्रश्न भी खड़ा करते हैं। इस पदार्थ की वास्तविकता क्या है और इसका मूल स्वभाव क्या है? वह क्या है जो विकसित होता है? यह विकास होता हो क्यों? आधुनिक विचारधारा कुछ दूर

१. विल डूरेण्ट : ग्रेट मैन ऑव लिटरेचर, पृष्ठ ११।

२. श्री अरविन्द : द डेस्टिनी ऑव मैन, पृष्ठ ७।



तक इन प्रश्नों का जवाब देती है, पर इन्हें सुलझाने में असफल है। श्री अरविन्द कहते हैं कि जो निवसित नहीं है वह विकसित नहीं हो सकता (Nothnig Can evolve which is not involved), नासतो विद्यते भावः, यानी जो है नहीं, वह हो नहीं सकता। इसलिए हमें मानना पड़ेगा कि जो विकसित होता है, वह पहले से ही सक्रिय या निष्क्रिय रूप में यहाँ निवर्तित या निवसित था, पर हर हालत में वह भौतिक कलेवर में छिपा होने के कारण हमारे लिए अदृष्ट है। शरीर में प्रकट होने वाली आत्मा शुरू से ही भूतत्त्व में निवसित थी, सम्पूर्ण भौतिक तत्त्व में, उसकी शिरा-शिरा में, रूपाकार में और अणु-अणु में वह विद्यमान है, वह प्राण में, मन में और उसमें जो मन से ऊपर है, अन्तर्निहित है, निष्क्रिय या छिपे हुए रूप में सक्रिय ढंग से वह सम्पूर्ण भौतिक शक्तियों में निवर्तित है।<sup>१</sup> यही श्री अरविन्द के दर्शन की मूल भूमि है। वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि भौतिक तत्त्व से चैतन्य पैदा हो सकता है। यह असम्भव है। हम भौतिक तत्त्व से प्राण की, मन की, उत्पत्ति मानते हैं (परन्तु विकास-प्रक्रिया को वैज्ञानिक ढंग से समझा नहीं सकते) किन्तु विकास का अर्थ ऐसी घटना नहीं है जिसे समझाया ही न जा सके। श्री अरविन्द वेदान्त की इस स्थापना को स्वीकार करते हैं कि प्राण और भौतिक वस्तु में निवर्तित था, मन प्राण में निवर्तित था क्योंकि सार रूप में भौतिक तत्त्व छिपा हुआ प्राण ही है, और प्राण छिपा हुआ चैतन्य है। यही उनके दर्शन की मूल ग्रन्थि है। वे मानते हैं कि मनस् शक्ति या मस्तिष्क के अतिवादी विकास ने ही अनेक समस्याओं को जन्म दिया है और चूँकि अब मानसिक विकास को और अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता, इसलिए अपनी समस्याओं के समाधान के लिए हमें कोई और ही स्रोत ढूँढ़ना पड़ेगा। वह मानते हैं कि बौद्धिकतावाद का युग समाप्त हो चुका है। मनुष्य अपनी समस्याओं को सुलझाने में तब तक सफल नहीं होता, जब तक विकास प्रक्रिया का अगला चरण सामने नहीं आता। वे कहते हैं—“कहा जाता है कि पशु एक जीवित प्रयोगशाला था जिसमें प्रकृति ने मनुष्य तैयार किया, उसी प्रकार मनुष्य स्वयं एक जीवित और सोचने-विचारने वाली प्रयोगशाला है, जहाँ प्रकृति मनुष्य के सचेत सहयोग के द्वारा अतिमानव या देवता निर्मित करना चाहती है।”<sup>२</sup> इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री अरविन्द यह मानते हैं कि अतिमानसिक चैतन्य सत्ता ही इस विकास के भीतर निवर्तित है, छिपी हुई है।

श्री अरविन्द तर्कों की क्षमता और मस्तिष्क की अनन्त सम्भावना को स्वीकार नहीं करते। उनके हिसाब से मानव मस्तिष्क एक बहुत अपूर्ण मशीन है। कोई भी व्यक्ति अतिमानसिक सत्ता को मानसिक शक्ति के द्वारा जान नहीं सकता। वे एक ठोस उदाहरण के द्वारा इस बात को समझाना चाहते हैं। चैतन्य सत्ता के उर्ध्व विकास प्रक्रिया में ही मस्तिष्क निर्मित हुआ है और वही इसका इस्तेमाल भी करती है, न तो मस्तिष्क चेतना पैदा करता है और न तो उसका इस्तेमाल कर सकता है। अनेक असामान्य स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं जिनसे साबित होता है कि हमारे शारीरिक अंग ऐसी चीजें नहीं हैं जिनके बिना काम न चल सके। हृदय का धड़कना जीवन के लिए अपेक्षाकृत अधिक जरूरी नहीं है जितना सांस

१. श्री अरविन्द : द प्रॉब्लेम ऑफ़ रिवर्थ, पृष्ठ २१।

२. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, पृष्ठ ४।



लेना, वैसे ही विचारों के लिए संगठित मस्तिष्कीय अणुओं की जरूरत भी अनिवार्य नहीं है। हमारा भौतिक शरीर संगठन विचार और चेतना को वैसे ही संचालित और व्याख्यायित नहीं कर सकता, जैसे गाड़ीका इंजन भाप या बिजली की शक्ति को नहीं समझ पाता।<sup>१</sup>

श्री अरविन्द का कथन है कि अतिमानसिक सत्ता की ओर अग्रसर होने के लिए मस्तिष्क को निष्क्रिय बना कर सत्य चेतना के अवतरित होते हुए सन्देश के प्रति समर्पित कर देना आवश्यक है। मैं इस विषय के व्योरे में नहीं जाना चाहता, क्योंकि उसका सम्बन्ध उनकी योग-साधना से है। मैं उनके विकासवादी सिद्धान्तों को ही संक्षेप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ। उनकी पहली स्थापना यह है कि सब कुछ एक अतिमानसिक सत्य की अमि-व्यक्ति है। यह शक्ति अपनी स्वभावज विशेषताओं के कारण अपने को पूर्णतः प्रकट करने की प्रक्रिया में व्यस्त है। यहीं विकास का चरमोत्कर्ष भी होगा। वे कहते हैं कि “विकास निवसित या निवर्तमान वस्तु का अन्तर्निहित गुण है। जो निवर्तमान सत्ता की अन्तिम उपलब्धि होती है, वही विकास में सर्वप्रथम प्रस्फुटित होता है और जो उसकी मूल और आरम्भिक अन्तरोपलब्धि है, वही विकास में सबसे अन्त में प्रकट होती है।” इसलिए आदमी को चाहिए कि वह अपनी सत्ता को अतिक्रान्त करके अतिमानसिक स्तर की सूर्य ज्योति को प्राप्त करे क्योंकि वही आज की अन्धकार में मटकती मानवता के लिए एकमात्र समाधान है।

यहाँ श्री अरविन्द एक मनोवैज्ञानिक की तरह चेतना के विभिन्न स्तरों का विश्लेषण और अन्वेषण प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि भौतिक तत्व से प्राण विकसित हुआ, प्राण से मन विकसित हुआ, किन्तु यह मन या मस्तिष्क ही अन्तिम विकसमान वस्तु नहीं है। मस्तिष्क या मानस के ऊपर अतिमानस है जो अनन्त ज्ञान, इच्छाशक्ति और स्वतः विकसित आनन्द और शक्ति का स्रोत है, चूँकि यह अतिमानसिक सत्ता भी इस सृष्टि में निवर्तित या इन्वाल्ड है इसलिए उसका भी विकास निश्चित और अनिवार्य है। इस विकास का पहला चरण आध्यात्मिक मनुष्य के रूप में आयेगा। हमें आध्यात्मिक और धार्मिक मनुष्य के अन्तर को नहीं भूलना चाहिए। श्री अरविन्द स्वयं भी धार्मिक मनुष्य नहीं थे, नहीं वे मानते थे कि धर्म आज के मनुष्य की नाना समस्याओं को समाधान कर सकता है। अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक ‘मानव चक्र’ में उन्होंने स्पष्टतः धर्म की त्रुटियों और सीमाओं का विश्लेषण किया है और एक ऐसे अध्यात्म केन्द्रित धर्म की आवश्यकता पर जोर दिया है जो अपने अनुयायियों को आत्मा के उच्चतर प्रकाशपूर्ण कानूनों से अनुशासित कर सकें। श्री अरविन्द स्वतंत्रता को भी स्थितियों के लिए अनिवार्य और मानव अस्तित्व की अन्तिम अपेक्षा मानते हैं, इसीलिए उन्होंने कभी भी धर्म, राजनीति या शासन को दृष्टि में रख कर स्वतन्त्रता को क्षतिग्रस्त करने वाले तत्वों से समझौता नहीं किया। यह आध्यात्मिक मनुष्य अपने चैत्यपुरुष के माध्यम से सर्वदा अतिमानसिक सत्ता से सम्बद्ध बना रहेगा। आध्यात्मिकता का, श्री अरविन्द की दृष्टि से, अर्थ है अपनी सत्ता के आन्तरिक जागरण की ओर उन्मुख होना। आध्यात्मिक मनुष्य के स्तर तक पहुँचने के लिए हमें त्रिसूत्री रूपान्तरों के बीच से गुजरना होगा। प्राणिक पुरुष का स्वभाव ज्यादा सक्रिय, किन्तु ऊबड़खाबड़ ढंग का होता है। भौतिक मनुष्य धरती से सम्बद्ध रहता है और कहीं अधिक

१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० १०२।



सन्तुलित होता है, मानसिक मनुष्य उच्च स्तर का प्राणी है जो अक्सर मानस स्तर पर रहता है जैसे ऊपर की दोनों श्रेणियों वाले क्रमशः प्राणिक और भौतिक स्तर पर रहते हैं। आध्यात्मिक मनुष्य अपने अन्तर्निहित चैत्यपुरुष की सहायता से अपने सारे कार्यों को अतिमानसिक सत्ता से अनुशासित बनाता हुआ विचरण करता है। जिस प्रकार मानसिक सत्ता की महत्तम उपलब्धियाँ पशुजगत के लिए अबूझ हैं, उसी प्रकार अतिमानसिक सत्ता की प्रक्रियाएँ सामान्य मानवीय समझ से परे हैं।

श्री अरविन्द ने बड़े विस्तार और व्यौरे के साथ अतिमानसिक सत्ता की आरोहण के तौर-तरीके और नवसे प्रस्तुत किये हैं। यह सही है कि इस प्रकार की आरोहण का वर्णन हिन्दू योग प्रणालियों में दिखाई पड़ता है, किन्तु वे अधिमानस या ओवरमाइंड स्तर तक की चर्चा करते हैं। श्री अरविन्द ने अधिमानस से आगे अतिमानसिक स्तर में होने वाले रूपान्तर का मार्ग दिखाया ऐसे लोगों को, जिन्होंने यह स्तर प्राप्त किया है उन्हें वे दैवदर्शी या दिव्याप्त ( ग्नोस्टिक ) व्यक्ति कहते हैं। यह जीवन एक ऐसा सप्स्वर जीवन होगा, जिसमें अन्तर और बाह्य की सभी विषमताएं नष्ट हो जायेंगी और एक सत्ता दोनों को अतिक्रान्त करती हुई एक सन्तुलित जीवन का निर्माण करेगी।

यह संक्षेप में श्री अरविन्द की मनुष्य विषयक विकासवादी धारणा का सारांश है। यह उनके दर्शन का केन्द्रीय बिन्दु है जिसको लक्ष्य बना कर उनके द्वारा प्रतिपादित समाज-दर्शन, विश्व एकता, मानव आदर्श और सौन्दर्य बोध की सारी धारणाएँ परिधि में घूमती रहती हैं। वे मानते हैं कि अतिमानसिक सत्ता के हस्तक्षेप के कारण हमारा यह पृथ्वीगत जीवन आमूल परिवर्तित हो जायेगा और हम अज्ञान में जीना छोड़ देंगे। इसी को लक्ष्य करके श्री अरविन्द कहते हैं—“सरकारें, समाज, राजे, पुलिस, न्यायाधीश, संस्थाएँ, गिरजाघर, कानून, प्रथाएँ, सेनाएँ ( आर्मीज ) आदि तात्कालिक आवश्यकता की चीजें हैं, जिन्हें कुछ शताब्दियों ने हमारे ऊपर आरोपित कर रखा है, ऐसा इसलिए है कि ईश्वर ने हमारी आँखों के आगे अपना चेहरा प्रकट नहीं किया है।”<sup>१</sup>

श्री अरविन्द के अतिमानव को नीत्से के अतिमानव की तरह समझने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। यह सत्य है कि नीत्से ने कहा था कि “आदमी पशु और महामानव के बीच एक कड़ी है। एक ऐसी जंजीर की कड़ी, जो खन्दकों के ऊपर से जाती है, मनुष्य में सबसे बड़ी चीज यही है कि वह सृष्टि का अन्तिम लक्ष्य नहीं, एक पुल है।”<sup>२</sup> नीत्से के महामानव को यह धारणा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हिटलर के रूप में प्रतिफलित हुई। वहाँ अधिकांश मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के लिए युद्ध में शौंके जाने के लिए बाध्य किये गये। श्री अरविन्द ने नीत्से के महामानव पर व्यंग्य करते हुए लिखा—“नीत्से ने महामानव को ऊंटों के झुंड से निकलते हुए शेर के रूप में देखा, किन्तु महामानव के आगमन की सच्ची घोषणा समृद्धि की गायों पर आश्रित ऊँट की पीठ पर बैठा हुआ वह सिंह है। यदि तू सारी दुनिया का गुलाम नहीं बन सकता तो तू उस पर शासन करने के योग्य कदापि नहीं हो सकता।”<sup>३</sup>

१ श्री अरविन्द : थाट्स एण्ड एफारिज्म्स, पृ० २१।

२. नीत्से : दस स्पेक जरथुष्ट्र, ४ था प्रकरण।

३. श्री अरविन्द : थाट्स एण्ड एफारिज्म्स, पृष्ठ २२।



1972]

श्री अरविन्द की मानव विषयक विकासवादी धारणा

29

कुछ लोग कह सकते हैं कि श्री अरविन्द की मानव विषयक विकासवादी धारणा अज्ञात परिदृश्य पर बहुत ज्यादा आधारित है, और यह भी कि वे बहुत अधिक रहस्यवादी हैं। यह आपत्ति सही है। अरविन्द का दर्शन नास्तिक व्यक्तियों के काम का नहीं है। यद्यपि उन्होंने एक स्थान पर नास्तिकता को आस्तिकता की ही काली छाया कहा है, रहस्यवादी होने की आपत्ति व्यक्तिगत बात है। यदि डॉ० आइन्स्टाइन जैसे वैज्ञानिक कह सकते हैं—“हम यदि सर्वाधिक सुन्दर और गम्भीर संवेग का अनुभव करना चाहते हैं तो वह है रहस्यवादिता का संवेग। यही सभी सच्चे विज्ञानों का मूल है। वह, जिसे ऐसा संवेग विचित्र लगता है, और जो इसे देखकर आश्चर्य से विजडित और आनन्द से रोमांचित नहीं हो जाता, प्रायः मृतक जैसा है।”<sup>१</sup> जब डॉ० आइन्स्टाइन के लिए रहस्य का ऐसा आकर्षण हो सकता है तो श्री अरविन्द के लिए, जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश उसी की खोज में व्यय किया, यह स्वाभाविक ही है।

श्री अरविन्द अपने व्यापक ज्ञान और लेखन के बावजूद कुछ मामलों में अस्तित्ववादियों के करीब लगेंगे—कमसे कम एक पक्ष में, वह यह कि उन्होंने हमेशा आन्तरिक जीवन के सत्य पर जोर दिया। यास्पर्स कहता है—“अन्ततः अपनी आन्तरिक प्रक्रिया के द्वारा ही मैं तत्त्व को प्राप्त करता हूँ।” यह प्रक्रिया ही अस्तित्व का उद्घाटन करती है। मार्गरेट एल० विले ने अपनी पुस्तक क्रिएटिव स्केप्टिक्स में लिखा—“श्री अरविन्द ने अपनी सत्यान्वेषण प्रक्रिया में किसी भी धर्म या पद्धति को आड़े नहीं आने दिया क्योंकि वे सत्य को शुद्धतम रूप में देखना चाहते थे, उन्होंने अस्तित्व को अज्ञेय कह कर आज की मानवता को एक ऐसी दृष्टि दी जिसने अनजानता (निसाएंस) के आधार पर एक ऐसा वातावरण निर्मित किया, जिसमें पश्चिमी मस्तिष्क निर्वाण और मोक्ष के असीम को सही ढंग से समझ सका।”<sup>२</sup> श्री अरविन्द ने मस्तिष्क को निष्क्रिय बनाने की प्रक्रिया को महत्व दे कर पोथो ज्ञान की अनावश्यकता को रेखांकित किया—“पोथो पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।”<sup>३</sup>

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री अरविन्द की मनुष्य विषयक विकासवादी धारणा, यद्यपि वह अज्ञेय अतिमानसिक परम सत्ता पर आधारित है, मनुष्य को भौतिक जगत् पर अप्रतिहत विजय यात्रा का दस्तावेज है। उन्होंने आज के मनुष्य की रहस्यवादी शक्ति को जानने की कुतूहल-भावना को अपनी आन्तरिक क्षमता में विश्वास करने का एक ठोस आधार प्रदान किया। उन्होंने अपने सिद्धान्त को अपने जीवन में प्रमाणित करने का प्रयत्न भी किया। उनका यह सिद्धान्त प्राकृतिक विकास की एक स्वाभाविक निष्पत्ति है। यदि प्रकृति अब तक अपनी विराट प्रयोगशाला में लगातार प्रयोग करती आ रही है तो यह मान लेना कि उसने अब प्रयोग करना बन्द कर दिया है, व्यर्थ की बात है। और चूँकि मनुष्य एक सचेतन प्राणी है इसलिए यह सोचना भी स्वाभाविक है कि उसके सहयोग से प्रकृति

१. लिंकन वार्नेट : आइन्स्टाइन एण्ड द यूनिवर्स, पृ० १०८।

२. मार्गरेट एल० विले : क्रिएटिव स्केप्टिक्स, पृ० ३४२।

३. कबीर : साखी।



अपनी विकास यात्रा को और भी तीव्र कर सकती है जो अपेक्षाकृत कम विकसित पशु जगत द्वारा सम्भव नहीं हो सकता था ।

अन्तिम महत्वपूर्ण बात यह है कि श्री अरविन्द यह मानते हैं कि मनुष्य कोशिश करे या न करे, यह विकास यथा समय प्राकृतिक ढंग से हो कर रहेगा । यदि मनुष्य अपने अहंकार को छोड़ कर अतिमानसिक स्तर को उपलब्ध करना चाहता है तो उसके लिए उनका मार्गदर्शन महत्वपूर्ण और उपयोगी है । किन्तु आरोहण ही पर्याप्त नहीं है । यह आरोहण अतिमानसिक सत्ता के अवरोहण में प्रतिफलित होना चाहिए, ताकि पृथ्वी चेतना में रूपान्तरण लाया जा सके और सत्य चेतना के द्वारा आदमी ग्रंथकार का जीवन छोड़ कर प्रकाश में आ सके । श्री अरविन्द ने कभी भी व्यक्तिगत मुक्ति की हिमायत नहीं की, उनकी साधना और दर्शन का मुख्य उद्देश्य पूरी मानव जाति का कल्याण और मलाई ही रहा ।



## SOME FEATURES OF SRI AUROBINDO'S THOUGHT

Dr. R. K. Tripathi,

*Prof. and Head, deptt. of Philosophy, B. H. U.*

There is a very well known Indian tradition that a man of the cave or a recluse is more powerful and can do much more for the outside world than the most active men of the world can do. The west does not believe in all this, but the life and work of Sri Aurobindo show that India believes in that tradition even today. The principle behind the tradition is that man has within himself great powers if only he could develop them. Men of the world donot have faith and so they depend only on physical power. They would rather try to enplode the physical atom than the spiritual atom hidden within. But the spiritual man is able to see not only the limitations of physical power but also the unlimited character of spiritual power. True to the Indian tradition, Sri Aurobindo had the insight to see that for the uplift of man in general and the country in particular, it was necessary to develop the spiritual power first. So he retired from active politics, a step which was not very much appreciated then but the value of which is being seen now. He went into a cave as it were, cut off from the active, busy world; he started the practice of yoga with what results we can see today. The wave of Sri Aurobindo's thought and ideology is overtaking not only the country but also the world, and one can see its prospects of being a factor in shaping the future world. Sri Aurobindo has demonstrated how the Indian saints and sages could move the society and the world even after retiring into a cave. This is indeed a remarkable feature of Sri Aurobindo.

But beside developing spiritual power, Sri Aurobindo has also given spiritual and intellectual nourishment to the man of the world in the form of a philosophy which is beving received today as if the world was hungry for a thing like that since ages. Men are able to see a future and a destiny; they are able to sustain a hope and they are able to guide themselves in the light of his philosophy. This is because he has given not merely a theoretical philosophy but also a yoga also with it, a yōga which can hopefully enable people to realise not only the goal of life but can also make their life here integrated, peaceful and happy. What is remarkable is that Sri Aurobindo's seems to have put in it such vitality that even after his death or perhaps more after his death, his philosophy is becoming a powerful movement and is gaining mome-



ntum day by day. The whole process may be compared to the spread of christianity in early ages but minus the suffering and suppression which the christians had to undergo. In all this, Aurobindo does not introduce anything non-Indian but he does claim a new interpretation of the Indian thought and culture. The older Acaryas did not make any such claim. All the same, Sri Aurobindo is an Indian or a Hindu to the very core though his philosophy has in it foreign elements too.

Although Sri Aurobindo's thought is essentially and predominantly Indian, there is in it a peculiar synthesis of east and west. The philosophic doctrine of evolution is one of the most important and influential trends of thought in the west; it has permeated almost every field. People in the west look at everything—language, society, ethics, religion, history etc.,—from the point of view of evolution. Not only in the west, but also in the East the Theory of evolution has a great attraction for the modern mind. Even if one did not believe in religion, it seems one could have some hope for humanity on the basis of the theory of evolution. Sri Aurobindo has caught this nerve of the modern man and has assimilated the theory of evolution in his own philosophy without forsaking its Indian character is the spiritual character of his thought. He accepts evolution but not the evolution called 'Struggle and survival' but that which has at once a spiritual push as well as a spiritual pull. His is an evolution which is at once individual and cosmic, an evolution which tends to raise man to the level of superman, not the superman of Nietzsche but the superman of a spiritual type. Sri Aurobindo envisages even a race of supermen and an uplifting of the whole of humanity. The conception of supermen as a race is indeed unique.

If the conception of superman is unique from the point of view of evolution, there is another conception which is unique from the logical point of view. It is the conception of logic of the infinite. Sri Aurobindo's famous declaration, "The logic of the infinite is magic to the finite" is well known. The significance of this dictum is great. It upholds the dignity of the infinite and teaches humility to the finite. Ordinarily the human mind is presumptuous and not only tries to understand everything but even believes that it can understand everything. Not only this, it shows even the arrogance to reject what is not intelligible to it. For example when we fail to see the divine purpose in the scheme of things, when we see evil and suffering, corruption, wars, epidemics, earthquakes, droughts and floods, the miseries of the innocent and the victories of the unjust, we allow our pigmy intellect to sit in judgment over the universe



and declare, "There is no divine hand behind the events of the universe." We cannot for a moment imagine that the universe may appear differently to one who knows everything or that he who knows everything may have a different judgement. Such is our egoity, such is our self confidence. Sri Aurobindo's dictum is a timely warning against this human egoity. His teaching is well summarised in the following lines of Wordsworth :

"An assured belief,  
That the procession of our fate, however sad or jubilant,  
Is ordered by a Being of Infinite Benevolence,  
Whose everlasting purposes embrace all events,  
Turning them to good."

It may be objected that if the logic of the infinite is invoked then anything howsoever absurd and unintelligible may be pressed for acceptance. Our answer is that anything howsoever absurd provided—and this proviso is important—it is said not by any man but by men of knowledge like the *rsis* of the *upanisads* to whom the infinite had revealed itself, has to be accepted. It is better to take the risk of trusting men of greater knowledge than that of trusting our own ignorant, obsessed and impure minds.

We may notice another feature of Sri Aurobindo's life and ideal. The west boasts of its respect for women by way of accepting and practising the principle of equality of woman with man. But the west has not learnt the secret of worshipping woman. In India, whatever be the status of woman in society in principle woman is the symbol of Sakti. Sri Aurobindo lays great emphasis on the sakti aspect of Brahman by interpreting *cit* as Sakti and discarding the notion of *māyā* as the sakti of Brahman. He would subscribe wholly to the view that Shiva without Sakti is but like *sava* or corpse. This idea did not remain merely at the level of theoretical philosophy with Sri Aurobindo. He brought it down to the level of practice by bringing in the Mother at Pondichery. It is at once the recognition of the ideal of respect for women and also the acceptance of the importance of Sakti. It may be recalled that in the Hindu pantheon every god is associated with his Sakti. The importance of Sakti is accepted by Sri Aurobindo at both the levels empirical and spiritual—quite in consistency with his integral philosophy and yoga. A further meaning that can be read in the fact of the presence of the Mother at Pondichery is that it is a Symbol of the Synthesis of east and west.

Finally, we may draw attention to Sri Aurobindo's conception of yoga and salvation. In all religions of the world, a life of renunciation



and poverty has been emphasised more or less. In India more than any where else, the ideal of renunciation has been always preached and practised. But renunciation of the objects of natural desires is like swimming against the course of nature and so ordinary persons find it too difficult to practise. This is more so for the modern man or western man who has as a result of scientific discoveries developed such an intense desire for enjoyment that renunciation seems to him not only difficult but also meaningless and absurd. The modern man would cry and say : How could such a good thing as pleasure be so bad ? The ancients traced all misery to the desire for pleasure but Sri Aurobindo seems to have sympathy for the modern man. He knows that one who preaches renunciation has little chance of being heard or followed. The spirit of the west ( pravṛth ) is overcoming the whole world and is sweeping India also. Sri Aurobindo had the prophetic insight to see this. He gave a yoga where primary emphasis is laid not on renunciation but on the all round development and progress. The result is that Sri Aurobindo's philosophy not only gets hearers, not only wins admirers but is gradually having great number of followers both in the East and west—Sri Aurobindo's ideal is not that of attaining a pedestal for the soul, nor of separating the soul from the body but of an integrated life in which the body and the mind also are spiritualised and find their proper place and have their full development. In fact Sri Aurobindo has talked of such a thing as bodily immortality. Nothing would attract the modern man as this ideal. Probably the other motive behind the ideal of integral yoga is the poverty of India on to foreign rule. As Vivekanand put it, to preach renunciation to a hungry man would be nothing short of mocking at him. The question of renunciation would arise only when there is prosperity. So like Swami Vivekanand Sri Aurobindo would prescribe the duty of hard work and the ideal of prosperity to the modern Indian.

If in metaphysics Sri Aurobindo accepted the western the theory of evolution, in his yoga he seems to have accepted the western ideal of socialism with the difference that western socialism like its theory of evolution is materialistic while in Sri Aurobindo they have both been spiritualised. He seeks not only the same goal for all but also emphasises that all must help all to attain the ideal. One should not be content with one's own individual salvation which is really not complete unless others also one helped to attain that. Just as a prosperous man cannot really be happy in the midst of starving persons even so individual salvation cannot be worthwhile without effort for



the salvation of all. Salvation for Sri Aurobindo is of all, by all and for all. This is a kind of socialistic democracy which brings about equality not by cutting down but by raising, a socialism which progresses not by intensifying class-struggle and conflict but by developing cooperation, a socialism which is not the result of any dialectical movement but works by push and pull, a push from below and a pull from above.

Sometimes a question is asked about Sri Aurobindo. Is he a poet or a philosopher or a yogi or an interpreter? The temptation and no less the justification for saying that he is all there is no doubt quite strong but that does not solve the problem as to what he is primarily. To us it seems that Sri Aurobindo is primarily a seer, a seer who had also the gift of a poet, the intellect of a philosopher, the power of a yogi and above all the personality of a prophet. Such a combination of qualities is rather rare and no wonder that the modern Indian in particular and the modern man in general is attracted by Sri Aurobindo who is hailed to day as the prophet of the modern age.



## SHRI AUROBINDO GHOSH AND THE FREEDOM MOVEMENT

Dr. J. N. Vajpeyi,

*Reader in History, B. H. U.*

Shri Aurobindo Ghosh of revered memory may be described as one of the fathers of the extremist and Revolutionary Movement in India. The radical views propounded by him soon sent his name to dizzy heights and he along with Lokmanya Tilak, Babu Bepin Chandra Pal and Lala Lajpat Rai dominated the national life of the country and can be classed among the main architects of the Freedom Movement.

Shri Aurobindo inherited in himself the nationalism of his grand father Raj Narain Basu. Like him he also believed in secret societies and revolutionary upsuage. He was one with Swami Vivekanand in infusing nationalism among the masses and said : "Nationalism is an *Avatar* and cannot be slain". Son of an anglicised father Auro's ( Shri Aurobindo's pet name ) entire education was conducted and completed in English Schools. He mastered the classics and also passed the first part of the classical tripos. He also succeeded in fulfilling the ambitions of his father by doing remarkably well in the I. C. S. examination but himself he had no love for it and deliberately did not get himself qualified in horse-riding. So writes Mr. Diwakar : He was destined to fulfil quite different a mission. Presumably it was the call of that mission which cleared the path of all impediments. But during his stay in England he developed fascination for the heroic struggles of Irish Independence and its leader Parnell. Similarly he felt much inspired by the French Revolution. These two freedom movements inkindled the lamp of freedom in his bosom and he began to dream of the independence of his own country. While still in England he joined a secret society, 'Lotus and Dagger' which aimed at the emancipation of India from foreign yoke and took a vow to act for the same. He felt more and more attracted and impressed towards India and her age long culture. The idea of returning to India attracted him like a magnet in the innermost recess of his heart. He felt inspired at the call of *Saraswati* from her 'lotus-heaven', the call of the regions of eternal snow, the call of the Ganges was there and he prepared for journey homewards".



Coming to India he managed to get a job for himself with the Gaekwad of Baroda and later on became a vice-principal in the Baroda College. This was a starting point of another epoch in his career. He utilized the time with him in the study of Indian languages like Bengali, Gujrati and Marathi along with Sanskrit. He was much impressed by Michael Madhusudan Dutt and Bankim Chandra Chatterji. About Michael Madhusudan Dutta he once wrote :

"Poet, who first with skill inspired did teach  
Greatness to our divine Speech."

Similarly he expressed his great admiration for Bankim, the master of Bengali prose by writing :

"He sowed for desert with ruddy-hearted rose  
The sweetest voice that ever spoke in prose."

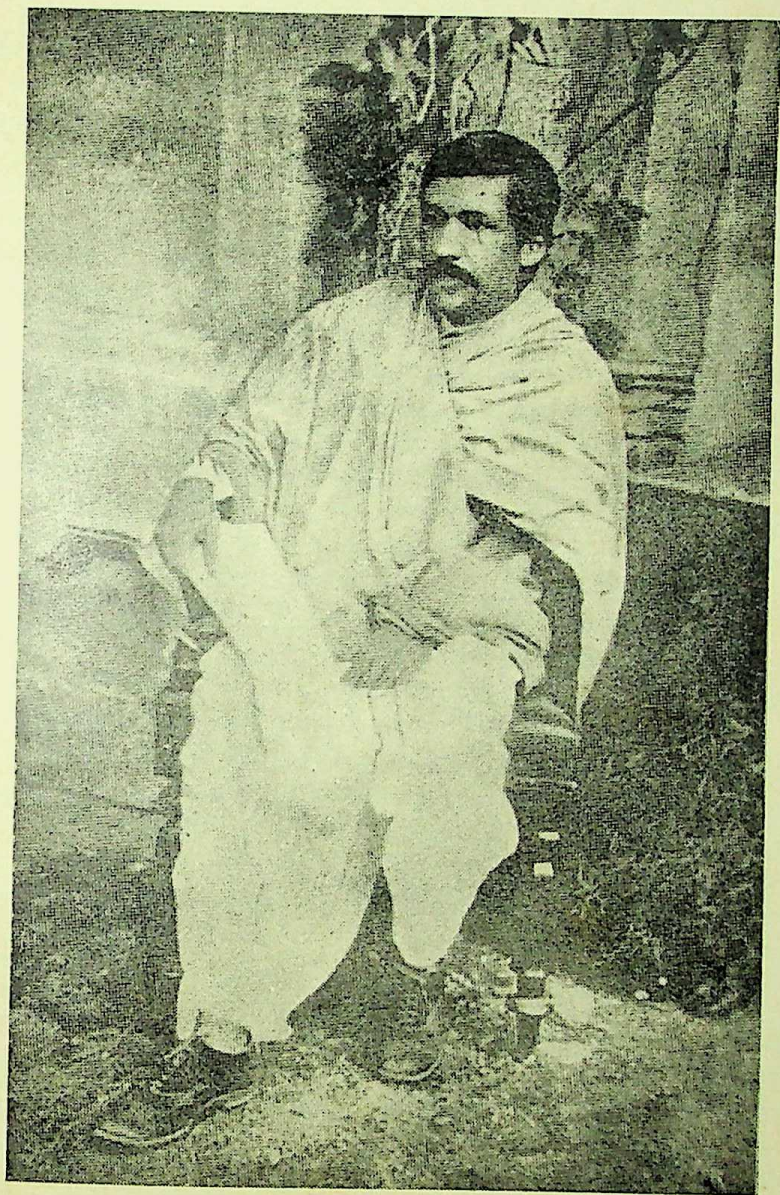
But it was the study of classics which turned his mind towards politics and spirituality. He had the occasion to study the Indian culture and to discover for himself the eternal inspiration that kept it ever alive and fresh. Not only this he had, also thought over the factors which had brought its degradation and impoverished India. So observes his biographer, "But above all, his search was for the self of all selves for the one and Indivisible Reality which pervaded and informed everything. This search superceded all others and sometimes it seemed that he had abandoned other pursuits. But it was never so." Though his thoughts were varied and multi pronged he was always sure that they all would lead him to that central Truth which was the essence of all knowledge. The same has been inimitably described in the following words, "It was not the search of the philosopher for a mere rational theory of the universe. It was rather the hunger of the mystic for his 'Beloved', the search of the *Nara* for *Narayana*. Nor was it solely for Individual salvation and Nirvana but as was later unfolded, it was for a general spiritual advance of humanity, for the next step in evolution, for the divinisation of human life on earth." But his love of Indian classics did not hamper his continuous study of English as well as other classical philosophers and literatures of the west like Homer, Dante and Horace. They created a ferment in his ideas and he developed fascination for Independence by extremer methods than the mandicant and moderate nature of the Congress policies. He even thought of revolutionary methods for the liberation of his motherland. In the earlier stages he wrote a series of frank, lucid and annonymous articles under the meaningful title of "New lamps for old" in the "Indu Prakash" of Bombay-



which was edited by one of his cambridge fellow, Mr. K. G. Deshpandey. He deprecated the moderate role of the Congress meeting annually and passing routine resolutions. In anger he compared the moderate leaders with blind man and wrote "If the blind lead the blind shall they not both fall into a ditch." He further wrote : The Congress in Bengal is dying of consumption; annually its proportions sink into greater insignificance, its leaders, the Bannerjis and Lal Mohan Ghoshes have climbed into the rarified atmosphere of the legislative council and lost all hold on the imagination of the young man. The desire for a nobler and more inspiring patriotism is growing more intense." He also opined that the Indian National Congress had ceased to be a popular body as the leadership of the Congress was swearing by false gods ( mere of the British make. ) He pleaded for adopting French ideals and asked people to be self-reliant. Like Bankim Chand Chatterji he religionised nationalism. "India was to him a mother to be revered and a Goddess to be worshipped" Says Mr. Diwaker. He writes further, "Contemplation of her and her service gave him the same thrill and the same deep experience that one enjoys while in deep meditation. India was to him the very embodiment of a great spiritual message, the fountain head of the wisdom of the spirit, the home of rich and invaluable in her experiences."

But as luck would have it, Mr. Ranade cautioned Mr. Deshpandey about the tone of those articles and hence Aurobindo retired into his shell of meditation and looked for a proper time to give vent to his feelings. Nor was he despaired of the cautions of the editor. He began to think of launching secret societies and spreading the cult of revolt secretly. As early as 1902, he sent Jatin Bannerji, a young Bengali Soldier belonging to the army of Baroda to Bengal with a programme of preparation and action. Not only this, he got into touch with men and groups who counted and also visited Bengal personally to see what was the hope of revival, what was the political condition of the people and whether there was the possibility of a real movement. The nature of his work was inspirational and instructional. The greatest gift of Shri Aurobindo to the revolutionary movement was his dear brother, Barindra Kumar Ghosh. By this single action one can well surmise the importance he attached to the revolutionary movement. In fact, it would not be wrong to say that he was the brain behind all the revolutionary upsurge which started in Bengal after Barindra Kumar joined it. Sister Nivedita alone knew how Shri Aurobindo was the directing brain behind the revolutionary movement in Bengal despite his physical absence. Dr. Karan





‘वन्देमातरम्’ के सम्पादक के रूप में श्री अरविन्द (कलकत्ता—१९०६-१९०८)







## 1972 ] AUROBINDO AND THE FREEDOM MOVEMENT 39

Singh also admits that he actively plunged into secret revolutionary activity. Professors Haridas and Uma Mukerji observe : "Of this new school in Bengal, Aurobindo was in a sense the spiritual father whose influence on Bhupendra Nath Dutta and Barindra Kumar Ghosh was unmistakable. Shri Aurobindo's part in the revolutionary movement is also admitted by his younger brother Barindra Kumar. "He also organised secret societies all over Bengal to violently oust the imperial power through armed resistance and murder of British officers. No way for achievement of the main object was abhorrent to or unwelcome to him. Except the C. I. Department, none in the country knew that Aurobindo was the inspirer or leader of the secret patry of violence too." The very fact that he was the head of the Gujarat Branch of a secret society and that he sent Jatindra Nath Bandopadhyaya to calcutta in 1902 for organizing revolutionary activity in Bengal proves that he was the chief architect of the revolutionary upsurge in the country. Aurobindo also kept himself in touch with the principal revolutionaries and had some knowledge of their plans as well. How could he have known all this without having gained the supreme confidence of the revolutionaries. He also visited some of the districts of Bangal like Khulana, Midnapur, Dacca, Rangpur and other places where he saw some of their activity. He was also in personal touch with some of Maharastra revolutionaries like Haribhan Modak, Kaka Patil and some others. The revolutionaries on his bidding tried to establish a *Bhavani Mandir*, a place in some mountain retreat where the youth could be trained in spirituality and revolution. He also wrote a pamphlet '*Bhavni Mandir*', which aimed at founding a centre where spirituality and patriotism could be blended together among the inmates of that centre. Some of the persons connected with this movement were Hemendra Das, Mandevale, Milter, Jatin, Barindra and Thakur Ramsingh.

Shri Aurobindo would probably have been lost to the nation had the approver Narendra Nath Gosain not been murdered by two daring fellow prisoners—Satyen Bose and Kanai Lal Dutta with in the forewalls of the prison in what is known as the Alipore conspiracy case. Narendra Nath Gosain had probably told the police all that Shri Aurobindo and other fellow prisoners of the Alipore conspiracy case had done. How Satyen Bose and Kanai Lal Dutta obtained pistols in the prison is shrouded in mystery and no definite information is available so far from government records. One plansible answer to this question is found in the statement of one of the convicts of the Alipore conspiracy case that the pistols were supplied by shri Auro.



bindo's sister who frequently visited her brother and other fellow prisoners. Be that as it may, Aurobindo was released after the trial as no evidence could be found against him. But this trial cautioned Aurobindo and he became more careful. But the cult of the Bomb so popularised and introduced by Barindra came to stay and became the order of the day when youths all over India and especially of Bengal performed many daring acts despite all Governmental repression and precautions. Thus the cult of the Bomb came to stay as is evident from a dialogue of Barindra with Mr. Alam, the Deputy superintendent of police, conducting the case and who was ultimately killed by the revolutionaries for his keenness in getting the revolutionaries entangled and punished. Said Barindra : "Well uncle Alam, three bombs have brought Morly-Minto Reform, more would be coming, be wave". In fact Barindra was voicing the opinion of Bengal and that of his brother shri Aurobindo Ghosh.

Although the heavy sentences and imprisonments given to the Barindra groups of revolutionaries had removed 30 to 40 young and ardent spirits, yet the path chosen by these brave spirits was not given up. On the contrary their ranks swelled and many bombs were thrown of Government buildings and places. The task of Barindra groups was adopted by the Anusheelan Samiti—the parent organization. To a great extent they carried and practised the ideals expressed in Aurobindo's "Bhavani Mandir." But this was not all for the Karmayogin. He was a seer and nation builder also. He wanted to create climate and atmosphere for resistance to the foreign Government. In fact by his effective leadership he guided and spiritualized the politics of the country elevated the devotion of the motherland to that of the worship of *Mother Durga*. He firmly said, "A divine power is behind the movement, the Zeit Geist, the time spirit is at work to bring about a mighty movement of which the world at present juncture has need. That movement is the resurgence of Asia and the resurgence of India is not only a necessary part of the larger movement but its central need. India is the key-store of the arch, the chief inheritress of the common Asiatic destiny. The idea of a free and united India has been born and grown to full stature in the land of the *Rishis* and the spiritual force of a great civilization of which the world has need is gathering at its back." He offered a programme of service and sacrifice to raise our countrymen from the abject position of the crawling cripples that they were to the level of heroes. Along with Bal Gangadhar Tilak he defined the scope and meaning of his country's resistance and wanted it to be based on self-reliance self-confidence and vital cultural traditions of the nation. He



## 1972 ] AUROBINDO AND THE FREEDOM MOVEMENT 41

also gave a programme of action which was to achieve self-government neither by constitutional means nor by a mendicant's approach but by active and militant struggle. He became one of the principal architects of the extremist party and gave strong support to Tilak to present to the nation a fourfold Chatus-sutri programme of "Boycott, Swadeshi, National Education and Swarajya." It provided the nation with a definite programme which was hitherto lacking and made the fight more intense.

It was regarded as a new gospel which thrilled the people as nothing had in the first decade of the twentieth century. Shri Aurobindo described the fourfold programme of Tilak by calling it as a 'Yazna'—a sacred performance. He detailed his views thus : "Political freedom in the life-breath of a nation. Without it a nation cannot grow, cannot expand.....The work of national emancipation is a great and holy *Yazna* of which Boycott, Swadeshi, National Education and every other activity, great and small are only major and minor parts. Liberty is the fruit we seek from the sacrifice and Motherland, the Goddess to whom we offer it, into the seven leaping tongues of the five of the *Yazna* we must offer all that we are and all that we have, feeding the fire even with our blood and lives and happiness of our nearest and dearest for the Motherland is the Goddess who loves not a maimed and imperfect sacrifice and freedom was never won from the Gods by a grudging giver." According to Shri Aurobindo the Chatus-sutri programme meant to shake the Congress out of its torpid tortoise like gait and turning it into a living and acting body.

Shri Aurobindo was probably the first to advocate Passive Resistance against the foreign Government. For this purpose he wrote several articles in the *Bandemataram*. He held that "The passive method is specially suitable to countries where the Government depends mainly for the continuance of its administration on the voluntary help and acquiescence of the Subject people." By this Shri Aurobindo wanted to paralyze the Government by an "organizer refusal to do any thing which shall help either British Commerce in the exploitation of the country or British officialdom in the administration of it—Unless and until the conditions are changed in the manner and to the extent demanded by the people. This attitude is summed up in one word, boycott." Through the columns of *Bandemataram* Shri Aurobindo wrote : we must always remember in this connection that alien absolutism in this country depends helpless on the cooperation of our own people. Let that cooperation be withdrawn and bureaucratic absolutism tumbles in like a house of cards.



Aagin in one of his speeches he said, "On their fidelity to Swadeshi, to boycott, to passive resistance rested the hope of a peaceful and spiritual salvation. On that depended whether India would give the example, unprecedented in history, of a revolution worked out of moral force and peaceful pressure." In order to bring about that peaceful revolution and swaraj he firmly believes in the fulfilment of *Ghatas Sutri* programme. He held Swadeshi, Boycott, Arbitration, National Education are all doomed to failure if persued separately and for their own sake but as part of a single coordinated attempt to attain an organized independence they are the necessity of the present time. They are merely component parts of swaraj which is made of all of them put together and harmonised in a single whele."

Shri Aurobindo's views on *Swarajya* were even more radical than all his colleagues. He demanded absolute Independence or *Purna Swaraj*. Making a fervent demand of absolute Independence and describing it as a divine mission he spoke at Jhalakati: "what is it that we seek, we seek the fulfilment of our life as a nation. This is what the word 'Swaraj', which is a bugbear and terror to the Europeans, really means..... Swaraj is not colonial form of government nor any form of government. It means the fulfilment of our national life." For an effective action he planned to utilize the congress platform and turn the congress into an 'active force.' He wanted "Mehta-Bannerji brand of Indian politicians to note the writings on the wall and radically change their plan of political agitation."

It was in this connection that Shri Aurobindo took a leading part in gettings resolution on Boycott, Swadeshi, National Education and Swarajya passed in the Congress session of 1905 and 1906. He held Tilak in great admiration and when in the Surat session of the Indian National Congress he suspected that the moderate wanted to do some bodily harm to Tilak he asked his followers to give protection to their great leader. Unfortunately the Surat session ended in a fiarco. If on the one hand the Surat session created rift among the two groups of the Congress. On the other it helped in clearing the mist of unreal unity and allowed the people to judge thing accordingly. Diwaker write : "The Surat session ended in a fiarco but made history. The result was that the moderates continued to possess the body of the Congress while the spirits went out along with the extremists. For the next ten years Indian nationalism flourished outside the precincts of the National organization, when it returned to the change in 1916, it completly routed the moderates, who later continued their existance outside the Congress as a small and not very influential coterie. They ceased to be a political force in the country."



## 1972 ] AUROBINDO AND THE FREEDOM MOVEMENT 43

Dr. Karan Singh is also of the opinion that in a way "The Surat imbroglio came as a victory for Aurobindo's policy because it clearly posed the issues between the moderates and the extremists in a manner that left no room for ambiguity. It also opened a new avenue of activity for the younger radical group untrammelled by the retrogressive weight of the moderate leadership."

Soon after the Surat session the Government decided to rally the moderates and began to victimize the extremist leaders. The heavy hand of repression deported Lala Lajpat Rai and Sardar Ajit Singh under Regulation III of 1818. It infuriated the people and the whole country was incensed with anger. It was followed by repression of the newspapers like the *Bandemataram* edited by Shri Aurobindo Ghosh. Next to be hammered were the editors of the *Sandhya* and the *Yugantar*, Brahma Bandhava Upadhyaya and Bhupendra Nath Dutta. Governmental repression knew no abatement and they sentenced Tilak for six years transportation and incarcerated him in a solitary cell at Mandalay.

Commenting upon Tilak's incarceration the *Bandemataram* wrote : "They have sentenced Tilak to transportation.....It has reduced the Government to a State of moral helplessness. On the one side, it has also revealed the want of any living hold of the pretensions moderate Bombay leaders.....It has burnt the Mehta-Gokhale bubble completely .....Tilak is acknowledged to be even more than a political leader he is the Guru, the idol, the fetish of the Maratha masses."

Lord Minto's next repressive act was to victimize Shri Aurobindo Ghosh. He remained in prison for about a year awaiting his trial. But in the jail he devoted himself to yoga and it is said in the prison he received a great spiritual enlightenment. He got attracted towards Life Divine and had the vision of the great power. He was ably defended by Deshbandhu Chitranjan Das. He presented a brilliant defence and in his summation made an eminently clear statement of the non-violent creed of the Nationalist movement. He said, "If there is a law which is unjust and offensive against the development of the nation break that law by all means and take the consequences. He never asked you to apply force in a single utterance of his either in the press or platform. If the Govt. thought fit to bring in a law which hinders you from attaining that salvation, Aurobindo's advice is to break that law if necessary in the sense of not obeying it. You owe it to your conscience, You owe it to your God. If the law says you must go to jail, go to jail. That was the cardinal feature of the doctrine of passive resistance which Aurobindo preached." Deshbandhu's appeal is a masterpiece of eloquence and his final peroration included the following words of everlasting signi-



ficance : "My appeal to you is this, that long after the controversy would be hushed in silence, long after this turmoil and agitation will have ceased, long after he is dead and gone, he will be looked upon as the poet of patriotism, as the prophet of nationalism and the lover of humanity. Long after he is dead and gone, his words will be echoed and reechoed, not only in India but across distant seas and lands. Therefore I say that the man in his position is not only standing before the bar of this court, but before the bar of the High court of History."

The above pleading did not go in vain. Shri Aurobindo was acquitted. But it was in the jail that he had received the message of the eternal Being that he was meant for some other work: "I have had another thing for you to do and it is for that I have brought you here, to teach you what you could not learn for yourself and to train you for my work." The message made a profound impression on him. After his release he felt lonely due to the deportations, transportations and heavy repression launched by the Government. Giving expression to his loneliness in his uttarapara speech, he said : "Now that I have come out I find all changed. One who always sat by my side and was associated with my work is a prisoner in Burma, another is in the North rotting in detention. I looked around when I came out. I looked round for those to whom I had been accustomed to look for counsel and inspiration. I did not find them. There was more than that when I went to join, the whole country was alive with the hope of a nation, the hope of millions of men who had newly risen out of degradation, when I came out of jail I listened for that cry, but there was instead a silence. A hush had fallen on the country and men seemed bewildered for instead of God's bright heaven full of the vision of the future that had been before us, there seemed to be over head a laden sky from which human thunders and lightnings rained. No man seemed to know which way to move."

But there was no frustration in his mind and he had emerged a stronger man from the jail where he had been told : ".....I am guiding, therefore, fear not. Turn to your own work for which I have brought you to jail and when you come out, remember never to fear, never to hesitate." He started his journalistic activities and started publishing two papers, the Karmayogin in English and the Dharma in Bengali. The Karmayogin "became the vehicle for some of the most inspired and elevating journalism that India has ever seen." Ever since his release he kept up doing yogic Sadhana. There were some hints in his speeches and writing that he contemplated retirement from active politics. He had also been told that the Government intended to arrest him for the third time. He, therefore, thought it proper to publish his 'Open Letter to My



## 1972 ] AUROBINDO AND THE FREEDOM MOVEMENT 45

Countrymen' which he called his last political will and testament. In that letter he purposely gave expression to words 'in case of my deportation.....If I do not return from it', which were fully indicative of what was going to happen. The letter contained his advice that the nationalist party need have no fears if a particular leader is imprisoned or arrested. The God anointed leader will come sooner or later. All great movements wait for their God sent leader, the willing channel of his force and only when he comes, move forward triumphantly to their fulfilment. The men who have led hitherto have been strong men of high gifts and commanding genius, great enough to be the protagonists of any other movement but even they were not sufficient.....Therefore, the Nationalist party, the custodians of the future must wait for the man who is to come." Not only this he even outlined the six point programme : "persistence with a strict regard to law in a peaceful policy of self-help and passive resistance." "No Control, No cooperation with the Government, a reapportionment with the moderates wherever possible and the reconstitution of a united congress revival of the boycott movement on an effective basis extension of the programme to other provinces and ultimately to the whole country.

After issuing the above testament Shri Aurobindo decided to leave the political battles and went to Pondicherry to seek salvation for the afflicted mankind. Soon after from 4th of April he began his great quest in Pondicherry. Some of his detractors and critics have pointed out that he left politics out of frustration or fear lest he was arrested and prosecuted. But its reply is given in the words of Shri Aurobindo again when he wrote that "he had not sought to avoid the long arm of the law, he had only retired to Pondicherry; he was therefore not obliged to appear before a British Indian Court of Justice." Dr. Karan Singh correctly observes, "that he had lost neither faith nor courage. In fact they show a remarkable upsurge of power welling up from some deep spiritual fount within him." His abrupt departure for Chandranager and then Pondicherry was "In deference to a compelling higher command." Shri Aurobindo dispelled all doubts by writing : "while I was listening to animated comments from those around on the approaching event, I suddenly received command from above, in a voice well-known to me, in three words, 'Go to Chandranager.' In ten minutes or so I was in the boat for Chandanager. Afterwards under the same 'Sailing order' I left Chandranager and reached Pondicherry on April 4, 1910." Shri Aurobindo explains his departure due to 'Adesh' (command) from the Divine Power. The noble work and Sadhana which he did at Pondicherry is a matter of pride for all Indians and the entire



humanity. Shri Aurobindo's Yogic *Sadhana* had long crossed the national barriers. He realised the universal Being and gave a hope for the afflicted mankind.

No one should have any surprise if India became free in 1947 on 15th August, the birth day of the great Karmayogin, Shri Aurobindo. But even in Pondicherry he did not cease to think about his country. On August 15, when, India awoke as a free nation Shri Aurobindo gave his final message which gave a guide line to her great leaders. August 15th is my own birth day and it is naturally gratifying to me that it should have assumed this vast significance. I take this coincidence, nor as a fortuitous accident but as the sanction and seal of the Divine Force that guides my steps on the work with which I began life, the beginning of its full fruition. Indeed on this day I can watch almost all the world-movements which I hoped to see fulfilled in my life time, though then they looked like impracticable dreams, arriving at fruition or on their way to achievement. In all these movements free India may well play a large part and take a leading position. Shri Aurobindo desired to see united India" in every sense of the term. He wanted a proper place for the depressed classes and unity among the Hindus and Muslims. He hoped that the partition would go as a result of common realization of its futility and necessity. He longed for Unity under any form. He even went as far as to say that "division must go, unity must and will be achieved" as it was necessary for India's great future. In the same vein he desired 'the resurgence and the liberation of the peoples of Asia and her return to her great role in the progress of human civilization.' Shri Aurobindo's third dream was a 'world-union-forming the outer basis of a fairer, brighter and nobler life for all mankind.' He also indicated "That unification of the human world was under way, there is an imperfect initiation organized but struggling against tremendous difficulties." He ardently hoped that a new spirit of oneness will take hold of the human race. His fourth great vision was that India's spirituality would enter Europe and America and his final expectation was "a step in evolution which would raise man to higher and larger consciousness and begin the solution of the problems which have perplexed and vexed him since he first began to think and dream of individual perfection and a perfect society." He longed to see that "it must proceed through a growth of the spirit and the inner consciousness" and "the initiative can come from India and although the scope must be universal, the central movement may be hers."





अरविन्द आश्रम की माँ  
(निर्वाण तिथि १७ नवम्बर, ७३)







## श्री अरविंद और तंत्र

डॉ० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय,

लेक्चरर, हिन्दी विभाग, का० हि० वि० वि०

भारतीय संस्कृति और धर्मसाधना पर विचार करने वाले पाश्चात्य विचारकों में से अधिकांश ने ईसाई मतवाद से प्रेरित होकर अथवा स्वजातीय श्रेष्ठता के प्रतिपादन के वशीभूत होकर अथवा निरुद्ध कोटि के राजनीतिक चातुर्य के कारण भारतीय धर्मसाधना, संस्कृति और दर्शन पर अनेक आरोप किए। कुछ भारतीय विद्वानों ने उनका समर्थन किया। ऐसे लोगों द्वारा सबसे अधिक निंदित तंत्र हुआ। यहाँ तक कि डॉ० बिनयतोष भट्टाचार्य जैसे अनेक भारतीय विद्वानों ने भी तंत्र को जादू-टोना आदि की कोटि का मानकर उसे आदिमकालीन जादूविद्या से विकसित माना। इस प्रकार की धारणा के विद्वानों की सभी स्थापनाओं का मूलधार भारत में आर्यों का आगम और अनार्यों के साथ उनका संघर्ष है। वे ब्राह्म्य संस्कृति के उद्धारक भी बनते हैं। इसी आधार पर वे यह भी सिद्ध करते हैं कि भौतिकवादी दर्शन ब्राह्मण धर्मों और दर्शनों के विरोधी थे। बौद्ध और जैन दर्शनों का उद्गम वे ब्राह्म्य संस्कृति को सिद्ध करते हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार ऐसे विद्वान् भारतीय धर्मसाधना और संस्कृति पर अनेक आरोप ही नहीं करते, अपितु उसकी अखंडता और एकता पर भी प्रहार करते हैं। इतना ही नहीं, तंत्र के अपरपर्याय आगम पर विचार करते हुए वे उसे विदेशी अथवा बाहर से आया हुआ मानते हैं किन्तु आर्थर एवेलैन अथवा सर जान उडरफ जैसे विद्वानों ने इसे अथर्ववेद के सौभाग्य खंड से विकसित माना है और अनेक वैदिक कर्मकांडीय क्रियाओं का विकास तंत्रों में स्वीकार किया है। उडरफ ने उपर्युक्त सभी मतों का दृढ़तापूर्वक खंडन करते हुए अपने मत का भलीभाँति प्रतिपादन किया है।<sup>२</sup> श्री अरविंद ने उडरफ के मतों का स्पष्टतया समर्थन किया है<sup>३</sup> और अपनी पद्धति से उन्होंने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आलोचक श्री आर्चर का उत्तर दिया है। भारतीय पौराणिक-तांत्रिक धर्म एवं संस्कृति की यूरोपीय आलोचकों और भारतीय सुधारकों द्वारा की गई आलोचना को उन्होंने अवोधता से पूर्ण और निरर्थक बताया क्योंकि वे कुछ गौण बातों को ही लेकर प्रस्तुत की गई हैं।<sup>४</sup>

श्री अरविंद ने इस पौराणिक-तांत्रिक धर्म को एक बहुत ही उदार और बहुमुखी प्रयास कहा है जो शक्ति की दृष्टि से भी अतुलनीय है। इसने एक जाति को साधारणीकृत मनोधार्मिक अनुभूतियों का एक ऐसा रूप प्रदान किया, जिससे व्यक्ति भक्ति, ज्ञान अथवा

१. ऐन इंट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म : डॉ० बिनयतोष भट्टाचार्य, इंट्रो० पृ० १-१०।

२. प्रिंसपल्स ऑफ तंत्र : सर जान उडरफ, आरंभिक पृष्ठ।

३. दि फाउण्डेशंस ऑफ इंडियन कल्चर : श्री अरविंद, आरंभिक पृष्ठ।

४. वही, पृ० १७४।



कर्म की सहायता से परमोच्च अनुभव अथवा सर्वोच्च स्थिति तक पहुँच सकता है। उन्होंने वैष्णव धर्म, तंत्र और योग को भारत का ऐसा सर्वाधिक समर्थ शक्तिस्त्रोत माना, जिसने भारतीय धर्मचक्रों के लिए प्रेरणास्त्रोत का काम किया। इनमें भी श्री अरविंद ने अपने सर्व-प्रसिद्ध आरोहण-अवतरण सिद्धांत का दर्शन किया।<sup>१</sup> संभव है, इसकी प्रेरणा उन्होंने तांत्रिक साधनों के विभिन्न क्रियात्मक सिद्धान्तों से प्राप्त की हो। उनका यह मत है कि ईश्वर के संपूर्ण, व्यक्त एवं अव्यक्त रूपों को ग्रहण करने के लिए आत्मा द्वारा आत्मसंयम, पूजा और ज्ञान के किये गये सभी प्रयत्नों में तांत्रिक मत अपनी अभीप्सा में महानतम प्रयत्न है।<sup>२</sup>

तंत्र केवल किसी एक क्रियाप्रणाली अथवा विचारणा अथवा सिद्धांत का नाम नहीं है अपितु इसमें योग, पूजा, अधिकार, वर्ण, आश्रम, पिण-ब्रह्माण्ड, युग, कल्प, आचार, दीक्षा, अभिषेक, साधना, कर्म, पुरुषार्थ, सिद्धि, सृष्टि, प्रलय, मंत्र, यंत्र, ज्योतिष, शुद्धाशुद्ध, राजकर्तव्याधिकार, विधि, स्थापत्य, मूर्तिनिर्माण आदि अनेक प्रकार के विषयों का समायोग देखने में आता है। तंत्र क्रियाप्रधान होते हैं, यह निर्विवाद है। इसीलिए इसमें साधन का प्राधान्य है। योग के वैविध्य और वैपुल्य को देखते हुए इसमें उसकी प्रमुखता भी स्वीकार की जाती है। श्री अरविंद ने तांत्रिक योग को स्वभावतः समन्वयात्मक माना है। यद्यपि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अतांत्रिकों अथवा अनधिकारियों के हाथ में पड़कर, तंत्र के कुछ विशेष रूपों, विशेषकर वाममार्ग को निन्दित भी होना पड़ा।<sup>३</sup> वे तंत्र के दक्षिण एवं वाममार्ग की क्रमशः ज्ञानमार्ग एवं आनन्दमार्ग मानते हैं। उसकी योगपद्धति को वैदिक योगपद्धति से भिन्न मानते हुए उसमें प्रकृति अथवा इच्छाशक्ति के प्रामुख्य को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में तंत्र पलायनवादी न होकर जगद्विजय एवं नियंत्रण में विश्वास करता है। जैसा अन्य साधन संप्रदायों में हुआ है तंत्र में भी अंततः रहस्यात्मक मांत्रिकता और सैद्धांतिकता का घटाटोप हो गया और उसमें स्पष्टता और प्रवृत्तियों का अभाव हो गया।<sup>४</sup>

इसके होते हुए भी तांत्रिक साधन प्रकृतितः समन्वयात्मक हैं। वह इस विराट विश्व सत्य को स्वीकार करता है कि इस जीवात्मा के दो ध्रुव हैं—ब्रह्म और शक्ति। इसी के अनुरूप ही केवल मुक्ति को ही नहीं, अपितु भुक्ति को भी लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता है। उसकी समन्वयात्मक, व्यापक और बहुग्राही प्रकृति के कारण ही श्री अरविंद उसे एक साहस-पूर्ण एवं विस्तृत मत के रूप में स्वीकार करते हैं।<sup>५</sup> ऐसा इसलिए भी है कि तंत्र दो ऐसे सर्वोच्च आध्यात्मिक और दार्शनिक सत्यों को एक साथ स्वीकार करते हैं जो परस्पर विरोधी एवं खंडनात्मक नहीं हैं, अपितु विमिश्रितभावेन परस्पर समन्वित हैं।<sup>६</sup>

१. दि फाउण्डेशंस ऑव इंडियन कल्चर : श्री अरविंद, पृ० १७६-७७।

२. श्री अरविंदो ऑन दि तंत्र : एम० पी० पंडित, मूलग्रन्थ के पूर्व उद्धृत।

३. वही, पृ० १।

४. वही, पृ० २।

५. वही, पृ० ३-४।

६. वही, पृ० ८।



तंत्र योगसाधना के क्रम में चक्रयोजना को भी स्वीकार करते हैं जिसके अन्तर्गत हठयोग को भी स्वीकार किया जाता है। इस चक्रयोजना का श्री अरविन्द ने 'चक्रविज्ञान' शीर्षक के अन्तर्गत विवेचन किया है और उसके दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्षों की ओर भी संकेत किया है।<sup>१</sup> चक्रविज्ञान का व्याख्यान बिना कुंडलिनी तत्व के विवेचन के अधूरा रहता, अतः उन्होंने योगशक्ति कुंडलिनी की उद्बोधनादि क्रियाओं की व्याख्या की। उन्होंने अपने सावित्री नामक महाकाव्य के ७.५ में चक्रों के जागरण अथवा आरोहण की क्रमिक यात्रा का वर्णन किया है। यह वस्तुतः अन्तर्देशों की यात्रा है। कुंडलिनी शक्ति के आरोहण एवं अवरोहण का वर्णन तांत्रिक साधनग्रन्थों में मिलता है और उसकी प्रतीकात्मक व्याख्या भी मिलती है। श्री अरविन्द ने सावित्री के १०.४ में अवरोहण अथवा अवतरण क्रिया की विवृति की है।<sup>२</sup>

जब श्री अरविन्द मानते हैं कि तांत्रिक साधना के विविध विकसित रूपों के अनधिकारियों के हाथों में पड़ जाने के कारण उसे निन्दित होना पड़ा, तो स्पष्टतः वे अधिकारवाद को तांत्रिक साधन के मूलाधार के रूप में स्वीकार करते हैं। इसीलिए उन्होंने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि भारतीय दृष्टि से तो तत्त्वतः सभी प्राणी उस दिव्य के अंश हैं किन्तु व्यवहारतः मनुष्य-मनुष्य में अनन्त भेदकता है। आन्तरिक दृष्टि से कुछ तो विकसित हैं और कुछ अल्प विकसित। अधिकांश तो उन शिशु आत्माओं की तरह हैं जो कठिन प्रयत्न करने और साहसपूर्ण कदम उठाने में असमर्थ हैं। अतः दिव्य तत्व के प्रति भिन्न-भिन्न मात्राओं में उद्घाटित सक्षमता के कारण उनके लिए तदनुकूल विभिन्न साधनों एवं कर्मों की आवश्यकता है। इन्हीं आधारों पर पशु, वीर एवं देव का विभाजन किया गया है।<sup>३</sup>

उपासना के विविध स्थूल से सूक्ष्म तक के सभी रूपों पर विचार करते हुए निर्गुण-सगुण, अरूप-सरूप की व्याख्या करते हुए<sup>४</sup> उन्होंने यद्यपि बाह्यपूजा को पूर्णतः बाह्य विधान माना, तथापि यह स्पष्ट किया कि यदि वास्तविक चेतना से सम्पन्न होकर इसे भी सम्पन्न किया जाय तो यह उपासना भी महान्तम सम्भव पूर्णता की उपलब्धि करा सकती है।<sup>५</sup>

इस प्रकार की पूजा-उपासना में साधक भक्ति ही मूलाधार है जो प्राणप्रतिष्ठा करती है। इसके समाप्त होने पर उस तत्व की महान् दिव्य उपस्थिति अथवा प्रतिष्ठा ही वहाँ प्रत्याहृत हो जाती है।<sup>६</sup> इस प्रतिष्ठा में भावना का प्राधान्य है ही, साथ ही मंत्र भी वस्तुतः शब्द रूप शक्ति ही हैं जो किसी व्यक्ति के अन्तरतम से निःसृत होते हैं। ये बुद्धिप्रसूत नहीं होते। मानसिक चेतना के अभ्युदय के साथ ही इनका अभ्युदय, अभ्युत्थान और उद्धार होता

१. वही० पृ० ९-१४।

२. वही० पृ० २३-२७।

३. वही० पृ० २८-२९।

४. वही० पृ० ३०-३२।

५. वही० पृ० ३३।

६. वही० पृ० ३४।



है। मंत्र केवल साधक, प्रयोक्ता अथवा उद्गाता की ही चैतसिक चेतना में परिवर्तन नहीं करते, अपितु दूसरे चित्तों, वस्तुओं और वातावरण में भी मानसिक तरंगों से परिवर्तन साधित करते हैं। इस प्रकार मंत्र केवल प्रतीक एवं साधन ही नहीं है, दिव्य प्रकाशन के उप-युक्त पात्र भी है। ये मंत्र जिस दिव्यवस्तु का प्रतीकीकरण करते हैं, उसके साक्षात्कार के लिए व्यक्ति को तत्पर भी करते हैं। मंत्रजप का तात्पर्य ही यह है कि व्यक्ति की अन्तरात्मा प्रतीकीकृत को अन्तस्थ कर रही है और व्यक्ति चेतना से समन्वित होने पर यह क्रिया और भी अधिक प्रभावशालिनी और सत्वर हो जाती है।<sup>१</sup> इसके लिए दो आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है—प्रथम तो यह कि प्रतीकीकृत परमदेवत की शक्ति, शक्ति, सौन्दर्य, आकर्षण आदि को चित्त में प्रतिष्ठित कर जप किया जाय और दूसरे, यह हृदय से उद्भूत हो अथवा भक्ति के किसी रूप के साथ इसका ध्वनन हो। दोनों ही क्रमशः चैतसिक मार्ग और संवेगात्मक मार्ग हैं। एक तीसरा मार्ग भी है जिसके अनुसार मंत्र की शक्ति अथवा नागशक्ति पर पूर्ण विश्वास हो, जिसमें अन्तरात्मा पर पड़ने वाली तरंगों की पर्याप्त दबाव के समय तक परीक्षा करनी पड़ती है जिससे वह उस दिव्य तत्त्व की उपस्थिति अथवा स्पर्श के लिए सन्नद्ध हो सके।<sup>२</sup>

इस पद्धति से अरविंद ने अधिकार, पूजा, उपासना, मंत्र, जप आदि के साथ व्यक्ति-योग्यता, चेतनाविकास और आरोहण-अवतरण सिद्धान्त की व्याख्या की। तंत्र मानवस्थिति तक पहुँचनेवाला आत्मा की पूर्व स्थितियों (वनस्पति, पशु आदि) का वर्णन करते हैं। श्री अरविंद की दृष्टि में मानवता अवतक की चेतन प्राणियों की सर्वोच्च विकसित स्थिति है जिससे वह उच्चतर एवं वृहत्तर चेतना, आध्यात्मिकता, मानसिकता और जीवन के लिए तैयार हो रही है।<sup>३</sup>

अध्येता जानते हैं कि श्री अरविंद दर्शन के मूल तत्व दो हैं—आरोहण-अवतरण और चेतनाविकास। श्री अरविंद के तंत्र सम्बन्धी विचारों से भी ये ही दो तत्व प्रमुख प्रतीत होते हैं। उनके पूर्णयोग के मूलाधार में भी तंत्रज्ञान का योगदान कम नहीं प्रतीत होता। भारतीय साधना में तंत्र और पूर्णयोग की व्याख्या करते हुए श्री अरविंद वेद और वेदान्त को एक ही सत्य के दो पक्ष मानते हैं और शक्ति पर बल देनेवाले तंत्र को उसका अन्य पक्ष मानते हैं। तंत्र रूपों, प्रक्रियाओं और संगठित शक्तियों का विचार करता है। इन सबको उसी रूप में पूर्णयोग में नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि उसे अपने विशिष्ट रूपों और प्रक्रियाओं का विकास करना है। उन्होंने स्पष्टतः संकेत किया है कि चक्रमार्ग से होने वाले चेतना के विकास और अन्य तांत्रिक ज्ञान उनके रूपान्तर सम्बन्धी सिद्धान्त के मूल में क्रियाशील हैं। मातृशक्ति के प्रति एकमात्र अवलम्बिता के मूल में भी तांत्रिक सिद्धान्त क्रियाशील हैं। यद्यपि श्री अरविंद पूर्णयोग में कुण्डलिनी जागरण, भूतशुद्धि, चक्रप्रस्फोट आदि का उस रूप में स्थान नहीं है, जैसा तंत्र में है अपितु इसके लिए पूर्णयोग में वह भिन्न पद्धति अपनाई गई है जिसमें

१. वही० पृ० ३५।

२. वही० पृ० ३६।

३. वही० पृ० ३७।



उच्चस्थ उच्चतर चेतना से मिलन के लिए विभिन्न स्तरों से होता हुआ चेतना का आरोहण भी सम्मिलित है। इसमें मानसिक और शारीरिक स्तरों एवं केन्द्रों का जागरण भी सम्मिलित है। इसमें वह अवतरण सिद्धान्त भी सम्मिलित है जो रूपान्तर का रहस्य है इस प्रकार इस पूर्णयोग में रूपान्तर की प्रक्रिया के मूल में तान्त्रिक ज्ञान भी क्रियाशील हैं।<sup>१</sup>

फिर भी श्री अरविन्द का पूर्णयोग तांत्रिक योग नहीं है। तंत्र में शक्ति ही सर्वस्व है जबकि पूर्णयोग में आत्मा ही सर्वस्व है। तांत्रिक योगक्रिया का आरम्भ होता है नीचे से और उच्चासन तक पहुँचने के लिए सोपानों का विभाजन मिलता है, इसलिए सर्वाधिक बल शक्तिजागरणक्रिया पर है और इसी प्रसंग में षट्चक्रों का उद्घाटन शारीरिक चेतनाशक्ति के विभिन्न क्षेत्रों का उद्घाटन है। किंतु श्री अरविन्द के पूर्णयोग में स्वयं मनुष्य एक मानसिक चेतना अथवा आत्मा के रूप में स्वीकृत है। इस योग में इस चेतना के प्रकाश से जीवात्मा के आध्यात्मीकरण की क्रिया स्वीकृत है। इस क्रिया से व्यक्ति उच्चतर शक्ति के प्रति उद्घाटित होता है और उसकी पूर्ण प्रकृति ही क्रियाशील होती है। इसी कारण इस योग में सर्वाधिक बल चित्त में आत्मशक्ति के उपयोग पर और ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के त्रिगुणात्मक साधन के दिशान्तर पर है। इसमें राजयोग और हठयोग का अधिक उपयोग नहीं है।<sup>१</sup> श्री अरविन्द के इस प्रकार के योग सम्बन्धी विचार एवं साधन का पारम्परिक योग के विहंगम योग के अन्तर्गत विचारित किया जा सकता है।

इस पूर्णयोग की और व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द ने कहा है कि इस योग में मुख्य दृष्टि आत्मसमर्पण पर है जिसमें सर्वविध पूर्णयोग काम्य है। इसमें योग के लक्ष्यों का विस्तार है। तांत्रिक मत यद्यपि मुक्ति को अन्तिम लक्ष्य तो मानता है किंतु एकमात्र नहीं। वह आध्यात्मिक शक्ति, प्रकाश की पूर्णता के साथ ही भुक्ति को भी स्वीकार करता है। वह एक ऐसी परमानुभूति को सामने रखता है जिसमें मुक्ति, विश्वेश्वर्य और योग का एकात्मीकरण सभी विरोधों और विषमताओं की विजय में हो जाता है। यद्यपि इन्हीं आध्यात्मिक तत्त्वों की व्यापक दृष्टि से उनके योग का आरम्भ होता है तथापि इसमें एक बात यह भी जोड़ देते हैं कि यह मानुषी चेतना दिव्य तत्त्व के साथ होनेवाली सर्वातीत एकता की ओर प्रभावित होने वाली व्यक्ति चेतना मात्र नहीं है अपितु वह एक वैश्व चेतना है जो दिव्य तत्त्व से एकात्म प्राप्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से पूर्णयोग का सर्वप्रथम लक्ष्य है जीवात्मा की वैयक्तिक मुक्ति, दिव्य तत्त्व के साथ सत्, चित् और आनन्द में एकात्म का आभोग। जीवात्मा के दिव्य तत्त्व के साथ वैश्व एकात्म का मुक्त आभोग—यह दूसरा लक्ष्य है। इससे एक तीसरा लक्ष्य भी प्रकट होता है—सभी प्राणियों के साथ दिव्य एकात्म के अर्थ का परिणमन। मानवता में दिव्य तत्त्व के आध्यात्मिक प्रयोजन में सहानुभूति और सहयोग करने से ही इस कार्य में सिद्धि मिल सकती है।<sup>१</sup>

१. वही० पृ० ३९-४०।

२. वही० पृ० ४२-४३।

३. वही० पृ० ४२-४३।



इन्हीं भेदक तत्त्वों की ओर संकेत करते हुए श्री अरविद आगे कहते हैं कि तंत्रों में चक्रों का उन्मीलन और कुण्डलिनी का जागरण जैसी क्रियाएं एक विशेष क्रिया द्वारा साधित होती हैं जब कि इस पूर्णयोग में कार्य उच्च शक्ति के प्रेरण से, उस शक्ति के अवतरण से, सम्भव होता है। व्यक्ति की इच्छा पर इसका उद्घाटन मान्य नहीं है। तांत्रिक साधन में इनका उन्मीलन मूलाधार से आरम्भ होता है, जबकि पूर्णयोग में ऊपर से नीचे की ओर यह क्रिया होती है, यद्यपि इस योग में भी आरोहण क्रिया नीचे से ही आरम्भ होती है। अर्थात् शक्ति का अवतरण सर्वप्रथम सहस्रार, फिर क्रमशः हृदय और फिर उससे नीचे के केंद्रों पर होता है। इसमें साधक विभिन्न तंत्रोद्दिष्ट देवताओं का अनुभव न कर मातृत्व का ही विभिन्न चक्रों में दर्शन करता है।<sup>१</sup>

श्री अरविद के तंत्र वैशिष्ट्य एवं उससे पूर्ण योग के वैषम्य से सम्बन्धित इन विचारों से यह प्रकट होता है कि वे तंत्र एवं उसकी साधना को भारतीय मानते हैं, जादू या टोना-टोटका भी नहीं मानते और न उसे हेय ही मानते हैं। दूसरे वे उसे वेद और वेदांत की कोटि में स्थान देते हैं। तीसरे यद्यपि उनके पूर्ण योग सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त तंत्र से गृहीत प्रतीत होते हैं तथापि उनका योग तांत्रिक योग से बहुत भिन्न है। चौथे, चेतना के विकास से सम्बन्धित श्री अरविद के सिद्धान्त के बीज तंत्र में मिलते हैं। इन दृष्टियों से तंत्र सम्बन्धी श्री अरविद के विचार अध्येताओं के लिए प्रकाश रूप सिद्ध हो सकते हैं।



# सौन्दर्यानुभूति और श्रीअरविन्द का समाज-दर्शन

डॉ० हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव,

रीडर, समाजविज्ञान विभाग, का० हि० वि० वि०

आधुनिक मानव के ज्ञान की सीमा निर्धारित करना आवश्यक है। हमारे लिए इस जगत् से परे कोई सत्य नहीं है। यदि लोकातीत सत्य का संप्रत्यय स्वीकार भी कर लिया जाय, तो हमारे लिए उस सत्य का जगत् से जो सम्बन्ध है, केवल वही महत्त्वपूर्ण है। अलौकिक सत्य, सौन्दर्य, आनन्द या शक्ति के होने—न होने पर बहस नहीं की जा सकती, न यहाँ हमें वह अभीष्ट ही है। वह हमारे सामान्य ज्ञान की सीमा से बाहर भी है। अपने इस परिसीमित दृष्टिप्रारूप से जब हम श्री अरविन्द के सामाजिक चिन्तन का विवेचन करते हैं, तो बहुत कुछ ऐसा पाते हैं, जो आधुनिक समाज के लिए भी उपयोगी है। सामाजिक परिवर्तन और प्रगति के विषय में यों तो बहुत कुछ कहा जा चुका है, मगर 'सामूहिक जीवन सौन्दर्यानुभूति-पूर्ण हो सकता है'—इस आयाम पर श्री अरविन्द का योगदान वस्तुतः महत्त्वपूर्ण और मार्गदर्शक है।

श्री अरविन्द अबुद्धिवादी, अथवा यों कहें कि पराबौद्धिक चिन्तक हैं। ज्ञान के क्षेत्र में तर्कबुद्धि की भूमिका को वे सीमित मानते हैं। सौन्दर्य और शुभ—जो बुद्धि से परे की वस्तु हैं—उनके सामाजिक चिन्तन के केन्द्रबिन्दु हैं, दिव्य-चेतना केवल आधार मात्र है। व्यक्ति निजी प्रयत्नों से एक नैतिक सौन्दर्य-बोध अर्जित करता है, और जब बहुत से लोग इस बोध को आत्मसात् कर लेते हैं, तो उनके एकात्म्य से एक नये प्रकार का आध्यात्मिक समाज निर्मित होता है। श्री अरविन्द सामूहिकता के अनावश्यक दबाव को व्यक्ति के विकास में बाधक मानते हैं। वे सामूहिकता के लक्षणों पर उतनी नहीं, जितनी व्यक्ति के आंतरिक गुणों के अविरल उद्विकास पर आस्था रखते हैं।

## सौन्दर्यबोध और व्यक्ति का आन्तरिक स्वभाव

श्री अरविन्द के अनुसार जीवन और जगत् दोनों ही भोगमय हैं। उनके एक भक्त की बातें बरबस मन को छू जाती हैं। "यह संसार फीका है। सब कुछ मानो एक दुःस्वप्न का आभासमात्र है, परन्तु फिर भी बुद्ध, शंकर, ईसा, श्रीचैतन्य आदि आध्यात्मिक गुरु, सभी मनुष्य को सृष्टि के प्रति इस आकर्षण से फेर नहीं सके"....."मनुष्य इसे व्यर्थ नहीं कर सका और न कर सकेगा।"<sup>1</sup> जीवन दुःखमय हो तो भी उसका त्याग नहीं किया जा सकता। हम दुःखों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य के जीवन की सम्भावनाएँ विशाल हैं। जड़ सृष्टि और भगवान् में भेद नहीं है। इस जड़-सृष्टि के माध्यम से ऐश्वर्य का क्रमशः प्रस्फुटन हो रहा है। मानव-हृदय में सौन्दर्यानुभूति की स्वाभाविक प्रवृत्ति जग रही है। पूर्ण समर्पण से (किसी भी नैतिक नियम या वस्तु के प्रति) सौन्दर्यबोध का चरम बिन्दु प्राप्त होता है। तर्क-बुद्धि से परे होकर ही व्यक्ति समर्पित होता है। समर्पण एक योगिक प्रक्रिया



है। श्री अरविन्द ने भगवती माँ के प्रति समर्पित होने का सुझाव दिया है। वैयक्तिक जीवन में 'समर्पण' का प्रतीक 'माँ' है और सामाजिक-जीवन में 'आध्यात्मिक एकता'। दोनों ही 'अखण्ड सच्चिदानन्द' के स्वरूप हैं, दोनों ही मूलतः सौन्दर्यानुभूति हैं।

सौन्दर्य-बोध पर आधारित श्री अरविन्द का 'दिव्य सत्य' (मूल्य के रूप में सच्चिदानन्द) एक विश्वास-पद्धति भी है, और कोई भी विश्वास-पद्धति तभी सशक्त होती है, जब वह कला के आकारों में परिणत हो जाय। श्री अरविन्द की सौन्दर्यानुभूति की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति 'सावित्री' में हुई है। कला का सहारा लेकर ही विश्वास सनातन होता है। तर्क-बुद्धि में उलझ हुआ (या उलझाया हुआ) व्यक्ति मृत्यु-भय और जीवन के मोह से संव्रत रहता है, तर्क-बुद्धि से ऊपर उठकर, दिव्य-चेतना एवं प्रेम को समझनेवाला व्यक्ति ही भय और मोह पर विजय प्राप्त करता है। 'सावित्री' का यह सन्देश है, जो श्री अरविन्द के सामाजिक-चिन्तन का आधार-तत्त्व है। श्री अरविन्द सौन्दर्यानुभूतिवादी होने के साथ ही अबुद्धिवादी भी थे। वस्तुतः तर्क-बुद्धि की सीमा से ऊपर उठना केवल सौन्दर्यानुभूति द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा व्यक्ति शून्यवाद के कगार पर पहुँच जायगा। श्री अरविन्द ने, तर्कबुद्धि के आधार पर बढ़ रही दुनिया के इसी खतरे को समझकर सौन्दर्याभिमुख स्व-संचालन का नियम प्रस्तावित किया। सच पूछा जाय तो, सौन्दर्यबोध को विकसित करने के अतिरिक्त आज की दुनिया के संकट को दूर करने का कोई दूसरा दृष्टिकोण सम्भव नहीं दीखता।

श्री अरविन्द के कुछ उपासक यह भी मानते देखे गये हैं कि 'दिव्य-चेतना' का अवतरण आप ही आप हो जायगा, व्यक्ति जीवन और समाज का आध्यात्मीकरण बिना किसी सचेत प्रयत्न के हो जायगा। अगर इस प्रकार की धारणाओं पर भरोसा किया जाय, तो फिर सामाजिक चिन्तन, नीति, नियोजन, क्रान्ति—कुछ भी आवश्यक नहीं है, उद्देश्यपूर्ण नैतिक समाज स्वयं संरचित हो जायगा। वस्तुतः श्री अरविन्द ने इस प्रकार की बात कभी नहीं कही। आध्यात्मिक युग के उदय और विस्तार को व्यक्ति के प्रयत्न (कर्मयोग) का ही प्रतिफल मानते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा है—“यहाँ हमें इस उपयोगितावादी सिद्धान्त को एक विस्तृत और गहन रूप देना होगा, कि 'सत्य' वह है, जिसका हम सृजन करते हैं, और इस अर्थ में सबसे पहले सत्य वह है जिसे हम अपने अन्दर गढ़ते हैं, दूसरे शब्दों में, जो हम स्वयं बनते हैं।”

श्री अरविन्द हर योगमार्गी की तरह ही व्यक्तिवादी हैं। एक-एक व्यक्ति यदि आध्यात्मिक सन्दर्भ में अपने आपको 'अन्दर से गढ़ ले', तो उनके योग से संरचित सम्पूर्ण समाज आध्यात्मिक हो जायगा। सामूहिकता (यहाँ तक कि सम्प्रदायमूलक धर्मवाद भी) समाज को भ्रष्ट ही करती है, अतएव व्यक्ति को निजी स्तर पर 'स्वयं बनना' चाहिये। श्री अरविन्द का अपना जीवन इस सत्य का साक्षी है कि व्यक्ति के भीतर दिव्य-चेतना किस प्रकार रूपायित होती है, और इसके बाद व्यक्ति समाज के साथ किस तरह पेश आता है। सन् १९०९ में श्री अरविन्द को दिव्य-चेतना का आभास हुआ था। उसके बाद, आजीवन वे विभिन्न अनुष्ठानों के माध्यम से समाज के पुनर्निर्माण और उदोवधन का संगठित प्रयत्न करते रहे। दिव्य-चैतन्य व्यक्ति की सामाजिक भूमिका का आदर्श प्रारूप श्री अरविन्द की



1972 ]

सौंदर्यानुभूति और श्रीअरविन्द का समाज-दर्शन

55

जीवन-भूमिका है। व्यक्ति और समाज, दोनों में होने वाले मानव-विकास की अनिवार्यता तीन अवस्थाएँ होती हैं—अबौद्धिक युग, तर्कबुद्धि युग और पराबौद्धिक युग। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि पराबौद्धिक चेतनायुक्त व्यक्ति वही करेगा जो श्री अरविन्द ने किया। और इस प्रकार पराबौद्धिक युग में पहुँचकर समाज मानवतावादी एकता के सूत्र में बँध जायगा तथा मानवीय गुणों के विकास के आधार पर अन्तरराष्ट्रीय समुदाय गठित होगा। आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचा हुआ व्यक्ति या समाज 'पराबौद्धिक सौन्दर्य' को प्राप्त करता है। श्री अरविन्द ने स्पष्ट कहा है—

“जिस वस्तु की हम सौंदर्य द्वारा खोज कर रहे हैं वह वही है जिसकी हम धर्म के द्वारा खोज कर रहे हैं, वह वस्तु पूर्ण सत्ता अर्थात् भगवान् हैं।”<sup>3</sup>

प्रश्न उठता है कि सौंदर्य द्वारा हम क्या खोज रहे हैं? संभवतः व्यक्ति ( समाज की इकाई ) के आंतरिक स्वभाव की खोज करते हैं, सौंदर्यबोध के कारण स्वाभाविक रूप से दिव्य हो जाय। यह तभी संभव है, “जब वह मन, अहंभाव, स्वार्थ, कामना, आवेश तथा समस्त प्रकार की वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित रह कर, उत्तरोत्तर अपने आपको शुद्ध करता जाय।”<sup>4</sup> अपने अंदर गढ़े हुए नियम के प्रति समर्पित होने से व्यक्ति अपने ‘आन्तरिक स्वभाव की खोज’ कर लेता है। श्री अरविन्द के विचार से, सौंदर्य और शुभ पृथक् नहीं हैं—“जो बात सौंदर्य एवं अध्यात्म के सिद्धान्त के लिए है वही शुभ के सिद्धान्त के लिए भी है।”<sup>5</sup> ( आधुनिक सौंदर्यशास्त्र दोनों को पृथक् मानता है )।

### विकास के मनोवैज्ञानिक अवस्थान

सामाजिक विकास-क्रम की परिकल्पना कार्ल मार्क्स ने की है किन्तु बाहरी आंकड़ों के आधार पर। श्री अरविन्द ने अपने ‘मानव चक्र’ में आंतरिक कारकों के आधार पर मानव-समाज का इतिहास प्रस्तुत किया है। इसे इतिहास का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी कहा जा सकता है। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि बाहरी परिस्थितियों से मानव-बुद्धि प्रभावित होती है, या मानव-बुद्धि से परिस्थितियाँ निर्धारित होती हैं।

श्री अरविन्द ने इस प्रकार की कार्य-कारण संबंधी समस्याएं न तो उठायी हैं, और न सुलझायी हैं। कवि की भाँति उन्होंने मानव का विकास क्रम विवेचित कर दिया है। अलग-अलग उनकी विवेचना के दौरान उनकी इस धारणा का आभास अवश्य होता है कि परिस्थितियों के कारण ही मानव की वर्तमान मनोवैज्ञानिक समस्याएं आविर्भूत हुई हैं। अब ऐसी भी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं जिनमें ‘एक विश्व’, ‘एक विश्व सरकार’ और आदर्श एकता में एक मानव समुदाय की मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ उभर रही हैं। कार्ल मार्क्स ने इसे अतिरिक्त संरचना समझ कर टाल दिया। किन्तु श्री अरविन्द ने मानव-विकास की संभावनाएँ पराबौद्धिक युग तक पहुँचायी हैं। उनका यह सिद्धान्त उच्च कोटि के काव्य की भाँति प्रतीकात्मक अथवा मिथकीय महत्त्व रखता है। इसकी प्रामाणिकता इसके तथ्यगत होने में नहीं, बल्कि प्रतीकात्मक संप्रत्यय को जीवन में साकार कर लेने में है।

### अबौद्धिक युग

मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विकास-क्रम के उस अवस्थान को अबौद्धिक युग कहा जा सकता है, जहाँ उसका ‘निर्मल विवेक’ अभी जागृत न हुआ हो। मनुष्य अपनी मूल प्रवृत्तियों,



आवेगों तथा सहज विचारों द्वारा प्रेरित होकर व्यवहार करता है। अपनी परिवेशगत सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत वह पारम्परिक व्यवहार करता है। अवबौद्धिक युग में केवल आदिम मानव ही नहीं आते, वरन् विकसित सभ्यता के स्तर पर पहुँच कर भी अगर मानव बुद्धि 'निर्मल विवेक' विहीन रहे तो उसे भी यही नाम दिया जायगा। यह युग कालपरक नहीं, प्रतीकात्मक है। श्री अरविन्द इस युग के विधेयात्मक पक्ष को स्वीकार करते हैं। इस अवस्थान में भी तर्कबुद्धि तथा आध्यात्मिकता के स्रोत विद्यमान रहते हैं।

### तर्कबुद्धि युग

पारम्परिक नैतिकता (राज्य और धर्म आदि सामाजिक संस्थाओं का दबाव) जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देती है कि व्यक्ति का 'व्यक्तित्व' और विवेक कुण्ठित होने लगे, तो विद्रोह के रूप में व्यक्तिवादी और तर्कबुद्धिवादी अवस्थान प्रारम्भ होता है। यूरोप के आधुनिक इतिहास को दृष्टि में रखकर श्री अरविन्द ने व्यक्तिवाद को 'अस्वीकृति का काल' माना है। भौतिक विज्ञान की विजयपूर्ण प्रगति ने 'इस प्रकार का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से भी अनिवार्य' सिद्ध कर दिया। व्यक्ति अब एक गिरोह का सदस्य मात्र न होकर 'अपने आप में मङ्गलपूर्ण प्राणी' बन गया है।<sup>1</sup> व्यक्ति स्वयं ही अपने आपको अन्दर से गढ़ता है। श्री अरविन्द सम्प्रदाय और राज्य को व्यक्ति के ह्रास का कारण मानते हैं। वे व्यक्ति को इतना पूर्ण बना देना चाहते हैं कि इन दमनकारी संस्थाओं की आवश्यकता ही न रह जाय। टॉलस्टाय और गांधी की तरह श्री अरविन्द भी संभवतः अराजकतावादी (अनाकिस्ट थे) व्यक्ति का अस्तित्व (अधिकार सहित) समूह के अधीन नहीं हो सकता। व्यक्ति केवल समाज के लिए ही नहीं है, वरन् निजी विकास के लिए भी है, और सामूहिकता की घुटन की अपेक्षा स्वच्छन्दता की खुली हवा में वह अपेक्षाकृत अधिक विकास कर सकता है, और इस प्रकार सारा समाज विकसित हो सकता है। यही वह सूत्र है, जो क्रमशः व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक विकास (पराबौद्धिक स्तर तक) के क्रम में दिव्य-चेतना की उपलब्धि को संभव बनाता है। अन्यथा सामूहिकता से श्री अरविन्द विशेष आशा रखते नहीं देखते।

तर्कबुद्धि पर आधारित आधुनिक सभ्यता के चरित्र तथा उसके उपयोगितावादी दृष्टिकोण की आलोचना श्री अरविन्द ने उसे 'उत्तेजनाप्रधान' समझकर की है लेकिन अन्त में उन्होंने स्वीकार किया है कि इस उत्तेजना प्रधान व्यक्ति का रूपान्तरण भी स्वयं परिस्थितिगत कारणों से हो रहा है, विशेषतः शिक्षा की नवीन प्रणालियाँ समाज के नवीन सिद्धान्त क्रियात्मक संभावना के क्षेत्र में आने शुरू हो गये हैं, जिनसे संभवतः एक दिन ऐसी घटना घटित होगी, जो अभी अज्ञात है, अर्थात् मनुष्यों को एक ऐसी जाति की—केवल एक वर्ग की नहीं—सृष्टि होगी, जिन्होंने कुछ सीमा तक अपने मनोमय पुरुष को प्राप्त एवं विकसित कर लिया होगा, वह सुसंस्कृत मनुष्य जाति होगी।<sup>2</sup>

### अतिबौद्धिक युग

मनुष्य एक मनोमय प्राणी है, इस कारण वह अपने आपको रूपांतरित कर सकता है। मानव-जीवन की दो मूल इच्छा शक्तियाँ हैं—पहली, जीवन की इच्छाशक्ति, जो शारीरिक क्रियाओं का नियमन करती है और दूसरी है प्रगतिकारी इच्छाशक्ति, जो उसके कर्म की मुख्य सामर्थ्य में



निहित है। श्री अरविन्द का कहना है कि यही इच्छाशक्ति 'जीवनशक्ति' को मनके विचारों से उठा सकती है और हमारी आन्तरात्मिक शक्ति द्वारा कार्य कर सकती है। जब तक मनुष्य की दूसरी इच्छाशक्ति पहली इच्छाशक्ति से जुटी रहती है (शारीरिक भोग के संदर्भ में) तब तक वह अपनी 'दोहरी प्रकृति' से छुटकारा नहीं पा सकता। "मानव मन की समस्त व्याकुलता, असंतुष्टि, श्रममुक्ति श्रान्ति, उदासी और निराशा का स्रोत मनुष्य की उस व्यावहारिक असफलता में है, जो उसे अपनी दोहरी प्रकृति की पहली और कठिनाई को हल करने में प्राप्त होती है।" रूपान्तरण का रहस्य उच्चतर चेतना में रूपान्तरित होना है। तर्कबुद्धि और मन, दोनों अधूरे होने के कारण, ऊपर उठाने में असमर्थ हैं। श्री अरविन्द इस बिन्दु पर पहुँच कर सौंदर्यानुभूतिवादी (आध्यात्मवादी) हो जाते हैं। आध्यात्मिक इच्छा हमें उस स्तर तक पहुँचा सकती है, जहाँ चेतना शरीर एवं संसार के बंधनों से मुक्त होकर सौंदर्यबोध (अर्थात् शुभ) की अनुभूति प्राप्त कर सके।

श्री अरविन्द अपने सामाजिक चिन्तन को 'आध्यात्मिक यथार्थवाद' की संज्ञा देते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि हमें 'प्राणिक भाग' और 'आत्मा के भाग' में से किसी एक को चुनना होगा और ऊर्ध्वगमन का लक्ष्य चुनकर स्वयं 'अपनी पूर्णता का सिद्धान्त बनाना पड़ेगा'। उन्हीं के शब्दों में—यह एक प्रकार का मनोमय उपयोगितावाद (Mentalised Pragmatism) होगा। समर्पण के बिना व्यक्ति या समाज आध्यात्मिक नहीं बन सकता। श्री अरविन्द 'अहं' को (व्यक्तिगत अथवा सामूहिक) समर्पित कर देना चाहते हैं। जब व्यक्ति पूर्णरूपेण समर्पित हो जाता है, तो 'आत्मा का अभ्युदय' होता है। उनके शब्दों में—“एक आध्यात्मिकृत समाज, ठीक अपने आध्यात्मिक व्यक्तियों के समान ही, अहं में नहीं, बल्कि आत्मा में निवास करेगा, एक सामूहिक अहं के रूप में नहीं, बल्कि सामूहिक आत्मा के रूप में अस्तित्व रखेगा।” सौंदर्य के माध्यम से मनुष्य नैतिक सत्ता की खोज या स्थापना करता है। श्री अरविन्द का कहना है कि “मनुष्य की नैतिक सत्ता भी उसकी सौंदर्यात्मक और धार्मिक सत्ता की तरह सनातन की खोज है, यह अवबोधिक स्थिति से आरंभ करके, मध्य में तर्कबुद्धि का आश्रय लेते हुए पराबौद्धिक पूर्णता तक पहुँचती है।”<sup>१०</sup>

—०—

१. श्री विजयकान्त रायचौधरी : श्री अरविन्द का योग, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी। १९६२, पृ० २-३।
२. श्री अरविन्द : मानव-चक्र, अनु० लीलावती इन्द्रसेन, पांडिचेरी १९७०, पृ० ३००।
३. वही, पृ० १६२।
४. वही, पृ० १७३।
५. वही, पृ० १७३।
६. वही, पृ० १४।
७. वही, पृ० १०१।
८. वही, पृ० २७०-७१।
९. वही, पृ० २९१।
१०. वही, पृ० १७४।



## अरविन्द का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान

डॉ० पीताम्बर दत्त कौशिक,

रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, का० हि० वि०

१९०९ के अलीपुर बम केस में अपने नवयुवक अभियुक्तकी पैरवी करते हुए एक नव-युवक वकील ने न्यायाधीश बीचक्राफ्ट को संबोधित करते हुए भविष्यवाणी की थी—

“जब कि यह विवाद मौन का रूप धारण कर चुकेगा, जब कि यह अशान्ति और आन्दोलन समाप्त हो चुकेगा, जब कि अभियुक्त मृत होकर इस संसार से जा चुकेगा, उसके बहुत बाद भी वह देशभक्ति के कवि, राष्ट्रीयता के पैगम्बर और मानवता के प्रेमी के रूप में सम्मानित किया जायेगा। जब कि वह मृत हो कर जा चुकेगा, उसके बहुत बाद भी उसके शब्द न केवल भारत में वरन् सुदूर सागरों और प्रदेशों के पार भी ध्वनित और प्रतिध्वनित होंगे।”

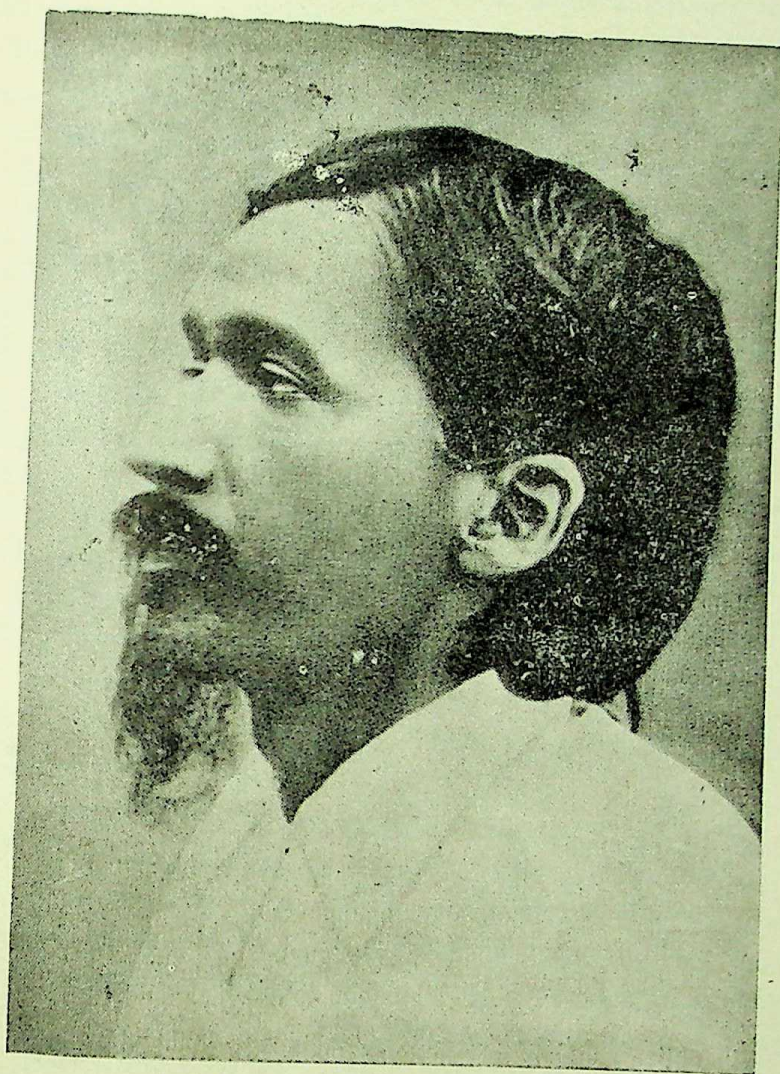
यह प्रतिभाशाली वकील देशबन्धु चित्तरंजन दास थे, जिन्होंने बाद में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राष्ट्रपति पद को सुशोभित किया और अभियुक्त थे श्री अरविन्द घोष। वकील की अपने अभियुक्त के बारे में भविष्यवाणी शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध हुई। अपनी मृत्यु के अनेक दशकों के बाद भी श्री अरविन्द महर्षि अरविन्द और योगीराज अरविन्द के रूप में विश्व भर में स्मरण किये जाते हैं।

श्री अरविन्द को एक महान् योग साधक और आध्यात्मिक गुरु के रूप में विश्व-ख्याति प्राप्त हुई है। पांडिचेरी का योगाश्रम उनकी एक महान् उपलब्धि माना जाता है। परन्तु वस्तुतः अरविन्द बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने योग के क्षेत्र में ही नहीं वरन् अन्य अनेक क्षेत्रों में भी सराहनीय सफलताएं प्राप्त की थीं। वे बहुभाषाविद् थे। अंग्रेजी, फ्रेंच, बंगला, गुजराती, संस्कृत लैटिन और ग्रीक अनेकानेक भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। वे एक कुशाग्रबुद्धि छात्र, एक सफल अध्यापक, एक लोकप्रिय पत्रकार, एक महान् योगी, एक विश्वविख्यात आध्यात्मिक गुरु और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक देशभक्त सेनानी थे, श्री के० एम० मुंशी के शब्दों में “गत शताब्दी में, दूसरा ऐसा विचारक नहीं हुआ, जिसमें श्री अरविन्द के बराबर गहराई हो। दूसरा ऐसा योगी नहीं हुआ, जिसने जीवन के रहस्यों की इतनी सावधानीपूर्वक खोज की हो।” “साथ ही श्री अरविन्द आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण के महान्तम प्रवक्ता बन गये।”

### एक चमकती उल्का

श्री अरविन्द की बहुमुखी प्रतिभा का एक छोटे से निबन्ध में मूल्यांकन करना संभव नहीं है। हम उनके व्यक्तित्व के केवल एक पक्ष—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के एक सेनानी के रूप में उनके योगदान—की चर्चा करेंगे। श्री अरविन्द ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रूप से अत्यन्त थोड़े समय—लगभग पांच-वर्ष तक भाग लिया था। “वे राजनीति के आकाश में एक





श्री अरविन्द अलीपुर जल में (कलकत्ता-१९०८)



व  
ह  
क  
म  
व  
(  
म

व  
प  
वि  
में  
की  
'उ  
देश

महा  
में  
प्रार



1972 ]

अरविन्द का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान

61

चमकते उल्का के समान प्रकट हुए और लुप्त हो गये" ( गुरुमुख निहाल सिंह ) । परन्तु इस अल्पकाल में ही उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में न केवल एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया, वरन् उसे एक नवीन तेजस्विता भी प्रदान की ।

श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त, १८७२ को कलकत्ता में हुआ था । उनके पिता डॉ० कृष्णधन घोष एक कट्टर आंग्लीयतावादी थे । वे पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने अपने पुत्रों को न केवल पूर्णतः पाश्चात्य शिक्षा प्रदान की, वरन् उन्हें अपनी मातृभाषा बंगला में बातचीत तक नहीं करने दी । श्री अरविन्द की प्रारम्भिक शिक्षा दार्जिलिंग के एक योरोपियन काण्वेंट स्कूल में हुई तथा ७ वर्ष की आयु में उन्हें एक 'समग्रतः अंग्रेजी शिक्षा' प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड भेज दिया गया । परन्तु पाश्चात्य सभ्यता की चमक-दमक से अभिभूत होने के स्थान पर श्री अरविन्द उत्कट देशप्रेम से प्रेरित हुए । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में, जब कि अधिकांश भारतीय नेता ब्रिटिश शासन को एक दैवी वरदान मानते थे, उन्होंने न केवल भारतीय स्वतंत्रता का विचार प्रस्तुत किया, वरन् उसकी प्राप्ति के लिए सक्रिय कदम भी उठाया ।

श्री अरविन्द का महान् देशप्रेम किशोरावस्था में ही दृष्टिगोचर होने लगा था । उनके पिता डॉ० कृष्णधन पाश्चात्य सभ्यता के पुजारी होते हुए भी देशभक्त थे । उनका विश्वास था कि भारत का कल्याण पाश्चात्य जीवन पद्धति और कार्य-पद्धतियों को अपनाते से ही हो सकता है । वे अपने पुत्रों में बराबर भारत में ब्रिटिश सरकार के अन्यायों और हृदयहीनता की चर्चा करते रहते थे । इससे उनके पुत्रों, विशेषकर अरविन्द के हृदय में भारत की पराधीनता के विरुद्ध गहरा क्षोभ उत्पन्न हो गया । जब १८९१ में कैम्ब्रिज में इंडियन मजलिस की स्थापना हुई, तब अरविन्द ने न केवल उसकी गतिविधियों में सक्रिय भाग लिया, वरन् उसके सचिव भी रहे । लन्दनवासी भारतीयों की एक बैठक में 'कमल और खंजर' ( Lotus and Dagger ) नामक एक गुप्त संगठन की स्थापना में भी उन्होंने सक्रिय भाग लिया ।

इंग्लैंड में अरविन्द ने न केवल विद्यार्थी के रूप में अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया, वरन् वे १८९० में आई० सी० एस० की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए । परन्तु वे घुड़सवारी की परीक्षा में असफल रहने के कारण आई० सी० एस० से हटा दिये गये । अनेक लोगों का विचार है कि अरविन्द अपने पिता की इच्छा पूरी करने के लिए आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठ गये थे, परन्तु वे सरकारी नौकरी करना नहीं चाहते थे तथा जान-बूझ कर घुड़सवारी की परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहे थे । कुछ भी क्यों न हो, जैसा कि लाला लाजपतराय का मत है, 'उनकी असफलता उनके देश के लिए भगवान् की अनुपम कृपा थी । यदि ऐसा न होता तो देश एक महान् राष्ट्रीय नेता से वंचित रह जाता ।'

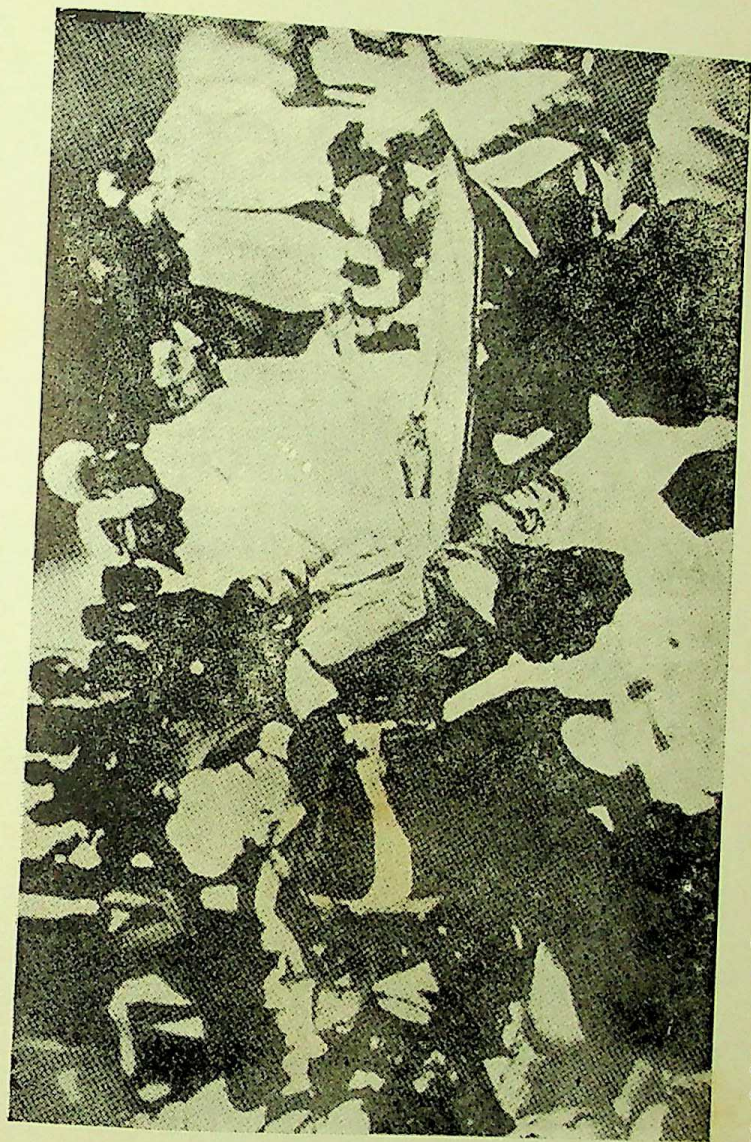
श्री अरविन्द १८९३ में भारत वापिस आये । इस बीच लन्दन में उनकी भेंट बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ से हुई, जिन्होंने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें बड़ौदा-राज्य सेवा में नियुक्त कर दिया । वे १८९३ से १९०६ तक १३ वर्ष बड़ौदा की सेवा में रहे । उन्होंने प्रारम्भ में राजस्व विभाग में कार्य किया । उसके बाद बड़ौदा कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक



इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री अरविन्द भारतीय राजनीतिक आकाश में एक धूमकेतु के समान अत्यन्त थोड़े समय तक चमक कर लुप्त हो गये। उनके पांडिचेरी चले जाने के बाद उनके द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम के विकास की गति अवरुद्ध हो गई, परन्तु फिर भी श्री अरविन्द और उनके राष्ट्रवादी सहयोगियों ने अल्प काल में ही इतना कुछ कर दिया था कि भारतीय राजनीति का सम्पूर्ण रूप और भारतीय जनता की सम्पूर्ण मनोवृत्ति ही बदल गई। स्वतंत्रता भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य तथा असहयोग और प्रतिरोध उसके साधन बन गये। फलतः जब प्रथम विश्वयुद्ध के अपूर्ण वायदों और जलियाँवाला बाग के दमन के सन्दर्भ में गाँधी जी स्वराज्य और असहयोग के नारों के साथ भारत के राष्ट्रीय मंच पर अवतरित हुए, तब उन्होंने भारतीय जनता को संघर्ष के लिए पूर्णतः प्रस्तुत पाया। दूसरे शब्दों में श्री अरविन्द ने गाँधी जी के कार्य के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत किया तथा गाँधी जी ने श्री अरविन्द के अधूरे कार्य को पूरा करके भारत माता को दासता की शृङ्खलाओं से मुक्त किया।

—o—





१९०६-१९०७-पूना के राष्ट्रवादी सम्मेलन में बाल गंगाधर तिलक बोलते हुए एवं श्री अरविन्द दाहिनी ओर बैठे हुए ।







## POLITICAL VIEWS OF SRI AUROBINDO : AN ANALYSIS

Dr. R. H. Sharan,

Head of deptt. of Political Science, B. H. U.

Sri Aurobindo is one of the greatest spirito-political personalities in the realm of political thinkers of the 19th-20th centuries India. Sri Aurobindo's spirito-political ideas germinated and crystallised during a particular period and subsequently underwent changes partly because of his inner urge and partly because of the uncongenial ecology in which he found himself.

Sri Aurobindo belongs to that period of Indian History which is characterised as 'colonial' when the best in the Indian culture, and tradition was crushed and subdued by alien rulers and the western impact upon the minority, western-educated elite was proving unsalutary to the cause of Indian nationalism (as understood by Sri Aurobindo). The Indian National Congress which epitomised the political consciousness of a few 'moderate' elites in the country was simply struggling for certain administrative and constitutional reforms against all odds; and was not able to achieve anything substantial.<sup>1</sup> True it is, that Sri Aurobindo's long stay in England had deprived him of direct and personal contact with the political trends of the country but it is also true that he had a passion for Indian culture, and tradition and was a nationalist and a great patriot. This is evident from the fact that Sri Aurobindo deliberately got himself disqualified from the I. C. S.<sup>2</sup> and at an earliest opportunity came to India in a modest capacity of a civil servant in the Baroda state service in 1893. Since then he tried to keep himself abreast to Indian developments and it was during the early part of his Indian State service (1893-1905) he gave vent to some of his thoughts on the current politics in which he also gave inkling to his latter political ideas which began to crystallise after his retirement from active politics in 1910.

Sri Aurobindo, as an Indian intellectual, while following the course of the national movement under the aegis of the moderates in

1. New Lamps for Old, No 3, Indu Prakash, August 28, 1893.

2. Prophet of Indian Nationalism : Dr. Karan Singh, Bhartiya Vidya Bhawan, p. 37.



the Congress, was also preparing his mind and of his associates for a more active and vigorous participation in the national cause. During this period he began to develop a 'scholistic' attitude towards the socio-economic and politico-cultural problems of the country.<sup>1</sup> He could forestall well that pure rationalism will not enfuse among the unsophisticated masses of the country that amount of energy and enthusiasm which was required for an active, and broad-based national movement. Rationalism should be tempered with spiritualism, intuition and the inner urge of the soul. It was this realisation, most likely, which led Sri Aurobindo to define 'nation' and 'nationalism' not purely from a rational point of view nor could he look at the national movement simply as an instrument for achieving certain administrative reforms. He treated them as 'spiritual' in origin and nature<sup>2</sup>, and to this extent, he tried to Indianise those concepts. According to him "Nation...is a mighty Shakti composed of all the Shakties of all the millions of units that make up the nation, just as Bhawani Mahisa Mardini sprang into being from the Shakti of all the millions of Gods assembled in one mass of force and welded into unity. The Shakti we call in India, Bhawani Bharti, is the living entity of the Shakties of three hundred million people."<sup>3</sup> Sri Aurobindo regarded Nation as a divine living entity—a Mother<sup>4</sup> and, therefore, considered Nation supreme to individual. The identification of Nation with the 'Mother'<sup>5</sup> led him to ask for all sacrifices for her sake from the people. He knew that unless this identification was emphasised there could hardly be any mass appeal and mass participation in the struggle for freedom.

With this spiritual concept of Nation, it was logical for him to impart a new meaning to Nationalism. For him 'Nationalism'...was 'a religion' that had 'come from God', and, as such, it was 'immortal' and could not be 'crushed'.<sup>6</sup> Looked from this spiritual point of view, Sri Aurobindo found the nationalists of his time short of expectation in dedication and sacrifice. He not only condemned the 'mendicant'

- 
1. Prophet of Indian Nationalism, op. cit. pp. 47-62; The Liberator : Sisir Kumar Mitra, Jaico Book, pp. 35-62.
  2. The Liberator, op. cit., pp. 63-150;
  3. 'Bhawani Mandir' : Sri Aurobindo Mandir Annual Jayanti Number, 15 August, 1956.
  4. 'Bandematram', 16 April, 1907.
  5. The Ideal of the Karmayogion, p. 14., Quoted by Sri Sisir Kumar Mitra, op. cit., p. 142.
  6. Speeches of Sri Aurobindo, p. 7,



policy of the Moderates and of the Congress but also their goal.<sup>1</sup> Sri Aurobindo stood for an active mass movement and believed in Swadeshi, Boycott and direct action for the sake of achieving complete independence for the country.<sup>2</sup> Sri Aurobindo, like Tilak and Pt. Madan Mohan Malaviya<sup>3</sup>, was not averse to 'violence' completely as was evident from his own active participation in the Extremist and Terrorist Movements, 1905-1908, in the country. Struggle for freedom for him was the 'divine will' and, therefore, it must be waged with courage and determinism. Sri Aurobindo, unlike Marx, believed in 'spiritual determinism' in human history and through out his life he championed it. For Sri Aurobindo the 'Mother' could not be kept in bondage by the aliens nor could she be bled-white by them. It is against this philosophical back-drop that Sri Aurobindo's role as an extremist be viewed and his contribution to the nationalist cause be appreciated. He was, thus, not only a catalyst of the current nationalist views but also a constructive political worker with concrete plan for action. The partition of Bengal, 1905, afforded him the opportunity to practice the plan. He wanted the nationalists to be 'dedicated' to the cause of India's 'Swaraj' in the same way as a religious devout to his Goddess. Nationalism was the 'divine' dictate, and, therefore, must be followed by all and in the same spirit of selfless dedication.<sup>4</sup> But as behind all these spirito-political ideas there was the assumption of a spiritual men also, which unfortunately, like Plato's Philosopher king, were rare to find, Sri Aurobindo was constrained to seek 'sanyasa' from active politics ( there might be other reasons as well ) to find out first, ways and means for preparing spiritual men before a 'spiritual human society' could be established.<sup>5</sup>

During his long spell of meditation, writings and deep thinking at Pondicherry, Sri Aurobindo reflected upon the current political events and ideas, like war and peace, Democracy, Socialism totalitarianism, anarchism, and finally, finding these concepts and

- 
1. New Lamps for Old, No. 4, Indu Prakash, 7 August, 1893; and Speeches of Sri Aurobindo, pp. 85-86.
  2. He stood for 'Swaraj', Bande Matram, 3 May, 1908.
  3. Pt. Madan Mohan Malaviya : Professor M. B. Lal, Aaj ( Daily ) 25-12-72.
  4. Bande Matram, 26 April 1907; 15 December, 1907; The Doctrine of Passive Resistance, Sri Aurobindo, pp. 77-78.
  5. The Liberator, op. cit., Quoted a letter of 1932 which Aurobindo wrote to a disciple which hints to this conclusion, p. 148.



systems unsuitable for the 'spiritual' mass of humanity at large, prescribed a scheme for a spiritual anarchist's Society, a step for ahead of Sri Jayaprakash Narain's utopia.<sup>1</sup>

Sri Aurobindo's retirement to Pondicherry in 1910 provided him ample time to evaluate the current politics of the country in a detached manner of a spirito-political thinker. Being dissatisfied with the pure materialistic and middle-class character of the Nationalist movement of the Congress, Sri Aurobindo stressed on the mass participation in the national struggle for independence and had given his moral support to Gandhi's mass non-cooperation and civil disobedience movements. He also had his blessings for the quit India movement as all these were the mass movements aiming at 'Swaraj'. But he was unhappy over the communal disharmony and regional conflicts. In a series of his articles he tried to emphasise the essential human unity irrespective of differences in religion, culture and race. The emergence of fissiparous tendencies in India<sup>2</sup> were against the very grain of his concept of spiritual unity of the human soul. It was this aspect of his thinking which most probably impelled him, like Gandhi, to lament over the partition of the country in 1947<sup>3</sup> and made him wish for the unification of India and Pakistan—not by force but 'naturally, by an increasing recognition of the necessity not only of peace and concord but of common action, by the practice of common action and the creation of means for that purpose.'<sup>4</sup> Sri Aurobindo visualised a great spiritual role for an independent India in the course of the evolution of human civilisation and particularly in Asia. With the liberation of India he wished for an early resurgence and liberation of the whole of Asia so that India and Asia both could play their destined role 'in the progress of human civilisation.'<sup>5</sup>

Sri Aurobindo further analysed the present course of evolution of human civilisation in which democracy, socialism, totalitarianism, anarchism, liberty, equality and fraternity all were playing their roles in some way or the other. He said, "If we may judge, the pro-

1. Social and Human Reconstruction : Jayaprakash Narayan.

2. Karmayogin (An English weekly), 6 November, 1909; A letter of Sri Aurobindo & his disciple, 19 Oct. 1945, published in the Amrit Bazar Patrika, 26 March, 1954.

3. Sri Aurobindo's message, 15 August, 1947.

4. Ibid.

5. Ibid.



gress of the reason as a social renovator and creator, if not interrupted in its course, would be destined to pass through three successive stages, which are the very logic of its growth, the first individualistic and increasingly democratic with liberty for its principle, the second, socialistic, in the end perhaps a governmental communism with equality and the state for its principle, the third, if that ever gets beyond the stage of theory anarchistic in the higher sense of that much abused word, either a loose voluntary cooperation or a free communalism with brotherhood or comradeship and not government for its principle.<sup>1</sup> For Sri Aurobindo these were the imperfect stages based upon pure rational and materialistic bases devoid of any spiritual foundation but leading to a more perfect stage of human evolution which may be called as an era of 'spiritual anarchism' where the ideal of human unity will be possible, where the spiritual liberty and equality will be practised and where external compulsion will be replaced by spiritual submission voluntary in nature.

Sri Aurobindo while accepting the role of reason in the development of human civilisation seems to be convinced that as reason, as was the case in the 'age of reason,' could not be applied 'universally', in practice, reason aimed at replacing ruling classes by individualistic democracy.<sup>2</sup> According to him there was a wide gap between democratic ideas and actual facts of human nature. Human reason in democracy was not applied to arriving at the truth or right judgement nor was used 'to come to an agreement with his fellows' <sup>3</sup> On the contrary, it was used for ones own 'interests' or 'prejudices' or 'impulses' or 'to enforce ones own opinion by struggle and conflict with the opinion of other.'<sup>4</sup> Democracy in practice, according to him, became 'an instrument either of a modified aristocratic or of middle class' rule and involved 'an immense waste of time and energy'<sup>5</sup>. It led to the 'more precarious rule of a dominant class over the ignorant' and finally, to 'a war of classes.'<sup>6</sup> Democracy failed to provide liberty and equality and much less fraternity to the people in general. Partly this was the result of industrialism which led to the development of 'an increasing plutocratic tendency' under the garb of democracy.

---

1. The Human Cycle : Sri Aurobindo, p 181.

2. Ibid. pp 183-85.

3. Ibid. p 185.

4. The Ideal of Human Unity, pp 450-51.

5. The Human Cycle.

6. Ibid.



Aurobindo, therefore, considered it as 'the initial bankruptcies of the rational age.'<sup>1</sup> But a necessary stage in the process of evolution of human civilisation.

The second stage in the process of development of human civilisation was Socialism which emerged as a 'reaction to Capitalism.' According to Sri Aurobindo, 'Socialism sets out to replace a system of organised economic battle by an organised order and peace.'<sup>2</sup> But Socialism denied 'democratic basis of individual liberty on the one hand, and 'the inherited right to Property in order to establish equality' on the other.' Sri Aurobindo considered Socialism as an excellent theory but pointed out great discrepancy between the ideas of Socialism and the actual facts of human nature. Socialism ignored 'the soul of man and its supreme need of freedom'<sup>4</sup> and Sri Aurobindo who firmly believed in the spiritual freedom would not commend Socialism as a panacea for all ills.

Socialism ultimately would lead to totalitarianism which in its turn will not only destroy the rational and intellectual expression of the human mortal being but will also herald the end of liberty, equality and fraternity.<sup>5</sup> Sri Aurobindo did not consider it desirable nor could he call it as an ideal. But as an inevitable result of Socialism, it was treated as a step towards the last stage of evolution of human reason, i.e. anarchism.<sup>6</sup>

Sri Aurobindo was sure of a reaction to the supremacy of the state under Socialism and Totalitarianism because individual will not tolerate by nature excessive control and dominance.<sup>7</sup> This reaction, according to him, will take the form of anarchism. But the intellectual anarchism will also fall short of expectation as it will not give premium to individual soul and its freedom. Aurobindo, therefore, tried to substitute intellectual anarchism with 'spiritual anarchism.'<sup>8</sup> Because it is only under this system that there can be fulfilment of liberty, equality, and fraternity. In order to achieve this, Sri Aurobindo provided the path of spiritual enlightenment which can be obtained by means of establishing human unity on the basis of freedom of soul and under the guidance of a 'Supermind'.

1. The Ideal of Human Unity, pp 444-448.

2. The Human Cycle, pp 188-89.

3. Ibid, pp 195-7.

4. Ibid, pp 196-7; 193-4.

5. Ibid, pp 193-4.

6. Ibid, pp 199-207.

7. Ibid.

8. Ibid.



## RELIGIOUS EXPERIENCE : RUDOLF OTTO AND SRI AUROBIND\*

Ramesh Chandra Sinha

In this paper, an attempt has been made to find along with significant differences, several striking similarities between the two representative thinkers of East and West, Sri Aurobindo and Rudolf Otto.

The present paper is based on two major works of Otto and Aurobindo i. e. *The Idea of the Holy* and *The Life Divine* respectively. Otto's category of the 'holy' has been viewed as similar in certain fundamental respects to Aurobindo's category of 'divine' in as much as both are religious concepts and not merely ethical or moral concepts. Both Aurobindo and Otto conceive religious experience as non-rational. Non-rational is neither anti-rational nor irrational but Supra-rational. Sri Aurobindo contends that intuition is not the highest source of knowledge as it is also affected by the subjectivity of human mind. As such he contemplates 'Supra-mental consciousness.' 'Supra-mental consciousness' absorbs the essence of sense experience, reason and intuition and transcends their limitations. 'Supra-mental consciousness' of Aurobindo is akin to 'numinous experience' of Otto for both are non-rational but it differs in the sense that the former is integral and the latter is mystical. Sri Aurobindo and Otto like Paul Tillich and Sāṅkara tone down the agnosticism of Kant and realise the unknown by non-rational religious experience. According to Vedāntins, Otto and Sri Aurobindo, though the Absolute or the unconditioned is unknowable to reason yet it is comprehended by the higher modes of experience like 'intuition', 'numinous experience' and 'supra-mental consciousness.' Aurobindo like Tillich believes that reason is a limited faculty but its role in religion and theology cannot be minimized.

Aurobindo's 'integral experience' absorbs sense-experience, reason and intuition and at the same time transcends them whereas Otto's 'numinous experience' creates a gulf between rational and non-rational. G. D. Hicks and H. J. Paton also maintain that the relation of the non-rational to the rational element in Otto's account of religious experience is precisely the most baffling aspect of it. Sāṅkara also fails to reconcile intuition with reason for whereas the former comprehends reality,

---

\* This paper was read in All India Philosophical Congress of 1968 held at Patna.



the latter gives only the illusory experience. Otto's 'numinous experience' is also concerned with the category of the 'holy' which is 'Wholly other'. Aurobindo makes an improvement and removes the serious limitation of Otto and S'ankara by envisaging the possibility of integral experience.

Though Otto distinguishes his 'feeling' from Schleiermacher's psychological and subjective feeling and gives objective tinge to it yet it is susceptible to confusion. Otto's feeling is feeling about some object and not feeling into. Religious experience is not feeling about but something like spiritual realisation. The Greek word *empathy* is equivalent to Otto's creature feeling. Otto's creature feeling is feeling about and 'empathy' is feeling into.

Otto's category of the 'holy' as numinous has been assigned over-plus meaning which is minus moral factor and minus rational aspect. Aurobindo's category of 'divine' is neither minus moral factor nor minus rational aspect. It is rather above both. Otto's category of 'holy' cannot be interpreted in terms of the Good, the Beautiful and the True, whereas Aurobindo's category of the 'divine' which is termed as *Sat-chit-ananda*, can be interpreted in terms of the Good, the Beautiful and the True.

Otto's conception of 'holy' like S'ankara's Absolute seems to be something fixed above. S'ankara realises the difficulty as to how the union of man and God can be attained if God is Absolute or 'Wholly other'. Otto does not seem to be very much conscious of this problem. If the reality were utterly transcendent to the self of man, in that case, it would not be able to say even that it is 'Wholly other'. This difficulty is solved by Sri Aurobindo as he does not believe in any gulf existing between man and the divine. Man is eternally one with the Divine and at the highest level of his spiritual experience, has an all embracing vision of the divine existence.

There is a striking similarity between the ideas of two books namely *The Idea of the Holy* and *The Life Divine*. Otto's category of 'holy' is similar to Aurobindo's category of the divine. Both 'holy' and 'divine' are not ethical but religious concepts. The terminologies like 'holy' and 'divine', 'numinous experience' and 'supra-mental consciousness' have got close affinity. The comparison has not been done with a view to show the superiority of the one over the other but to understand one thinker in the light of the other.

Religion involves experience. It is experience of the 'holy' for Otto and the 'divine' for Sri Aurobindo. Religious experience according



to Otto as well as Sri Aurobindo is mainly non-rational. Though the rational element is not altogether denied by them. In contemporary literature on religion a distinction is often made between non-rational and rational. In ordinary parlance, non-rational is equated to passion, will, desire and volition. Otto stipulates non-rational in the sense of supra-rational and not infra-rational. In his introduction to *The Idea of the Holy*, John W. Harvey the English Translator writes, "The feelings, Otto has to explore are, he seeks to show, though a non-rational sort of apprehension, in no sense an anti-rational element in human experience. In religion at its highest the rational and non-rational are intimately woven together."<sup>1</sup> Religious experience is technically known as 'numinous experience' in Otto's terminology and 'integral experience' in Sri Aurobindo. It is necessary to make it clear that by non-rational, one should not assume 'irrationalism'. Otto observes, "The irrational is to-day a favourite theme of all who are too lazy to think or too ready to evade the arduous duty of clarifying their ideas and grounding their convictions on a basis of coherent thought."<sup>2</sup> Aurobindo contends that religious experience is not of the nature of sense-experience or mind. It is supramental in nature. The integral religious experience is not based on any source of knowledge whether it is sense-experience or reason or intuition. These different sources of knowledge cannot give us an integral and all-embracing view of Reality. According to Sri Aurobindo, even intuition is not the highest or the supreme for it is conditioned by human subjectivity. Sri Aurobindo takes that 'Supramental consciousness' like 'numinous experience' of Otto and admits that intuition does take us to the ontological category of 'divine' or 'holy' but does not give us the integral and all embracing view of Reality. Dr. Misra observes, "The different systems of Vedānta, for example, arrive at totally different views of reality inspite of their recognition of intuition as the highest and the real source of knowledge."<sup>3</sup> Aurobindo seems to be aware of the defect of intuition and this leads him to contemplate 'Supra-mental consciousness'. 'Supra-mental consciousness' is beyond reason but not against reason. It absorbs the essence of sense experience, reason and intuition and transcends the limitations and subjectivity of human mind. 'Supra-mental consciousness'

1 Otto, Rudolf; *The Idea of the Holy* ( E. T. by John. W. Harvey, penguin Books, 1959 ) P. 10.

2 Ibid ; (Foreword by Otto ) P. 13.

3 Misra, R. S : *Integral Advaitism* ( Banaras Hindu University Press, First edition, 1957 ) P. 25.



ness' is akin to 'numinous experience' for both are non-rational but differs in the sense former is integral and the latter is mystical. Here it is required to be mentioned that intuition can be taken into two senses e.g. lower and the higher senses. Aurobindo's 'supra-mental consciousness' and Otto's 'numinous experience' are taken into higher sense and not in the lower or restricted sense. As philosophers of religion, Otto and Aurobindo find out the limits of reason in particular field of human experience and point out its role in religion. Like Kant, Otto and Aurobindo, seem to be conscious of the limitations of reason for it works under the conditions of categories of mind. Kant declared God to be unknown and unknowable. Reason fails to unveil nature of ontological reality. Kant's contention gets serious challenge from other thinkers like the vedāntins. The 'unknown' is not unknowable. According to the vedāntins, and Otto and Sri Aurobindo, unknown becomes known through non-rational experience like intuition, revelation, supra-mental consciousness and numinous experience. Otto, Paul Tillich, S'āṅkara and Aurobindo attempt to tone down the agnosticism of Kant and realise 'unknown' by non-rational religious experience. Paul Tillich contends in his book *Systematic Theology* ( Vol. I ) that reason is limited and suffers from inherent difficulties. But he does not undermine the role of reason in theology. Reason serves as a pointer to 'Divine' or 'Holy'. Tillich thinks to resolve the contradictions of reason in 'revelation' which is certainly Supra-rational experience. With Hegelians Sri Aurobindo traces evolution in religion and accepts the value of reason to purge religions of its infra-rational elements but unlike them, he subordinates reason to Supra-rational experience.

In spite of the fact that religious experience is non-rational for both Aurobindo and Otto, there are striking contrasts in their expositions. Aurobindo's integral knowledge absorbs sense experience, reason and intuition whereas Otto's 'numinous experience' creates gulf between rational and non-rational. Prof. G. D. Hicks writes in his book *The Philosophical Bases of Theism* that Otto's non-rational and the rational as consisting merely of concepts, involves an abstraction which precludes him even from so much as indicating any middle term by which to bring them into union. Otto treats the 'numinous' as strictly non-rational and it is simply incomprehensible how it could ever be clothed with the ideas of goodness, mercy and love. Prof. H.J. Paton in his book entitled *The Modern Predicament* points out that the relation of the non-rational to the rational element in Otto's account of religious experience is precisely the most baffling aspect of it. Otto, on the one hand, speaks of a 'unique original feeling-response'. The 'Numinous



feeling' is non-rational and non-conceptual. It is the inmost core of religion at all its levels. On the other hand, he attempts to relate this 'numinous feeling' to human reason. There seems a cleft between rational and non-rational in Otto's religious experience. Though Otto and his followers may not accept it yet we find a sense of justification in this criticism. Since Otto's 'numinous experience' is mystical in nature, it is prone to be cut off rational experience. Sāṅkara also fails to reconcile intuition with reason for whereas the former comprehends reality and the latter gives appearance. Otto's 'numinous experience' is concerned with the category of the 'holy' which is 'wholly other' and according to G.D. Hicks and Paton Otto undermines the empirical reality of rational level. Being mystic by temperament and in his approach, Otto like Sāṅkara fails to bridge the gulf between rational and non-rational in religious experience. Here we find a sort of improvement in Sri Aurobindo's religious experience which is 'integral' in nature. 'The Integral knowledge' says Sri Aurobindo, "is something that is already there in the integral reality, it is not a new or still non-existent thing that has to be created, acquired, learned, invented or built up by the mind; it must rather be discovered or uncovered it is a truth that is self-revealed to a spiritual endeavour for it is there veiled in our deeper and greater self; it is the very stuff of our own spiritual consciousness, and it is by awaking to it even in our surface self that we have to possess it. There is an integral self-knowledge that we have to recover and because the world-self also is our self an integral world knowledge."<sup>1</sup> Thus 'integral experience' of Aurobindo removes the serious limitation of Otto and Sāṅkar's non-rational experience.

Otto's religious experience is a sort of feeling which is technically known as 'Creature feeling'. He has attempted to distinguish his 'creature-feeling' from Schleiermacher's 'feeling of dependence'. He tries to give objective tinge in place of Schleiermacher's psychological or subjective feeling. Nevertheless, Otto's 'feeling' is succseptible to confusion. Why Otto does not use the more suitable and prevalent word like 'intuition' to indicate his supra-rational religious experience.<sup>2</sup> This boils to the point that the feeling of Otto is not something like spiritual realisation. Religious experience does not invoke feeling but inculcates realisation of 'Divine' or 'Holy'. It is neither emotional annoyance nor vague mystic feeling nor fancy nor make-believe rather integral reali-

1 Aurobindo : *The Life Divine*, vol. II, Pt. II ( Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1955 ) p. p. 755-56.

2 Op. cit. P. 19.



sation of the reality as a whole. There is one Greek word *empathy* which is equivalent to Otto's 'Creature feeling'. But '*empathy*' is feeling into and creature feeling is feeling about Sri Aurobindo's religious experience is not 'feeling about' but 'feeling into'.

Otto's non-rational experience tends to undermine value consciousness. This point is clear when we consider the overplus meaning of the category of 'holy'. Otto contends, "we generally take 'holy' as meaning 'completely good' it is the absolute moral attribute denoting the consummation of moral goodness."<sup>1</sup> He says, "It is true that all this moral significance is contained in the word 'Holy' but it includes in addition as even we cannot but feel a clear overplus of meaning and this it is now our task to isolate."<sup>2</sup> If the ethical element was present at all, at any rate it was not original and never constituted the whole meaning of the word. Otto observes, "Any one who uses it to-day does undoubtedly always feel, 'the morally good' to be implied in holy, and accordingly in our enquiry into that element which is separate and peculiar to the idea of the 'holy', it will be useful at least for the temporary purpose of the investigation to invent a special term to stand for 'the holy' minus its moral factor or 'moment' and as we can now add, minus its 'rational' aspect altogether."<sup>3</sup> But according to Aurobindo, 'divine' is neither minus moral nor minus rational aspect. The idea of the holy obtained through non-rational experience is not enough for religion because moral values are kernel of religion. Otto's non-rational experience tends to undermine value consciousness but Sri Aurobindo does not afford to do so. Otto's category of 'holy' cannot be interpreted in terms of the Good, the Beautiful and the True whereas Aurobindo's category of 'divine' which is termed as *Sat-Chitananda*, can be interpreted in terms of the Good, the Beautiful and the True.

The experience of the 'holy' is regarded as an illumination descending upon man from the Beyond. In integral experience of Sri Aurobindo, there is not only a descent or illuminating consciousness from Beyond but there is also ascent of man to the divine level and thus man relishes the Divine in his inmost self as well as in the whole of existence. The problem of union between man and God remains baffling in Otto's treatment of religious experience. Radhakrishnan observes, "If the real were utterly transcendent to the self of man, it

1 Loc. cit.

2 Loc. cit.

3 op. cit; P. 20.



1972 ]

## RELIGIOUS EXPERIENCE

77

would be impossible for us to apprehend even dimly its presence. We would not be able to say even that it is 'wholly other.'<sup>1</sup> This difficulty is solved by Sri Aurobindo as he does not believe in any gulf existing between man and Divine. Aurobindo conceives that the self of man is a portion of the divine and is thus one with it. Man is eternally one with the Divine and at the highest level of his spiritual experience has an all embracing and luminous vision of the divine existence.

---

<sup>1</sup> Radhakrishnan, S. : *An Idealist view of Life* ( George Allen & Unwin Ltd., 1961 ) P. 81.



## ह्वाइटहैड एवं अरविन्द के विकासवादी सिद्धान्त

प्रमोद कुमार कोयल,

शोध छात्र, दर्शन विभाग, का० हि० वि०

ह्वाइटहैड एवं श्री अरविन्द आधुनिक युग के दार्शनिक चिन्तकों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। विकासवाद के क्षेत्र में उनके योगदान अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। इस लेख में उनके विकासवादी सिद्धान्तों का संक्षिप्त, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

दोनों दार्शनिकों की विचारधाराओं में सबसे मुख्य साम्य यह है कि वे दोनों ही, विकासवाद में, ऊर्ध्व आरोहण द्वारा उच्चतर ध्येयों की प्राप्ति में अपनी अद्वैत आस्था प्रकट करते हैं। ह्वाइटहैड ने ईश्वर और जगत् के सतत विकासशील रूपों पर जो बल दिया है उससे उनके दर्शन का विकासवादी रूप नितान्त स्पष्ट हो जाता है। उनका अवयवीय सिद्धान्त विकास-प्रक्रिया का सूक्ष्म बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। श्री अरविन्द के अनुसार ईश्वर एक ऐसा विश्वव्यापी सक्रिय तत्त्व है जो अपना स्वरूपानन्द विकास-प्रक्रिया द्वारा अभिव्यक्त करता है। शक्ति सत्ता में निहित होती है एवं विकास तथा गति उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में, “विश्वसत्ता शिव का आनन्द नृत्य है जो ईश्वर को असंख्य रूपों में दृश्य बनाता है, परन्तु वह उस परम सत्ता को ठीक वहीँ और उसी रूप में रहने देता है; उसका एकमात्र उद्देश्य है—नृत्य का आनन्द लेना।”<sup>१</sup>

ह्वाइटहैड एवं श्री अरविन्द दोनों ही नव्योत्क्रान्तिवादी ( एमरजेन्ट ) विकास-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जगत् में नूतन तत्त्वों का निरन्तर प्रादुर्भाव होता रहता है। नित्य बिन्दुओं ( एन्टीटिस ) के ब्रह्माण्ड में प्रवेश ( इनग्रेशन ) करने से नवीन तत्त्वों की उत्पत्ति होती रहती है। ह्वाइटहैड के शब्दों में, “नित्य वस्तुएँ विश्व के शुद्ध बीजरूप हैं।”<sup>२</sup> इसके फलस्वरूप ब्रह्माण्ड की प्रगति होती है।

ह्वाइटहैड का कालातीत वस्तुओं के ब्रह्माण्ड में प्रवेश करने विषयक सिद्धान्त श्री अरविन्द के उच्चतर तत्त्वों के निम्नतर तत्त्वों में अवरोहण ( डिसेण्ट ) से मेल खाता है। ह्वाइटहैड ब्रह्माण्ड के विकास हेतु उच्चतर तत्त्व का निम्नतर तत्त्व में प्रवेश अनिवार्य मानते हैं और श्री अरविन्द भी निम्न की उच्च तक पहुँचने की लालसा की पूर्ति हेतु उच्च के निम्न में अवरोहण को अपरिहार्य मानते हैं। दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि विकास हेतु निम्न एवं उच्च के बीच सम्पर्क होना आवश्यक है।

दोनों विचारकों का मत है कि समस्त उच्च एवं नवीन तत्त्व जड़ पदार्थ ( मैटर ) में ही प्रकट होते हैं। अस्तित्व के सभी रूप जड़-पदार्थ में ही उत्पन्न होते हैं और इसलिए वे

१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० ७४।

२. ह्वाइटहैड : प्रॉसेस एण्ड रीयलिटी, पृ० २०८।



परस्पर संश्लिष्ट होते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार, “यदि आध्यात्मिक विकास हमारे जन्म एवं जागतिक अस्तित्व का केन्द्रीय लक्ष्य नहीं होता तो इस तरह का विकास संभव नहीं था; जड़ पदार्थ में मन, जीवन एवं आत्मा विकास इस तथ्य का सूचक है कि यह संश्लेषण...ही इसका मुख्य हेतु है।”<sup>१</sup>

दोनों दर्शनों में विकास-प्रक्रिया एक अवयवीय वृद्धि है। श्री अरविन्द के दर्शन में ब्रह्माण्ड के विकास के समय निम्नतर तत्त्वों का उच्चतर तत्त्वों के साथ संश्लेषण होता है। ह्लाइटहैड भी ब्रह्माण्ड को कोषयुक्त (सैल्यूलर) देहों वाले प्राणी के समान मानते हैं। विकास की प्रक्रिया निरन्तर विस्तृत होती रहती है। प्रत्येक यथार्थ विन्दु के द्वारा जगत् निरन्तर विनष्ट और उत्पन्न होता रहता है। रचनात्मकता (क्रिएटिविटी) की गति एक वर्ष के गेंद की गति के समान है जो कि परिधि से केन्द्र की ओर बढ़ने में उभरती जाती है।

दोनों दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर ही विकास-प्रक्रिया का नियन्त्रक, निदेशक एवं मूल कारण है। ब्रह्माण्ड के विकास हेतु वह कालातीत रूपों को सदा देश एवं काल में प्रकट करता है। ह्लाइटहैड के अनुसार ईश्वर की रचनात्मक क्रिया के बिना कालातीत नित्य विन्दुओं को देश-काल से सीमित जगत् में प्रकट नहीं किया जा सकता। यद्यपि प्रत्येक यथार्थ विन्दु आत्मगत प्रयोजन से ही प्रेरित है तथापि विश्वव्यापी स्तर पर ईश्वर ही चरम तत्त्व एवं मार्गदर्शक है। अतः उसे परिसीमन अथवा ‘मूर्त्तता (कांक्रिशन) का तत्त्व’<sup>२</sup> कहा जाता है। ईश्वर नित्य वस्तुओं का आधार भी है। “ईश्वर की प्रकृति आदर्श रूपों के राज्य का प्रत्यय रूप में पूर्ण साक्षात्कार है।”<sup>३</sup> ईश्वर केवल सृष्टा ही नहीं, अपितु सांसारिक प्राणियों का सुहृद् भी है। वह जगत् को उत्पन्न करता एवं उसका आनन्द भोगता है। श्री अरविन्द के अनुसार भी ईश्वर ब्रह्माण्ड में सतत उच्चतर आध्यात्मिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति में रत रहता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, “यहाँ परम पुरुष, जो कालातीत एवं विश्वव्यापी चेतना से युक्त है, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ के रूप में हमारे सामने आता है।”<sup>४</sup>

ह्लाइटहैड एवं श्री अरविन्द दोनों ही इस बात पर एक मत हैं कि विकास-प्रक्रिया के किसी भी चरण में जीव अपनी वैयक्तिकता को नहीं खोता; विश्वव्यापी तत्त्व में लीन नहीं होता। जीव का अनन्त काल तक विकास होता रहता है। वह अधिकाधिक आध्यात्मिक श्रेष्ठता का स्वामी बनता जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार व्यक्ति एवं विश्वव्यापी तत्त्व में कोई विरोध नहीं है; वे एक दूसरे के पूरक हैं। “व्यक्ति के महत्व..... का तभी पोषण किया जा सकता है जब कि उसे विश्वव्यापी तत्त्व के बराबर ही सत्य माना जाय; वस्तुतः वे दोनों (व्यक्ति एवं विश्व) नित्य सत्ता की ही शक्तियाँ हैं।”<sup>५</sup> ह्लाइटहैड भी स्वीकार करते हैं कि ईश्वर इतना क्रूर नहीं कि वह व्यक्ति को नष्ट कर दे। उन्हीं के शब्दों में, “जगत् का निर्माता

१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० ६०७।

२. ह्लाइटहैड : प्रॉसेस एण्ड रीयलिटी, पृ० ३४५ और ४४८।

३. ह्लाइटहैड : रिलीजन इन द मेकिंग, पृ० १३८।

४. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० ३१८।

५. वही, पृ० ६७३।



ईश्वर एक कवि की भाँति है जो सत्य, सौंदर्य एवं शिव के अपने आदर्शों को जगत् में सदैव अत्यन्त सहृदयता के साथ व्यक्त करता रहता है।<sup>१</sup>

दोनों सिद्धान्त व्यक्ति एवं जगत् के एक साथ विकास पर बल देते हैं। ह्याइटहैड अवयवीय सिद्धान्त में व्यक्ति का विकास ब्रह्माण्ड के विकास में योग देता है। ब्रह्माण्ड एवं व्यक्ति एक दूसरे को प्रभावित एवं विकसित करते हैं। श्री अरविन्द भी स्वीकार करते हैं कि विश्व एवं व्यक्ति दोनों ही विकास-प्रक्रिया के अन्योन्याश्रित पहलू हैं।

दोनों सिद्धान्तों में परम सत्ता के नित्य एवं अनित्य पक्षों के बीच सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। ह्याइटहैड के अनुसार ईश्वर के 'आदिम' ( प्राइमोरडियल ) एवं 'परिणामस्वरूप' ( कान्सेक्वेन्ट ) दोनों ही रूप होते हैं। मूलतः वह शुद्ध सत्ता है किन्तु अपने परिणामरूप में वह सक्रिय एवं विकासशील भी है। इसी तरह जगत् भी अपनी अविकसित अवस्था में गतिमान रहता है किन्तु विकसित होने पर नित्य एवं सत् हो जाता है। इस तरह ह्याइटहैड के अनुसार ईश्वर एवं जगत् के नित्य एवं अनित्य पहलू एक दूसरे के पूरक हैं। श्री अरविन्द भी स्थिति एवं गति को एक ही ईश्वर के अभिन्न पहलू मानकर उनमें सामञ्जस्य स्थापित करते हैं। 'शिव' एवं 'शक्ति' दोनों ही ब्रह्म के पहलू हैं।

दोनों ही दार्शनिकों के अनुसार विकास का चरम लक्ष्य विश्व का दैवीकरण है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "सत्य, शिव एवं सौन्दर्य अपने आप में सत्ता के प्राथमिक एवं शक्तियुक्त रूप हैं.....परन्तु अन्ततः उस ब्रह्म का ही, जिसके वे प्रतीक हैं, हमें अनुभव प्राप्त करना होगा।"<sup>२</sup>

इन समानताओं के बावजूद दोनों दार्शनिकों की विचारधाराओं में अनेक अन्तर भी हैं।

ह्याइटहैड विकास-प्रक्रिया के प्रयोजन को समझाने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। रचनात्मकता एक अचेतन सिद्धान्त है, अतः वह विश्व की विकास-प्रक्रिया एवं उसका मार्गदर्शन नहीं कर सकता। इसी प्रकार, ईश्वर भी, जो रचनात्मकता का प्रथम परिणाम है, विकास प्रक्रिया का संचालन नहीं कर सकता। ह्याइटहैड ने ईश्वर के आदिम एवं परिणामस्वरूप रूपों में अन्तर स्थापित कर इस कठिनाई को दूर करने की चेष्टा की है, परन्तु वे इसमें सफल नहीं हो पाये हैं। यदि ईश्वर अपने आदिम रूप में सदैव अचेतन रहता है तो वह जगत् की सृष्टि कैसे कर सकता है? परन्तु ईश्वर का परिणामस्वरूप रूप भी, जिसे ह्याइटहैड चेतन एवं सक्रिय मानते हैं, जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता। चेतन होने पर भी वह स्वयं ही अपूर्ण, सीमित एवं विकासमान है, ऐसी स्थिति में वह जगत् को पूर्णता तक कैसे ले जा सकता है? विकासशील ईश्वर जगत् की सृष्टि तो कर सकता है किन्तु उसका पूर्ण विकास कदापि नहीं कर सकता।

हमारी मान्यता है कि ह्याइटहैड की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वे अपने दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों जैसे नित्य तत्त्वों एवं यथार्थ बिन्दुओं, आदिम ईश्वर एवं परिणामस्वरूप

१. ह्याइटहैड : प्रॉसेस एण्ड रीयलिटी, पृ० ४८०।

२. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० ८०१।



ईश्वर—के बीच की खाई को पाटने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। ये तत्त्व एक दूसरे से स्वतंत्र प्रतीत होते हैं और अन्ततः अनेकवाद को जन्म देते हैं।

ह्लाइटहैड के दर्शन में ईश्वर एवं जगत् के सम्बन्ध को समझानेवाला रचनात्मकता का सिद्धान्त अन्ततः एक रहस्य ही रह जाता है। जिस सिद्धान्त के द्वारा ईश्वर किसी नित्य वस्तु को किसी यथार्थ बिन्दु में उतरने के लिए प्रेरित करता है, वह स्पष्ट नहीं है। अतः विकास के 'क्यों' की व्याख्या नहीं हो पाती। ईश्वर का जगत् के साथ सम्बन्ध जगत् के ईश्वर से सम्बन्ध जैसा नहीं है। जगत् ईश्वर पर आधारित हो सकता है परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि ईश्वर भी जगत् पर आधारित है। जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं, "जगत् ईश्वर के कारण रहता है, ईश्वर जगत् के कारण नहीं।"<sup>१</sup>

डॉ० मैत्र के इस कथन में हमें पर्याप्त सत्यांश दिखाई पड़ता है : "ह्लाइटहैड विकास की ओर अन्त की नहीं, बल्कि आरम्भ की दृष्टि से देखते हैं।"<sup>२</sup> जगत् के साथ ईश्वर का विकास एक ऐसे द्वैतवाद की स्थापना करता है जिसको भरने में रचनात्मकता की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि भी असफल रहती है। यदि जगत् ईश्वर का प्रसार है तो विविधता केवल उसके अनेकत्व को ही अभिव्यक्त करती है। ह्लाइटहैड ने नानात्व तथा गति पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है एवं सत्ता के सत् एवं एकत्व के पहलुओं की उपेक्षा की है। उनके दर्शन में एक ऐसे निरपेक्ष तत्त्व अर्थात् ब्रह्म का अभाव है जो व्यक्त जगत् की विभिन्नताओं में ऐक्य स्थापित कर सके। इसके विपरीत, श्री अरविन्द के अनुसार विकास-प्रक्रिया ब्रह्म की क्रमिक अभिव्यक्ति है। ब्रह्म नाना रूपात्मक जगत् को व्यक्त तो करता है किन्तु इस नानात्व के पीछे भी ऐक्य की भावना सदैव विद्यमान रहती है। उन्हीं के शब्दों में, "एकत्व में नानात्व की अभिव्यक्ति का नियम है; अतिमानसिक ऐक्य में इन विभिन्नताओं का एकीकरण होना ही चाहिए किन्तु इन्हें नष्ट करना प्रकृति को अभीष्ट नहीं।"<sup>३</sup>

ह्लाइटहैड ने विकास के विभिन्न स्तरों में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं दिखलाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विकास का क्रम मानव-स्तर पर ही रुक जाता है यद्यपि ह्लाइटहैड ने स्वयं इसके लिए कोई तर्क नहीं प्रस्तुत किया है। उनका 'प्रवेश' का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है किन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उन्होंने निम्न के उच्च में समावेश पर कोई ध्यान नहीं दिया है जो किसी भी ऐसे सिद्धान्त के लिए एक अनिवार्य शर्त है जो प्रगति के साथ-साथ विकास-क्रम के विस्तारण को स्वीकार करता है।

दूसरी ओर, श्री अरविन्द ने मानव के विकास में मन को सर्वोच्च स्थान नहीं प्रदान किया है। उनकी मान्यता है कि विकास-प्रक्रिया का अगला चरण अनिवार्यतः अति मन के अवरोहण का होगा। उन्होंने मानव के अतिमानसिक विकास का विशद वर्णन किया है एवं असौम के तर्क द्वारा उसका तार्किक एवं बौद्धिक औचित्य सिद्ध किया है।

१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० २८।

२. मैत्र, एस० के० : द मीटिंग ऑफ द ईस्ट एण्ड वेस्ट इन श्री अरविन्दोज़ फ़िलासफ़ी, पृ० ४२९।

३. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० ७९०।



असीम तत्त्व स्वयं सीमित वस्तुओं के विश्व का प्रत्यक्ष स्रष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि किसी विशेष नित्य वस्तु के किसी विशेष यथार्थ बिन्दु में आने हेतु एक निदेशक शक्ति की आवश्यकता है। परन्तु ह्वाइटहेड के दर्शन में ऐसी शक्ति का सर्वथा अभाव प्रतीत होता है। ह्वाइटहेड की इस कमी को श्री अरविन्द ने पूरा किया है। उनके अनुसार अतिमानस ब्रह्म में निहित अनन्त सम्भावनाओं में से कुछ का चयन कर उन्हें साकार करता है तथा इस नाना रूप जगत् की सृष्टि करता है। वह ब्रह्म एवं जगत् को जोड़ने वाली एक कड़ी है।

श्री अरविन्द का 'रूपान्तर' (ट्रांसफारमेशन) का सिद्धान्त विकास-प्रक्रिया को समझाने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। रूपान्तर का अभिप्राय है उच्चतर तत्त्वों के सम्पर्क से निम्नतर तत्त्वों का विकास; परन्तु इस प्रक्रिया में निम्नतर तत्त्वों का विनाश नहीं होता। ह्वाइटहेड ने इस रूपान्तर-सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं किया है और इसीलिए उन्होंने ईश्वर एवं जगत् को एक ही स्तर पर रखने की भयंकर भूल की है।

ह्वाइटहेड का यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रामक एवं निरर्थक है कि विकास-प्रक्रिया दो प्रकार की होती है : एक तो, गतिशील एवं अनित्य जगत् का स्थिति एवं नित्यता की ओर विकास तथा दूसरे नित्य एवं सत्तास्वरूप ईश्वर का अनित्यता एवं गति की ओर विकास। अपूर्ण का पूर्ण की ओर विकास तो सम्भव है किन्तु पूर्ण का अपूर्ण की ओर विकास तो आत्म-विरोधी एवं निरर्थक प्रतीत होता है। यदि ईश्वर गतिमान एवं जगत् के विकास के अधीन है तो विकास का लक्ष्य क्या होगा? ह्वाइटहेड का कहना है कि विकास का लक्ष्य जगत् में दिव्यत्व एवं अमरत्व लाना है। परन्तु यदि दिव्यत्व का अर्थ ईश्वर के स्तर को प्राप्त करना है। तो फिर उसे नित्य मानना अनिवार्य है; अन्यथा दैवीकरण का कोई अर्थ नहीं रह जायगा। वस्तुतः ह्वाइटहेड के दर्शन में देश-कालातीत नित्य ब्रह्म जैसी सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है। वे केवल गतिशील ईश्वर को मानते हैं, अतः दैवीकरण का सिद्धान्त उनके दर्शन में घटित नहीं हो सकता। श्री अरविन्द के दर्शन में दैवीकरण का प्रत्यय सार्थक हो उठता है क्योंकि वे एक ऐसे निरपेक्ष तत्त्व-ब्रह्म को स्वीकार करते हैं जो गति एवं स्थिति को अभिव्यक्त करते हुए भी उनसे अतीत रहता है।

ह्वाइटहेड के अनुसार ब्रह्माण्ड के विकास का अंतिम लक्ष्य ईश्वर एवं जीव का मिलन नहीं है क्योंकि वे जगत् के ईश्वर के रूप में रूपान्तर को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार विश्व-विकास की पराकाष्ठा वस्तुगत अमरत्व अर्थात् नित्यता एवं स्थिति की अवस्था को प्राप्त करने में निहित है। परन्तु विकास की इस चरम अवस्था का मानव के धार्मिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्यों के साथ सामञ्जस्य नहीं किया जा सकता। जगत् के विकास के विषय में ह्वाइटहेड की अपेक्षा श्री अरविन्द का सिद्धान्त अधिक श्रेष्ठ एवं मान्य प्रतीत होता है। उनके अनुसार विकास की पराकाष्ठा मानव के दिव्यत्व को पा लेने में है। "प्रातीतिक अज्ञान का दिव्य सत्ता में निवर्तन (इन्वॉल्यूशन) विकास का केवल प्रारंभिक बिन्दु है। परन्तु वह तत्त्व अपने मूल रूप में सच्चिदानन्द स्वरूप है। अतः विकास-प्रक्रिया में इस सत्, चित् एवं आनन्द की ही अभिव्यक्ति होनी चाहिए।"<sup>१</sup>

१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० ६०९।



1972]

ह्वाइटहैड एवं अरविन्द के विकासवादी सिद्धान्त

83

उपयुक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ह्वाइटहैड ने अपने विवर्तन, निवर्तन, प्रवेश, प्रगति में वृद्धि, ईश्वर का निर्देश एवं रचनात्मकता आदि सिद्धान्तों की सहायता से विकास-प्रक्रिया को समझने में पर्याप्त योग दिया है किन्तु इस दिशा में श्री अरविन्द का प्रयास अधिक प्रशंसनीय है क्योंकि उन्होंने दैवीकरण, रूपान्तर, अतिमानस तथा स्थिति एवं गति को निरपेक्ष ब्रह्म के ही अभिन्न पहलू मानना आदि सिद्धान्तों के द्वारा विकास-प्रक्रिया को समझने में अत्यधिक सहायता की है। उनके सर्वांगपूर्ण विकास-वाद को पूर्वी एवं पश्चिमी विकास के सिद्धान्तों का शिरोमणि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

---



## महर्षि अरविन्द और तांत्रिक-योग-पद्धति

### डॉ० जनार्दन उपाध्याय

महर्षि अरविन्द भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक चिन्तना के महान् उद्गाता हैं। उनकी चिन्तन पद्धति, अन्तर्दृष्टि और साधना भावना एवं विवेक के आधार पर एक ऐसा गतिशील समष्टिमूलक सर्वमान्य ऋषि-मनीषा के उदात्त दर्शन को उपस्थापित करती है जो शरीर, जीवन और मन के रूपान्तर द्वारा अतिमानव बनने की प्रेरणा देता है। अरविन्द की दार्शनिक चिन्तना में चिन्तन की प्रखरता, अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता और समन्वयात्मक ग्राहिका शक्ति का उन्मेष है। इसी शक्ति के परिणामस्वरूप उन्होंने स्वेच्छया जड़ पदार्थ में प्रसुप्त चेतना के विकास के अनेक स्तरों का प्रत्यक्षीकरण करते हुए दिव्य चेतन मन को देखा है। इस सम्बन्ध में उनका मत यह है कि “आध्यात्मिक विकास ही इस पार्थिव अस्तित्व का मूल अस्तित्व, इसका केन्द्रीय सार्थक हेतु—निरन्तर विकासशील स्वरूपायन के रूप में चेतना का तब तक विकास है जब तक रूप अन्तर्वासी आत्मा का उद्घाटन न कर दे।”<sup>१</sup>

अरविन्द ने जीवन रहस्य को जैविक धरातल पर व्याख्यापित न करके उसकी मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक व्याख्या की है। यह बात अवश्य है कि चेतना के ऊर्ध्वगमन में उन्होंने जड़ को अग्राह्य नहीं माना है। जड़ पदार्थ से जीवन के विकसित होने पर जड़ का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता और इसी प्रकार मन के ऊर्ध्वरेता बनने पर जीवन नष्ट नहीं होता। मूलतः यह एक प्रकार की समन्वयात्मक दृष्टि है जो जड़-चेतन, माइण्ड-मैटर के द्वन्द्व और ग्रंथि का विमोचन कर अति मन (Super-Consciousness), अति-चेतना के प्राकट्य को व्यक्त करता है। चेतना के इस स्तर में निम्न-तत्त्वों का नाश नहीं होता, अपितु सभी को अपने में रूपान्तरित करते हुए अति मन ऊर्ध्वरेता बनता है : “दिव्य अथवा आध्यात्मिक जीवन न केवल मानसिक, जैविक और शारीरिक जीवन को अपने भीतर रूपान्तरित और अध्यात्मीकृत कर लेगा, बल्कि अपने धरातल पर जीवित रहने में जितना सुलभ था, उससे कहीं अधिक विस्तृत एवं सम्पूर्णतर अवकाश देगा। आत्म विस्तार से मानसिक, शारीरिक और जैविक अस्तित्व का नष्ट होना आवश्यक नहीं है और नहीं आध्यात्मीकरण से वे क्षतविक्षत होते हैं। वे अधिक समृद्ध, अधिक महानतर, अधिक सशक्त और सम्पूर्ण हो सकते हैं और होते भी हैं। अपने दिव्य परिवर्तन में वे ऐसी सम्भावनाओं में पहुँच जाते हैं जो उनकी अनाध्यात्मीकृत अवस्था में व्यावहारिक अथवा कल्पना सम्भव नहीं हो सकती थी।”<sup>२</sup>

१. अरविन्द : ‘द लाइफ डिवाइन’, १९७० का भारतीय संस्करण, द्वितीय भाग, पृ० ८२४।  
उक्त हिन्दी अनुवाद श्री विश्वनाथ नरवणे के ‘मार्डन इण्डियन थॉट’ के हिन्दी संस्करण से उद्धृत है।

२. वही, पृ० ७२८।





श्री अरविन्द पाण्डीचेरी स्थित अतिथि गृह में (१९१९-१९२०)







[1972 ]

महर्षि अरविन्द और तांत्रिक-योग-पद्धति

85

अरविन्द की यह समन्वयात्मक दृष्टि सब जगह सक्रिय है। इससे उनका दर्शन कभी-कभी जटिल और उलझा हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि एक ही रेखा में जैविक और आध्यात्मिक संवेदन की प्रक्रिया उलझन उत्पन्न करती है। फिर भी ज्ञान के पूर्ण विकास पर इस प्रकार के भ्रम के लिए स्थान नहीं रह जाता।

भारतवर्ष में योग की अनेक पद्धतियाँ हैं। इनमें मुख्यतया दो धाराएँ विशेष विचारणीय हैं। ये दो धाराएँ क्रमशः वैदिक और तांत्रिक धारा हैं। अरविन्द ने तंत्र की योगपद्धति को एक विशिष्ट प्रकार की योग पद्धति कहा है : “भारतवर्ष में अब भी एक विशेष प्रकार की ऐसी योग पद्धति प्रचलित है जो स्वभाव से ही समन्वयात्मक है और जिसका प्रवर्तन प्रकृति के एक महान् केन्द्रस्थ तत्त्व से—प्रकृति की एक प्रचण्ड वेगवती शक्ति से होता है। पर यह है एक पृथक् योग ही, अन्य योग प्रणालियों का समन्वय नहीं। यह योग पद्धति तंत्र की योगपद्धति है।”<sup>१</sup> तंत्र के दो भेद हैं—दक्षिणमार्ग और वाममार्ग, जिन्हें क्रमशः ज्ञान मार्ग और आनन्द मार्ग कहा जाता है : “दक्षिण और वाम—इन दो शब्दों के जो प्राचीन लाक्षणिक अर्थ हैं वे यही हैं कि एक ज्ञान का मार्ग और दूसरा आनन्द का मार्ग। मनुष्य में जो प्रकृति है उसका अपनी शक्तियों, अपने हृत्तत्त्वों और सम्भावनाओं के बल संचय और प्रयोग में विवेक से चलना और इस प्रकार अपने आप को मुक्त करना ज्ञान मार्ग (दक्षिण-मार्ग) है, और प्रकृति का अपनी शक्तियों, अपने हृत्तत्त्वों और सम्भावनाओं के बल संचय में आनन्द की स्थिति बनाये रखना और इस प्रकार अपने आप को मुक्त करना आनन्द मार्ग (वाम-मार्ग) है।”<sup>२</sup>

तांत्रिक वाङ्मय की शाक्त दृष्टि में योग का स्वरूप वैदिक मनीषा को योग-धारणा से भिन्न है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य और सम्प्रदाय शक्ति का मूल केन्द्र ज्ञान मानता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वहाँ ज्ञान शब्द व्यापक रूप में प्रयुक्त है। वैदिक मनीषा में ज्ञान-मात्र बुद्धि द्वारा संचालित विवेक का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, अपितु उसमें हृदयगत प्रेम-श्रद्धा, मन के संकल्पात्मक कर्म भी समाहित हैं। वस्तुतः एक ही ज्ञान शक्ति तीन रूपों में प्रतिफलित है :

(१) बुद्धिगत विवेक या ज्ञान-रूप।

(२) हृदयगत भाव प्रेम-श्रद्धारूप ॥

(३) मन के संकल्प का कर्मरूप।

वैदिक योग-साधना में केन्द्रबिन्दु योगेश्वर चिन्मय पुरुष है। वही सर्वनियन्ता, ज्ञाता, द्रष्टा, आकर्षणकर्त्ता भी है। आशय है वैदिक धारणा में ध्यान का केन्द्र-बिन्दु चिन्मय पुरुष है। उसी की प्राप्ति योगी की चरम उपलब्धि है। तांत्रिक वाङ्मय की शाक्त दृष्टि में पुरुष की अपेक्षा शक्ति को प्रधान माना गया है। यहाँ पुरुषतत्त्व निष्क्रिय है। वह शक्ति तत्त्व से संयुक्त होकर ही क्रियाशील होता है : “शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् न

१. अरविन्द कृत निबन्ध ‘तंत्र और वेदान्त’, कल्याण-शक्ति अंक; पृ० ३२ से उद्धृत।

२. वही, पृ० ३२।



चेदेवं देवो न खलु कुशलस्पन्दितुमपि ।<sup>१</sup> तंत्र के 'मातृका-विलास' के अनुसार 'इ'कार शक्ति-वाचक है। अगर शिव से 'इ' कार को विलग कर दिया जाय तो 'शिव' 'शव' में परिणत हो जाता है। इसीलिए तंत्र में वैदिक योगेश्वर चिन्मय पुरुष के ध्यान की जगह योगेश्वरी का ध्यान ही प्रमुख है। अरविन्द ने स्पष्ट लिखा है, "योगेश्वरी स्वयं प्रकृति, प्रकृतिदेवी, शक्ति, शक्तिमयी, संकल्परूपिणि, सर्ग स्थिति प्रलय रूप संसार की अधिष्ठात्री विधात्री हैं। इन सर्व समर्थ संकल्पशक्ति का रहस्य उनकी कार्य पद्धति, उनका तंत्र जानकर और उसका प्रयोग करके ही तांत्रिक योगियों ने प्रभुता, पूर्णता, मुक्ति और परमानन्द प्राप्त करने के लिए वैसी साधना की।"<sup>२</sup> तंत्र का स्पष्ट उद्घोष है कि शक्ति पूजा ही सब कुछ है। वही अमोघ शक्ति है। उसी के लीला-विलास के स्पन्दन-विस्पन्दन का प्रतिफलन यह जगत है। अरविन्द के अनुसार यह सत्य के एक पहलू को स्पर्श करता है, क्योंकि वेदान्त शक्ति को माया-मरीचिका मानता है। इसलिए कर्म-स्वरूपा प्रकृति से मुक्ति के लिए एक मात्र साधन अचल अकर्ता पुरुष ही है।<sup>३</sup> अरविन्द पूर्ण तत्त्व की कल्पना करते हैं। वे अपनी अन्तर्दृष्टि से ज्ञान स्वरूप आत्मदेव प्रभु और प्रकृतिदेवी को उनकी कर्मशक्ति के रूप कल्पना करते हैं। पुरुष अनन्त ज्ञानधन है। वह आत्म सत्ता रूप है। प्रकृति शक्ति चिद्रूपा है। वह पुरुष की अनन्त आत्मसत्ता की शक्ति है। दोनों का परस्पर सम्बन्धविश्वास है। जब ज्ञान स्वरूप परमानन्द में प्रकृति का समावेश होता है उस समय विश्रान्ति अवस्था आती है। पर जब पुरुष प्रकृति शक्ति चिद्रूपा के कर्म में अपने को डाल देता है तब सृष्टि होती है। यही कर्म और आनन्द का भोग भावानन्द है।<sup>४</sup> जड़-चेतन दोनों का आनन्दभाव यही है। आनन्दानुभूति, विश्रान्ति, सृष्टि की समग्र चेतना में जड़ चेतन दोनों स्फुरित हैं क्योंकि चेतना के विकास में जड़ का नाश नहीं होता। वह भी रूपान्तरित होकर भावस्थ हो जाता है।

योग की चिन्तन पद्धति पर सोचते हुए अरविन्द तांत्रिक दृष्टि अपनाते हैं। क्योंकि योग की मनोवैज्ञानिक-शरीर-वैज्ञानिक व्याख्या आगे चल कर सूक्ष्म देह की कल्पना में परिणत हो जाती है। वस्तुतः हठयोग की क्रियायें ही शारीरिक हैं। कुण्डलिनी शक्ति का जागरण और उसका ऊर्ध्वमुखी विकास तांत्रिक योगी की भाव देह की ऊर्ध्वमुखी अभिसार यात्रा है। शक्त-दृष्टि में योग चित्त की एकाग्रता द्वारा वृत्तियों का निरोध कर अपनी ही अधोमुखी शक्ति को शरीरस्थ षट्-चक्रों का भेदन करते हुए ऊपर की ओर ले जाने की साधनात्मक प्रक्रिया है। वस्तुतः सम्पूर्ण योग प्रक्रिया एक ऊर्ध्वगामी अभिसार यात्रा का भावमय प्रतीक है। जड़तात्मक वृत्तियों से आक्रान्त मानव मन अपनी ही महत् शक्ति की अनुभूति नहीं कर पाता जिससे उसकी समूची क्रिया अधोमुखी अभिसार को हो जाती है जब कि जीवन की सार्थकता ऊर्ध्वगमन में है। चेतना के ऊर्ध्वमुखी विकास से ही यह प्रत्यक्ष

१. जगद्गुरु शंकराचार्य : सौन्दर्य लहरी ।

२. अरविन्द कृत निबन्ध 'तंत्र और वेदान्त', कल्याण-शक्ति अंक, पृ० ३२ ।

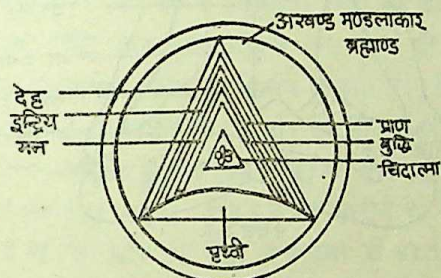
३. वही, पृ० ३२ ।

४. वही, पृ० ३२-३३ ।



होता है कि एक ही परम सत्य का आलोक ब्रह्मदेह से चिदात्मा तक और अणु से विराट तक रूपायित है। बिन्दु एक है। उसकी परिधि रेखाएँ अनेक हैं जो मानवीय चिन्तन की स्थापनाओं के अनुरूप अनेक रूप आख्या पाकर रेखांकित होती है। योगी की निर्विकल्प समाधि में सब कुछ एक हो जाता है। वह सत्वस्थपुरुष तन्मय होकर बिन्दु से परिधि (क्वेण्टम से कन्टीन्यूअम) और परिधि से बिन्दु (एलेक्ट्रॉन से प्रोटोन) तक की मधुमती यात्रा करता है। अणु से ब्रह्माण्ड (माइक्रोकाज्म से मैक्रोकाज्म) और ब्रह्माण्ड से अणु तक एक ही सत्ता के परम लीलामय स्वरूप को पहिचान कर अपने को उसी लीला धाम में खपा देना ही मानव के लिए श्रेयस और प्रेयस है।

अरविन्द ने चेतन के विकास-प्रक्रिया में चार सोपानों—जड़ पदार्थ, जीवन, मन, अति-मन—की कल्पना की है। अति-मन के स्तर तक पहुँचने की क्रिया तीन चरणों में पूर्ण होती है। इसको इन्होंने 'आत्मिक-परिवर्तन', 'आध्यात्मिक परिवर्तन' और 'अति मानसिक परिवर्तन' कहा है। 'आत्मिक परिवर्तन' में आत्मा को आवृत्त करने वाले अज्ञान का नाश होता है। आत्मा जड़ विकारों—इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि से आवृत्त रहता है। इन जड़ विकारों से आवेष्टित होने के कारण आत्मा का यथार्थ स्वरूप बोध नहीं होता। पर योग-साधना द्वारा आत्मिक परिवर्तन शीघ्रता से की जा सकती है। किस प्रकार चिदात्मा जड़ विकारों—देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि से आवेष्टित है, इसे चित्र संख्या १ में देखा जा सकता है :



चित्र सं० १

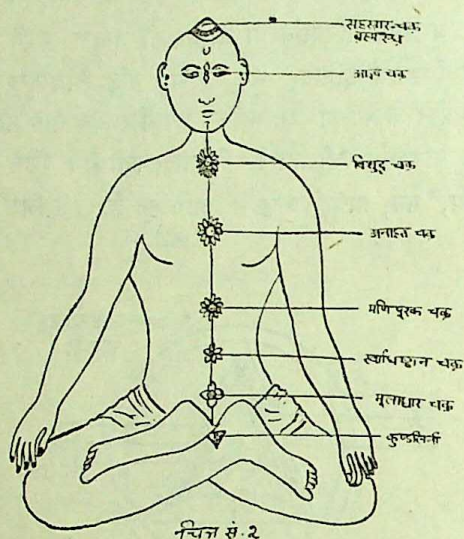
अरविन्द ने आत्मिक परिवर्तन को ही एकमात्र प्रधान नहीं माना है। आध्यात्मिक परिवर्तन भी आवश्यक है। व्यक्ति के अन्दर ही दिव्य उच्चतर शक्ति के आरोहण से उसका सीमित ग्रह नष्ट हो जाता है। अतिमानसिक परिवर्तन द्वारा व्यक्ति अपनी ही शक्ति को अपने अति-मन में ऊर्ध्वमुखी कर पाता है। इस प्रकार मनुष्य दिव्य चेतना से अतिमानव बन सकता है।

मन का चांचल्य उसे एकाग्र नहीं होने देता। इसलिए तंत्र एवं योग में मन को एकाग्र करने के लिए शरीरस्थ विभिन्न चक्रों—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध आज्ञा, उनके वर्णों, दलों एवं बीजाक्षरों पर केन्द्रित करने का संकेत है। मन इधर-उधर चंचल न हो, इसलिए उसे टेढ़े-मेढ़े रास्ते और कल्पित कमल दलों पर केन्द्रित करने का निर्देश है। साधक वक्रिम मार्गों से ध्यान करता है। वस्तुतः पिण्डवासिनी देवी भी तो



षट्चक्र वक्रासना है। इसी वक्रता में सहज भावबोध का स्फुरण होता है। योगी को सहज होने के लिए ही वक्रिम अर्थात् कठिन परिश्रम करना पड़ता है।

आधुनिक शरीर विज्ञान विभिन्न चक्रों की सूक्ष्मता को नाड़ी पुञ्जों का मात्र समुच्चय मानता है। उनके लिए यह योगी की भावना-शक्ति को क्रियात्मक रूप देने की सायास रूपात्मक कल्पना है। चिन्तन द्वारा उस मानस कल्पना को भौतिक शरीर में देखा जा सकता है। पर भारतीय योग मनीषा की दिव्य चेतना में चक्रों की कल्पना मानस की अन्तस्थ शक्ति को ऊर्ध्वरेता बनाने के लिए मनोज्ञ मार्ग की अवधारणा है। महर्षि अरविन्द ने भी इन चक्रों की आध्यात्मिक स्थिति निरूपित की है। अरविन्द ने मानव के शरीररस्य सात चक्रों की कल्पना की है। ये सातों चक्र मानव देह के मध्य सुषुम्ना से सम्बद्ध होकर स्थित हैं।<sup>१</sup> इसे चित्र संख्या २ में इस प्रकार देखा जा सकता है।



पर वास्तव में इन चक्रों की स्थिति इस स्थूल देह में न होकर सूक्ष्म देह में है :

All these centers are in the middle of the body they are supposed to be attached to the spinal chord; but in fact all these things are in the subtle body, 'Sukshma Deha', though one has the feeling of their activities as it in the Physical body when the consciousness is awake.<sup>२</sup> वस्तुतः यह सूक्ष्म देह शरीर-रचना विज्ञान और मनोविज्ञान से परे की वस्तु है। उसकी व्याख्या के लिए परामनोविज्ञान और पारा-फिजियालॉजी की कल्पना करनी पड़ेगी। मूलतः सभी चक्र अति दिव्य अतीन्द्रिय, ऑस्ट्रल नाड़ी में स्थित हैं। अतः इस अति सूक्ष्म वायवीय शरीर की रचना समझ लेना आवश्यक है। योग दर्शन में इस भौतिक शरीर के चारों तरफ

१. अरविन्द कृत 'आन योग', द्वितीय, टॉम वन, पृ० ३६८-३६९।

२. वही, पृ० ३६९।

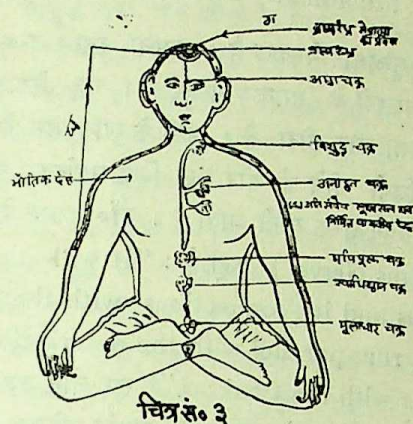


1972 )

महर्षि अरविन्द और तांत्रिक-योग-पद्धति

89

उसी प्रकार की अतिमानवीय एवं वायववीय शरीर की कल्पना है। यह चित्र संख्या ३ के (क) को देखकर समझा जा सकता है :



यह शरीर अपने विधायक तत्त्वों की अति सूक्ष्मता के कारण अदृश्य है। इनकी रचना ऐसे ईथरीय तत्त्व से है जो स्थूल तत्त्वों की अपेक्षा अधिक स्पन्दनशील (ब्राइब्रेटिंग) है। पदार्थ में अणु-परमाणु का वेग-वेलासीटी, कम्पन-बाइब्रेशन और उल्लास-वेरासीटी होता है। आकाश तत्त्व से निर्मित यह वायवीय शरीर भी अति संवेदनशील है। इसमें पदार्थीय गुणों वेग, कम्पन, उल्लास के होते हुए भी इसे न तो पूर्णतः पदार्थ कह सकते हैं और न मात्र यह ऊर्जा (एनर्जी) ही है। यह शरीर अति सूक्ष्म तत्त्व से बना पदार्थ की अपेक्षा अधिक दृढ़ ग्राही है। तत्त्व विज्ञान में इस ब्रह्मस्वरूप शरीर का निर्माण आकाश तत्त्व से माना गया है जो अति संवेद्य-सत्त्व-तत्त्व है। यह हर दिकाकाश (स्पेस्) और हर मानव शरीर में सहज प्रवेश्य है। यह तात्त्विक सूक्ष्म देह काल-आकाश (टाइम एण्ड स्पेस्) की सीमा से परे है। योगी निर्विकल्प समाधि में अपनी आत्मा को ब्रह्म रन्द्र से मुक्त कर इस ईथरीय देह में प्रवेश करता है। इस क्रिया को चित्र संख्या २ के 'ग' और 'घ' रेखा द्वारा देखा जा सकता है। पुनः आत्मा वहाँ के सूक्ष्म तंतुओं को अपने साथ लेकर इस भौतिक शरीर में प्रत्यागमन करता है। इसके प्रत्यक्षीकरण के लिए अति संवेदनशील बोध वृत्ति का स्फुरण आवश्यक है।

अरविन्द के अनुसार शरीरस्थ सात चक्रों (Centers) की कल्पना है।<sup>१</sup> ये चक्र क्रमशः इस प्रकार हैं :

(1) सिर के ऊर्ध्व में सहस्रत्र दल कमल (The thousand petalled lotus on the top of the head)।

(2) भूमध्य में आज्ञा चक्र (In the middle of the forehead the Ajna Chakra)।

(3) कंठ देश में स्थित चक्र (Throat Centre : Externalizing Mind)।

(4) हृदय-कमल-भावात्मक चक्र (Heart-Lotus-Emotional centre) The Psychic is behind it.

१. अरविन्द : 'ऑन योग, द्वितीय, ठाम वन, पृ० ३६८-३६९।



- (5) नाभि चक्र [ ( Novel centre, higher vital ( Proper ) ] ।  
 (6) नाभि के नीचे चक्र ( Below Novel, the lower Vital ) ।  
 (7) मूलाधार ( Muladhara, the Physical ) ।

मानव शरीर का मूलाधार मेरुदण्ड है । समूचा स्नायु तन्त्र इसी के मध्य स्थित है । इसकी रचना तैंतीस अस्थिखण्डों के समन्वय से हुई है । यह मेरुदण्ड एक खोखली नली है जिसका निचला भाग नुकीला और छोटा है । इसी के आस-पास के स्थल को 'कन्द' कहा जाता है । यहीं पर कुण्डलिनी नीचे की ओर मुख किये सर्पाकार कुण्डली में अवस्थित है । इसकी स्थिति शरीर के दाहिने तरफ मानी जाती है । डॉ० वसन्त रेले कुण्डलिनी को दाहिनी वेगस नर्व ( Right Vegus Nerve ) कहा है : "It will thus be seen that the description of Vegus and its connections with the important plexuses of the sympathetic, runs parallel with the description of the Kundalini and her connections with the Chakras." सर जान उडरफ ने इसे महती संगृहीत शक्ति ( The Grand Potential ) कहा है ।<sup>१</sup> आर्थर अवेलेन ने इसे गुप्त संगृहीत शक्ति कहा है ।<sup>२</sup> अरविन्द ने कुण्डलिनी को चक्रों में निहित और प्रसुप्त शक्ति माना है : "Above the head is the universal or Divine consciousness and Force. The Kundalini is the latent Power asleep in the Chakras".<sup>३</sup>

यह मानव शरीर बहत्तर हजार नाड़ियों का समुच्चय है जिसमें चौदह विशिष्ट और तीन परम विशिष्ट नाड़ियाँ हैं : इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना । इड़ा मेरुदण्ड की बाँयी ओर, पिंगला उसकी दाहिनी तरफ और सुषुम्ना मेरुदण्ड के भीतर 'कन्द' से प्रारम्भ होकर सहस्रदल कमल तक पहुँचती है । सुषुम्ना की तीन परतें हैं : वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्म नाड़ी । योगकल्पना में मेरुदण्ड स्थित सुषुम्ना की ब्रह्मनाड़ी में षट्चक्रों की कल्पना है । इसी के माध्यम से कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगामी होती है ।

योग प्रक्रिया में सभी चक्रों का अपना एक मनोवैज्ञानिक उपयोग है । इसके साथ ही ये शरीर के विभिन्न अंगों और क्रिया को क्रियान्वित और नियमित करते हैं । अरविन्द ने इन चक्रों के दिलों के रंगों का भी संकेत किया है । मूलाधार मेरुदण्ड की हड्डी के नीचले भाग के पास जो कन्द प्रदेश है उससे सम्बद्ध गुदा और लिंग के मध्य में स्थित है । यह इन स्थानों का नियमन करता है । इसके दल चार हैं और इनका वर्ण रक्त है । एनाटामिकल नाम पेल्विक प्लेक्सस ( Pelvic plexus ) है । स्वाधिष्ठान चक्र लिंग स्थान के सामने स्थित है । इसके दल ६ हैं और रंग सिन्दूर वर्ण का है । यह निचले तत्त्व को शासित करता है । एनाटामिकल नाम हाइपोगैस्ट्रीक प्लेक्सस ( Hypogastric Plexus ) है । मणिपूरक नाभिप्रदेश के सामने स्थित है । इसके नील वर्ण के दश कमल दल हैं । यह उच्च तत्त्व को

१. डॉ० वसन्त रेले : द मिस्टीरियस कुण्डलिनी, पृ० ४६ ।

२. सर जान उडरफ : द मिस्टीरियस कुण्डलिनी, रेले कृत की प्रस्तावना ।

३. आर्थर अवेलेन : द सरपेन्ट पावर ।

४. अरविन्द : ऑन योग, द्वितीय, टाम वन, पृ० ३३६ ।



1972 ]

महर्षि अरविन्द और तांत्रिक-योग-पद्धति

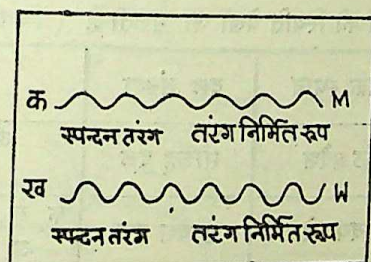
91

अनुशासित करता है। इसे इपीगैस्ट्रीक प्लेक्सस (Epigastric Plexus) से जाना जाता है। अनाहत चक्र हृदय प्रदेश में है। इसके कमल दल द्वादश हैं जो अरुण वर्ण के हैं। यह संवेगों का नियामक है। विशुद्ध चक्र कंठ प्रदेश में स्थित है। इसके सोलह दल हैं जिसका वर्ण धूम्र है। आज्ञा चक्र भूमध्यप्रदेश के सामने मेरु-दण्ड के भीतर ब्रह्म नाड़ी में स्थित है। इसमें दो दलों वाला श्वेत कमल है। जिस प्रकार विशुद्ध चक्र मानवीय मस्तिष्क के विचार-स्पन्दन की बाह्याभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार आज्ञा चक्र गतवर मन, इच्छाशक्ति, अन्तर्दृष्टि (Vision) का नियमन कर्त्ता है।

सबसे महत्व की बात यह है कि इन विभिन्न दलों वाले चक्रों के दलों पर वर्णों की भी कल्पना है जिससे मातृका सृष्टि के प्रतीकात्मक रहस्य का उद्घाटन होता है। इतना तो स्पष्ट है कि नाड़ी-पुञ्जों या चक्रों पर अक्षर या वर्णों का स्थूल अंकन नहीं है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि उच्चारण के समय नाड़ियों में प्राण-वायु के धक्के से जो स्फुरण तरंग पैदा होती है उससे दलों पर अक्षरों का रूप निर्धारित होता है जिसे योगी अपनी दिव्य दृष्टि से देख सकता है। दलों के अक्षरों एवं उनकी प्रतीकात्मक व्याख्या के पूर्व संक्षेप में स्पन्दन तरंग से निर्मित अक्षर स्वरूप का विचार आवश्यक है।

स्पन्दन या तरंग ही ध्वनि या शब्दों का विधायक है। कुमारी वाट्स ह्यूम्स ने ध्वनि रूप विवेचन में यांत्रिक प्रयोगों द्वारा स्पष्ट किया है कि किस प्रकार ध्वनि विशेष के कम्पन के अनुसार उसकी आकृति निर्मित होती है। इसके लिए उन्होंने इडोफोन नामक यंत्र का प्रयोग भी किया है।<sup>१</sup>

मिथ की सांस्कृतिक चेतना में यह धारणा प्रमुख है कि सृष्टि के पूर्व केवल लहर ही थी। उसी से मिथी भाषा का प्रथम वर्ण एम (M) बना। पुनः वही तरंग उलट कर डब्ल्यू (W) बन गया। यही 'एम' मदर या मातृ शब्द का जनक है और डब्ल्यू वाइफ या पत्नी का विधायक है। इस स्थापना को रेखाचित्र सं० ४ में देखा जा सकता है।



चित्र सं० ४

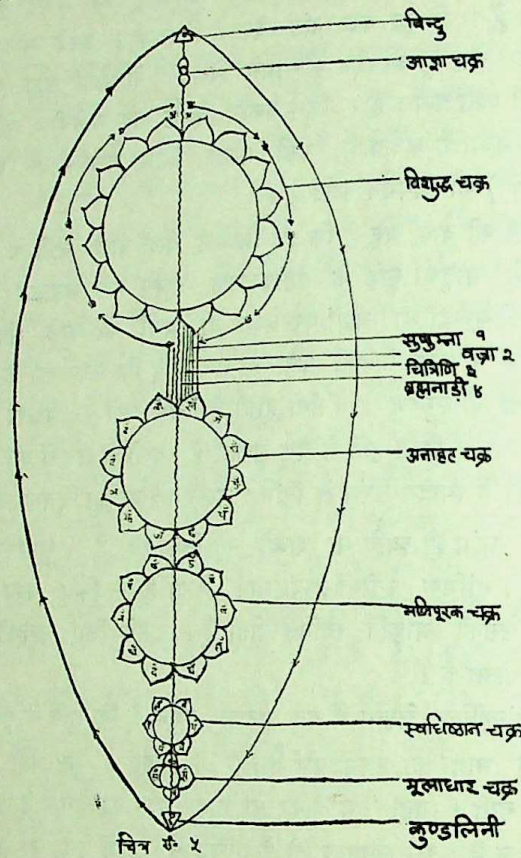
समग्रतः कम्पन या स्पन्दन ही, जो नाड़ियों में प्राण-वायु के आकुंचन-विकंचन का परिणाम है, अक्षरों का विधायक है। मानव देह में स्थित विभिन्न चक्रों के दलों पर अंकित अक्षरों का वैज्ञानिक रहस्य यही है। जब भी मनुष्य उच्चारण की मुद्रा में आता है उसकी अन्तस्थ चेतना शक्ति स्फुरित होने लगती है। इसके कारण नाड़ी पुंजों में जो कम्पन होता है

१. अरविन्द : ऑन योग; द्वितीय, टाम वन, पृ० ३६९-३७०।

२. कुमारी वाट्स ह्यूम्स : Voice figures।



वह उसके ऊपर वर्णों को निमित्त करता है। चक्रों पर शब्द सृष्टि के विभिन्न वर्णों की क्या स्थिति है, नीचे की तालिका एवं रेखाचित्र को देखकर समझा जा सकता है :



रेखाचित्र में चक्रों की स्थिति देखी जा सकती है ( चित्र संख्या ५ ) ।

क्र०सं०	चक्र नाम	चक्र स्थान	दल संख्या	वर्ण मातृकाएँ
१	विशुद्ध चक्र	कंठ प्रदेश	सोलह दल	अँ से अः तक सोलह वर्णों की स्थिति
२	अनाहत चक्र	हृदय प्रवेश	द्वादश दल	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ अक्षरों की स्थिति
३	मणिपूरक चक्र	नाभि प्रदेश	दश दल	ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, अक्षरों की स्थिति
४	स्वाधिष्ठान चक्र	लिंग स्थान के सामने	छ दल	ब, भ, म, य, र, ल, अक्षरों की स्थिति
५	मूलाधार चक्र	कंठ प्रदेश से लगे गुदा एवं लिंग के मध्य	चार दल	व, श, ष, स अक्षरों की स्थिति
६	आज्ञा चक्र	भूमध्य प्रदेश	दो दल	ह, क्ष अक्षरों की स्थिति



1972 ]

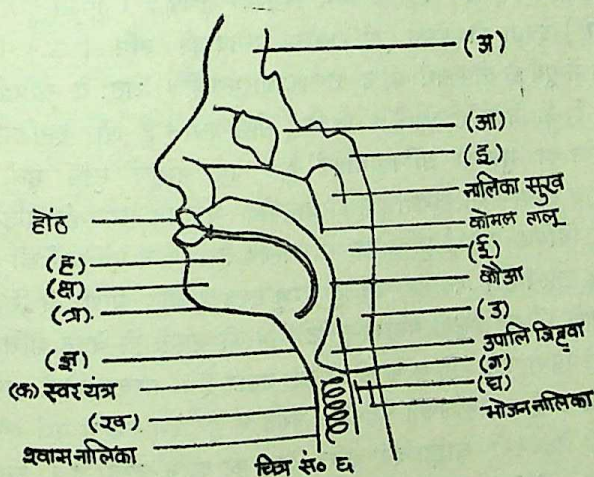
महर्षि अरविन्द और तांत्रिक-योग-पद्धति

93

कुण्डलिनी शक्ति साधना का मूल रहस्य नाद तत्त्व के अनुसंधान में है। कुण्डलिनी विक्षुब्ध होकर नाद का विकास करती है। वह मूलाधार के नीचे सुषावस्था में पड़ी रहती है। जिस समय उसका जागरण होता है, उस समय वह शरीरस्थ विभिन्न चक्रों का भेदन कर ऊपर की ओर उन्मुख होती है। इस प्रकार योगी सहस्रार में नाद बिन्दु की अनुभूति करता है।

वर्णमयी मातृका सृष्टि के प्रतीकात्मक अर्थ की व्याख्या के पूर्व वर्णों की उत्पत्ति एवं विकास क्रम पर संक्षिप्त प्रकाश आवश्यक है। परम शिव अपनी प्रारम्भिक अवस्था में निष्क्रिय हैं। वह स्पन्दनहीन रहता है। परिणामतः वह अशब्द, निर्विषय एवं प्रत्ययहीन है। परन्तु जब उसने स्वेच्छया अपनी अनन्त शान्ति सागर में चेतना-उर्मियों को स्फुरित किया तब 'नाद' की उत्पत्ति हुई। यही नाद शक्ति घनीभूत होकर 'बिन्दु' रूप में प्रतिफलित होती है : "नाद एवं घनीभूतः क्वचिदभ्येतिविन्दुताम्" ( शारदा तिलकं )। स्पन्दन की गति के साथ ही ध्वनि और बिन्दु का निर्माण होता है। अनन्त स्पन्दित लहरों की भाँति शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय भी अनेक हैं। क्योंकि शब्द से अर्थ एवं अर्थ से रूप भिन्न नहीं हैं : 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' ( रघुवंश : कालिदास ) चेतना तरंगों की यही परिपक्वावस्था 'शब्द-ब्रह्म' है।

प्रकृति में प्रत्येक विषय के तीन रूप हैं : पर, सूक्ष्म, स्थूल। वाक् रचना क्रम में परावाक् 'पर' ( कारण ) रूप में स्वीकृत है। जब परावाक् रूप ग्रहण कर सूक्ष्म रूप मध्यमावस्था की ओर अग्रसर होती है तब इसे योग-मनीषा में 'पश्यन्ती' नाम से जाना जाता है। इस अवस्था में योगी-मनीषी ही अपने दिव्य चक्षु से इसके स्वरूप का दर्शन कर सकता है। आगे के क्रम में मध्यमा वाक् हिरण्यगर्भ शब्द है। यहीं से वर्ण मातृका शब्दरूप ग्रहण करती है। इस अवस्था के बाद सूक्ष्म-ध्वनि स्थूल-ध्वनि में बदल कर 'वैखरी' नाम से जानी जाती है। यहाँ सूक्ष्म ध्वनि कण्ठरव में प्रकट होकर अक्षरों के माध्यम से उच्चरित होती है। कण्ठरव उच्चरित होकर किस प्रकार व्यक्त होती है, इसे चित्र सं० ६ में देखा जा सकता है।



स्पष्ट है कि किस प्रकार अपनी ही प्राणवायु ध्वनि-स्फोट को स्फुरित करती हुई ऊर्ध्वमुखी होकर कण्ठरव के रूप में प्रकट होती है।



अक्षरों का कमी नाश नहीं होता। समूची सृष्टि ही मातृकामयी है : “तयोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश, वाङ्मयं चैव यत्किञ्चित्सर्वमातृकोद्भवम् ।” अभिनवपाद गुप्त ने तत्त्वों की उत्पत्ति विषयक धारणा में मातृका वर्णों को एक-एक तत्त्व का प्रतीक कहा गया है। इसे नीचे की तालिका में देखा जा सकता है :

क्र० सं०	क्रम वर्ग	तत्त्व	चवर्ग	तत्त्व	टवर्ग	तत्त्व	तवर्ग	तत्त्व	पवर्ग	तत्त्व	य	तत्त्व
१	क	पृथ्वी	च	गन्ध	ट	पायु(गुदा)	त	घ्राण	प	प्रकृति	य	कला
२	ख	जल	छ	रस	ठ	उपस्था (लिङ्गयोनि)	थ	जिह्वा	फ	अहंकार	र	अविद्या
३	ग	तेज	ज	रूप	ड	पाणि	द	चक्षु	ब	बुद्धि	ल	शम
४	घ	वायु	झ	स्पर्श	ढ	पाद	ध	त्वक्	भ	मन	व	काल
५	ङ	आकाश	ञ	शब्द	ण	वाक्	न	स्रोत	म	पुरुष	श	शुद्ध विद्या
											ष	ईश्वर
											स	सदाशिव
											ह	शक्ति
											क्ष	शिव

परमेश्वर की तीन शक्तियों का उल्लेख है। ये तीन शक्तियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं :

(१) अनुत्तर ( अ )

(२) इच्छा ( इ )

(३) उन्मेष ( उ )

अतः स्पष्ट है कि ‘अ’, ‘इ’, ‘उ’ वर्ण परमेश्वर सूचक हैं। विश्रान्तिक्रम में ‘अनुत्तर’ के आनन्द ( आ ) इच्छा की ईशान ( ई ) और उन्मेष की उर्मि ( ऊ ) में विश्रान्ति है। वर्णमातृका क्रम में पूर्व के तीन वर्ण अ, इ, उ प्रकाशात्मक है। अतः ये सूर्यप्रतीक हैं। इसके उत्तर वर्ण आ, ई, ऊ विश्रान्ति रूप है। इसलिए सोम प्रतीक है और इसलिए यह आनन्द-दायक है। सृष्टि का मूल ही ‘अग्निसोमाष्टक’ है। यह सम्पूर्ण सृष्टि सूर्य एवं सोम के समन्वयात्मक राग सम्बन्ध का परिणाम है। मानवीय धरातल पर यही पति-पत्नी के राग-मय सम्बन्धों से निर्मित आदर्श सृष्टि का परिचायक है। शब्द एवं अर्थ की सम्पृक्त स्थिति का भी यही गूढ़ रहस्य है। क्योंकि अर्थ ही शम्भू तत्त्व है और वाणी ही शिवा है : “अर्थः शम्भूः शिवा वाणी ।” यह समूची मातृका-सृष्टि शिव की अपनी ही चेतन शक्ति, (चिदाकाश) उसकी अपनी ही प्रिया-पत्नी शिवा के लीला का प्रसार है। तत्त्वज्ञ योगी नाद-बिन्दु के इस गूढ़ रहस्य का द्रष्टा है। वह अपनी चेतना में जगत के हर रेणु-कण में वर्ण और प्रत्येक वर्ण में परम शिव की चेतनमयी आह्लादिनी शक्ति शिवा का दर्शन करता है। इस प्रकार अलौकिक दृष्टि सम्पन्न योगी के लिए न तो दलों के वर्णों की गूढ़ रहस्यात्मक स्थिति ही रह जाती है और न शब्द-अर्थ सृष्टि के अन्त्युक्त समन्वयात्मक रहस्य ही रहस्य रह पाता है। उसके लिए सब कुछ सहज है।



1972 ]

महर्षि अरविन्द और तांत्रिक-योग-पद्धति

95

अरविन्द के अनुसार यह समस्त सृष्टि-रचना पुरुष-प्रकृति के ही लीला का विस्तार है। इस जगत् में परम सत्य वस्तु एक है। उसी के निष्क्रिय और सक्रिय दो पक्ष हैं। यही एक अक्षर पुरुष और दूसरी आद्याशक्ति 'भगवती माता' है। उनके अनुसार यही सृष्टि का मूल हेतु है। क्योंकि इन्हीं के द्वारा सृष्टि करने के लिए ब्रह्म में सक्रियता आती है। शक्ति तत्त्व की इतनी प्रधानता स्पष्ट करती है कि अरविन्द दर्शन में आगम का अधिक हाथ है। अरविन्द ने भगवती माता को अधिक महत्त्व दिया है। शक्ति की यह प्रधानता शाक्ततंत्र से अधिक साम्य रखती है। शाक्त दर्शन के त्रिपुरा-सिद्धान्त में शिवशक्ति कामेश्वर-कामेश्वरी हैं। उनका सामरस्य ही त्रिपुर-सुन्दरी का रूप है जिसकी माता रूप में उपासना की जाती है।

अरविन्द के चिन्तन की सबसे बड़ी उपलब्धि है अति मानसिक स्तर की अनुभूति और उसे जीवन जगत में उतार लाने की क्षमता। उनकी दृष्टि में यह सम्पूर्ण सृष्टि अवरोहण-आरोहण की एक प्रक्रिया का प्रतिफलन है। अति मन अवरोहण क्रिया में मन एवं प्राण के स्तर से होकर जड़ बनता है। परन्तु पुनः जड़ से प्राण, प्राण से मन की ओर आरोहण करने की अति चेतना साधनाजन्य है। अति चेतना के विकास पर अति मन मनोमय मानव को प्राप्त करता है। तांत्रिक चिन्तना में शक्ति का ऊर्ध्वमुखी करना ही जड़ से चेतन की ओर आरोहण है। शाक्त दृष्टि में ऐसा विश्वास है कि साढ़े तीन फेरे में लिपटी सर्पाकार सुप्त कुण्डलिनी अधोमुखी पड़ी रहती है। साधक प्राणायाम द्वारा उसे जागृत कर ऊपर की ओर उन्मुख करता है। यही परम शिव से शक्ति के संयोग कराने के लिए तांत्रिक योगी की अभिसार यात्रा है। अरविन्द की आरोहण क्रिया नाम-रूप में मिश्र होते हुए भी तांत्रिक वाङ्मय के इसी निगूढ़ सत्य को प्रतिभासित करती है। अरविन्द के योग में भगवती माता के प्रति आत्मसमर्पण आवश्यक है। इसके अभाव में मानवप्रकृति का दिव्य-रूपान्तर सिद्ध नहीं हो सकता : "The surrender to the Divine Mother is essential for without it there is no fulfilment of the object of the yoga."<sup>1</sup> अरविन्द का तांत्रिक-योग समन्वयात्मक योग होते हुए भी एक भौतिक दृष्टि देता है। निश्चय ही अरविन्द मानस चेतना की उस उदात्तभूमि पर पहुँच चुके थे जहाँ गति, अगति, नृत्य, अनृत्य, स्पन्दन-विस्पन्दन सभी का ध्रुवीकरण हो जाता है और वहाँ मात्र स्थिति रहती है शान्त बिन्दु की।

"At the still point of the turning world. Neither flesh nor fleshless;  
Neither from nor towards; at the still point, there the dance is.

But neither arrest nor movement. And do not call it fixity

Where past and future are gathered. Neither movement from nor  
towards.

Neither ascent nor decline. Except for the point, the still point."

1. Sri Aurobindo on Himself and on the Mother, p. 447-448.

2. T. S. Eliot : Four quartets, p. 11.



## अरविन्द के अनुसार गीता में भक्ति योग

रामजी सिंह,

शोध छात्र, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०

सारा योग भगवान् की खोज करता है। भक्तियोग का मूल सूत्र यह है कि मानव चेतना की सभी या कुछ एक शक्तियाँ ईश्वर या भगवान् की ओर फेर दी जाँय, ताकि जीव की इस चेष्टा के द्वारा संस्पर्श सम्बन्ध एवं मिलन स्थापित हो जाय। भक्तियोग में जिस शक्ति को साधन बनाया जाता है वह है भावमय प्रकृति। भक्तियोग का मूल सिद्धान्त यह होता है कि मनुष्य और ईश्वर में कोई एक मानवीय सम्बन्ध अपनाकर अपने हृदयगत भावों को भगवान् की ओर अधिकाधिक तीव्र वेग से प्रवाहित किया जाय, जिससे अन्त में मानव आत्मा दिव्य प्रेम के मद में उन्हीं में आसक्त होकर उन्हीं के साथ मिल जाय। भक्त अपनी भक्ति के द्वारा जो कुछ हँदता है वह अन्ततः एकत्व की विशुद्ध शान्ति या एकत्व की शक्ति एवं निष्काम संकल्प-बल नहीं है, वह तो है मिलन की उन्मत्त मस्ती। प्रेम ही इस भक्ति का मूल प्रेरक है, अतः जैसा प्रेम का समग्र रूप होगा, वैसी ही होगी भक्ति की गति, उसकी परिणति और परिपूर्ति। भक्त जानता है कि चाहे जो भी सत्य भक्ति प्रगट करती हों, वह वास्तव में संसार के बाह्य विधान के साथ विकासी मानव आत्मा के बाह्य सम्बन्धों का सत्य है न कि भगवान् के साथ मानव आत्मा के अंतरीय सम्बन्धों का कोई अंतरंग सत्य; परन्तु भक्ति का वास्तविक क्षेत्र तो ये अंतरंग सम्बन्ध ही हैं।

### गीता में भक्ति योग

गीता में केवल ७०० छन्द हैं और उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्म सूत्र, इन तीनों को मिला करके प्रस्थानत्रयी कहते हैं। शंकराचार्य, रामानुज तथा बालगंगाधर तिलक ने गीता पर अलग-अलग ढंग से भाष्य लिखा है; परन्तु गीता का प्रतिपाद्य विषय अर्जुन के मोह को दूर करना तथा उसको मोक्ष दिलाना ही है। अरविन्द ने गीता पर कोई भाष्य नहीं लिखा है। वे भाष्यकार के रूप में नहीं, बल्कि एक स्वतंत्र चिन्तक के रूप में हमारे सामने आते हैं। अरविन्द का योग भक्तियोग से भिन्न नहीं है।

व्याकरण के अनुसार भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'भज सेवायां' धातु से है; जिसका अर्थ होता है, भजन या सेवा। यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है कि भजन या सेवा किसकी? तो उत्तर है, ईश्वर या भगवान् की। भक्ति सम्प्रदाय भक्ति को बहुत उच्च स्तर से स्वीकार करते हैं। भक्त को किसी वस्तु की इच्छा नहीं रह जाती। अरविन्द भी भक्ति की विचित्रता को स्वीकार करते हुए कहते हैं—“जहाँ पर सभी दार्शनिक अनुभव एक मत हैं, वहाँ पर धर्म और भक्तियोग इससे भी आगे जाते हैं, इनके मत से व्यक्तित्व तथा मनुष्य के साथ मानवीय सम्बन्ध इस चिन्मय पुरुष की विशेषताएँ हैं। धर्म और भक्तियोग दोनों में मनुष्य भगवान् के पास वैसे ही जाता है, जैसे वह अपने किसी मित्र के पास जाता है—



[1972]

अरविन्द के अनुसार गीता में भक्ति योग

97

अपनी मानवता के द्वारा तथा मानवीय भावों के साथ, परन्तु अधिक तीव्र एवं उदात्त भावों के साथ; इतना ही नहीं, बल्कि भगवान् भी इन भावों के अनुरूप ढंग से इनका उत्तर देते हैं।<sup>1</sup> यह भक्त और भगवान् का सम्बन्ध आस्तिकता पर आधारित है। भगवान् की सत्ता स्वीकार किये बिना भक्ति हो ही नहीं सकती; क्योंकि संशय आत्मा नास्तिक जिस आधार को लेकर धर्म पर आक्रमण करता रहता है, वह यह है कि विश्व में कोई ऐसी चेतन सत्ता है ही नहीं जो हमसे बड़ी और ऊँची हो या हमारी सत्ता को किसी प्रकार प्रभावित या नियंत्रित करती हो। इस आधार को भक्तियोग स्वीकार नहीं करता; क्योंकि इससे तो सारा आध्यात्मिक अनुभव ही खण्डित हो जायेगा और स्वयं सारा भक्ति-सम्प्रदाय भी असमंजस में पड़ जायेगा। इस बात को अरविन्द भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, “दर्शन या सार्वजनिक धर्म की भाँति योग कोई सिद्धान्त या मतवाद की वस्तु नहीं है, बल्कि यह तो अनुभव का विषय है।” यहाँ पर अरविन्द का योग, भक्तियोग के बहुत निकट आ जाता है।

भक्ति की परिभाषाओं पर विचार कर लेना अति उत्तम होगा।

‘सर्व कर्म समर्पण भक्ति।’—गीता

अर्थात् अपने सभी कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पण ही भक्ति है।

‘नित्य युक्तस्य योगिनः।’

अर्थात् निरन्तर ईश्वर में युक्ति ही भक्ति होती है। भक्त निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त होता है।

अरविन्द के अनुसार “पूर्ण आत्म समर्पण, अनन्य शरणागति ही वह भक्ति है जिसे गीता ने अपने समन्वय का मुकुट बनाया है।<sup>2</sup> कर्म का मार्ग भी आत्मनिवेदनरूपी उपासना और भक्ति में परिणत हो जाता है। वास्तविक यज्ञ वह होता है जिसमें आन्तरिक होम हो, जिसमें भगवान् स्वयं ही समग्र यज्ञक्रिया और यज्ञ की प्रत्येक वस्तु और घटना बनते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति सामान्य स्तर की नहीं है। ईश्वर के प्रति जो प्रेम है वही भक्ति है। यह भक्ति लौकिक या व्यावहारिक नहीं है; क्योंकि लौकिक प्रेम या व्यावहारिक प्रेम में कुछ न कुछ लक्ष्य रहता है, लेकिन अलौकिक प्रेम में कोई लक्ष्य नहीं होता। लौकिक प्रेम का जो लक्ष्य होता है भक्ति के स्तर पर पहुँचने पर वह समाप्त हो जाता है। भक्तियोग हृदय का विषय है, बुद्धि का नहीं। इस मार्ग से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके लिए भी हम अपनी यात्रा हृदय से आरम्भ करते हैं न कि बुद्धि से। अरविन्द के अनुसार भी यह भक्ति हृदय का कोई एकांगी वृत्ति नहीं, बल्कि जीवन का सर्वांग आत्म-समर्पण है। इसलिए यह यज्ञ भी है; क्योंकि इसमें सब कर्म ईश्वर को अर्पण करने की क्रिया होती है, अपनी सारी क्रियशील अन्तर्बाह्य प्रकृति अपनी प्रत्येक मानसिक और प्रत्येक विषय-गत क्रिया में अपने भजनीय भगवान् को समर्पित की जाती है। अहं बद्ध प्रवृत्ति के लिए

१. अरविन्द : ‘योग समन्वय’ ( उत्तरार्द्ध ) भाग-३, ४, पृष्ठ ६४५।

२. अरविन्द : गीता प्रबन्ध, पृष्ठ ३४६।



ईश्वर को प्राप्त करना कठिन है। अहं बद्ध व्यक्ति को सिसिफस<sup>१</sup> की भाँति अनन्त काल तक केवल परिश्रम ही हाथ लगता है। अन्तरात्मा के अन्दर व्यक्त होने की जो छटपटाहट दीर्घ काल से चली आ रही है वह अब अपने आप में भगवान् को प्राप्त करने और प्रकृति में उन्हें अनुभव करने की एक आध्यात्मिक चेष्टा और अभीप्सा का रूप धारण करती है। सम्पूर्ण जीवन उस भगवान् और इस मानव आत्मा का निरन्तर योग और एकीभाव बन जाता है, यही परिपूर्ण भक्ति की रीति है। हमारे समस्त आधार और प्रकृति की यह सनातन पुरुषोत्तम में लगे हुए हृदय से होने वाले यज्ञ के द्वारा एक साथ ऊपर उठा ले जाती है।<sup>२</sup>

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या भक्ति के पूर्व ज्ञान को रहना चाहिए या नहीं? कुछ लोगों का यह विचार है कि भक्ति के पूर्व ज्ञान रहना चाहिए, परन्तु सही बात तो यह है कि भक्ति के पूर्व ज्ञान का होना कोई आवश्यक नहीं है; क्योंकि भक्ति ज्ञान के अभाव में भी हो सकती है। भक्ति में 'स्व' का भाव नहीं रहना चाहिए; जबकि ज्ञान में 'स्व' का भाव रहता है। इस बात को अरविन्द भी स्वीकार करते हैं कि अहं बद्ध व्यक्ति के लिए भक्ति असम्भव है। भक्ति के पूर्व ज्ञान रहना जरूरी नहीं है; क्योंकि भक्ति हो सकती है ज्ञान रहे या न रहे। अरविन्द तो यहाँ तक स्वीकार करते हैं—“आत्मज्ञान अनायास ही एक भजन-पूजन, एक विशाल भाव-भक्ति, एक महान् आत्मदान, एक पूर्ण आत्मोत्सर्ग को उत्पन्न कर देता है; क्योंकि यह उस आत्मा का ज्ञान है, उस आत्म स्वरूप का स्पर्श है, उस परम और विश्व रूप, विराट् पुरुष का आलिङ्गन है जो हमें, हम जो कुछ भी हैं अपना बना लेता है और जब हम उसके समीप पहुँचते हैं तो हमारे ऊपर अपने सत्स्वरूप के अनन्त आनन्द की निधियाँ बरसाता है।”<sup>३</sup> यहाँ पर भी अरविन्द यह मानने को तैयार हैं कि जो आत्मज्ञान है वह भक्ति का एक साधन है वह साध्य नहीं है। भक्ति के द्वारा ही उस विराट् पुरुष के पास पहुँचा जा सकता है, आत्मज्ञान के द्वारा नहीं। गीता में भी कहा गया है कि ज्ञान के अभाव में भक्ति हो सकती है :

“नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि यां यथा ।”

—गीता, ११-५३ ।

“भक्त्या त्वनन्यथा शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।”

—गीता, ११-५४ ।

( श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ! न वेदों से, न तप से, न दान से, न ज्ञान से, न निष्काम कर्मयोग से, न यज्ञ से भी लोग मेरे दर्शन नहीं कर सकते। परन्तु हे

१. सिसिफस को यह शाप था कि उसे हमेशा एक चट्टान की चोटी पर बड़ा पत्थर चढ़ाते रहना पड़ेगा। जब पत्थर चोटी के पास पहुँचता तो वह लुढ़क जाता था, और फिर से वही क्रम उसे शुरू से करना पड़ता था।

२. अरविन्द : गीता प्रबन्ध, पृष्ठ ३४० ।

३. अरविन्द : गीता प्रबन्ध, पृष्ठ ३४१ ।



1972 ]

अरविन्द के अनुसार गीता में भक्ति योग

[ 99 ]

अर्जुन ! तुम श्रेष्ठ भक्ति वाले अर्थात् अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला, प्रत्यक्ष देखने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होने के लिए भी शक्य हैं । )

अरविन्द के अनुसार, “जो जीव भक्ति करता है और अपने सारे कर्म अपनी सारी सत्ता की महत्ता शरणागति की भाव से सनातन पुरुष को अर्पण करता है, उसके लिए ईश्वर सब कुछ हैं और सब कुछ ईश्वर है ।”<sup>१</sup> “विना समग्र आत्म निवेदन और समर्पण के कोई भी मार्ग हमें उस परम तक नहीं ले जायेगा, जो कि सब कुछ है ।”<sup>२</sup> यह बात सत्य है कि अन्य धर्म, भजन-पूजन, साधना, ज्ञान भी अवश्य ही अपने-अपने फल देने वाले हैं; परन्तु वे फल अल्पकालीन होते हैं, अर्थात् नश्वर होते हैं । भक्ति का फल कालातीत होता है । “यां यां तनुं श्रद्धया अर्चति,” जैसी ही भक्ति या जीव की श्रद्धा होती है वैसे ही बनकर ईश्वर उससे मिलते हैं ।

इससे सिद्ध होता है कि भक्ति के पूर्व ज्ञान होना कोई आवश्यक नहीं है । भक्ति में जब स्व' का अभाव रहता है तो यह भक्ति उच्च कोटि की होती है । इसी को भक्ति का साध्यावस्था कहते हैं । इस अवस्था पर पहुँचने पर भक्त मुक्ति का भी तिरस्कार कर देता है । इसी को अरविन्द पूर्ण योग कहते हैं । भक्ति की साध्यावस्था और अरविन्द का पूर्ण योग एक ही है । अरविन्द कहते हैं कि “जो लोग ज्ञान पर अधिक बल देकर चलते हैं वे भी उसी ईश्वर तक पहुँचते हैं । उनका यह ज्ञान, ज्ञान-यज्ञ और ज्ञान के ही एक अनिर्वचनीय परम भाव और आनन्द से वे पुरुषोत्तम की भक्ति करने लगते हैं । “ज्ञान यज्ञेन भजन्ते मायुपासते ।” यह वह ज्ञान है, जो भक्ति से भरा हुआ है; क्योंकि यह अपने कारणों में पूर्ण है, अपने लक्ष्य में पूर्ण है । वह ज्ञान निरर्थक है जिसमें भक्ति का समावेश न हो और वह ज्ञान नहीं अज्ञान है जो भक्ति की ओर उन्मुक्त न करता हो । ऐसा ज्ञान कोरा ज्ञान है जिसमें भक्ति का लेशमात्र भी स्थान नहीं है ।<sup>३</sup> ज्ञान के द्वारा ईश्वर को जानना ही पर्याप्त नहीं है जब तक उसके साथ हृदय और अन्तःकरण भगवान् की ओर प्रगाढ़ता के साथ ऊपर न उठे । जब तक कि मनुष्य के अन्दर वह ज्ञान एकमुखी और साथ ही सर्वग्राही प्रेम, भक्ति और अभीप्सा को प्रज्वलित कर दे । वह ज्ञान, जिसके साथ अभीप्सा और भक्ति नहीं होती और जो उन्नयन से उद्दीप्त नहीं होता कोई सच्चा ज्ञान नहीं है, क्योंकि ऐसा कोरा ज्ञान केवल बौद्धिक रूप से देखने की क्रिया और नीरस ज्ञान प्रयास मात्र हो सकता है । भगवान् की शांकी पा लेने के बाद तो भगवान् की भक्ति और उन्हें ढूँढ़ने की सच्ची आस्था और लगन प्राप्त हो जाती है । वह ऐसी लगन प्राप्त हो जाती है जो केवल उस भगवान् को ही नहीं, जो अपने कैवल्य रूप हैं, बल्कि उस भगवान् को भी जो हम लोगों के अन्दर हैं या अन्तर्यामी हैं और उस भगवान् को भी जो यह सब कुछ हैं उसके अन्दर हैं या सर्वव्यापी हैं, ढूँढ़ती-फिरती रहती है । उस ईश्वर की तो बुद्धि से जानना केवल समझना है और प्रारम्भ के लिए यह एक प्रभावशाली साधन हो सकता है पर साध्य नहीं ।

१. वही, पृष्ठ ३४२ ।

२. वही, पृष्ठ ३४३ ।

३. अरविन्द : योग समन्वय ( उत्तरार्द्ध ), भाग ३-४, पृ० ६३४ ।



अरविन्द कहते हैं कि गीता में भक्ति का दृष्टिकोण आत्मसमर्पण से है। भगवान् की भक्ति मन का समर्पण ही है। भक्ति ही मोक्ष प्राप्ति का परम साधन है। बिना भक्ति के मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। परमेश्वर के अभ्यास रूप योग से युक्त अन्य तरफ न जाने वाला चित्त से निरन्तर ईश्वर में चिंतन करता हुआ पुरुष ( भक्त ) परम प्रकाश स्वरूप दिव्य अर्थात् ईश्वर को प्राप्त होता है। इसी बात की पुष्टि गीता के आठवें अध्याय के आठवें श्लोक से होती है और इसकी विस्तृत व्याख्या ग्यारहवें अध्याय के पचपनवें श्लोक से होता है :

“भक्तर्म कृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

निवैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥”—गीता ११-५५।

अर्थात् जो पुरुष केवल मेरे ही लिए सब कुछ मेरा समझता हुआ यज्ञ, ज्ञान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करने वाला है और मेरे परायण है, अर्थात् मेरे को परम आश्रय और परम गति मानकर, मेरी प्राप्ति के लिए तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्य को श्रवण, मनन, कीर्तन, ध्यान और पठन-पाठन का प्रेम सहित निष्काम भाव से निरन्तर मेरे को भजने वाला है, आसक्ति रहित है और सम्पूर्ण भूत प्राणियों में वैरभाव से रहित है, ऐसा वह अनन्य भक्ति वाला पुरुष मेरे को ही प्राप्त होता है। भक्त में सर्वत्र भगवद् बुद्धि हो जाने से उस पुरुष का अति अपराध करने वाले में भी वैरभाव नहीं होता है।

भक्ति एक मनोभाव है। भक्ति एक मानसिक वृत्ति है। जिस भाव को हम ईश्वर में लगाते हैं, वही भक्ति है। भक्ति का मूल है श्रद्धा। श्रद्धा और विकास एक मानसिक धारणा है। श्रद्धा के अभाव में भक्ति हो ही नहीं सकती; जब कि ज्ञानाभाव में भक्ति हो सकती है। यदि ईश्वर में श्रद्धा और विश्वास हो तो आप भक्त की श्रेणी में आ सकते हैं। कर्ता अहंकार को रखकर अपने लिए करता है, परन्तु अहंकार को त्यागना चाहिए। अहंकार को त्यागना कठिन है, इसलिए अहंकार को धीरे-धीरे त्यागना चाहिए। यह अहंकार न छूटे तो मानसिक दृष्टि बदल देनी चाहिए अर्थात् आप जो भी करें, इस भावना से करें कि मैं एकमात्र ईश्वर का दास हूँ। यह कार्य ईश्वर का ही है, मेरा नहीं है। इस प्रकार की आन्तरिक वृत्ति होनी चाहिए।

“त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये।”

( अर्थात् हे भगवान् ! मैं आपकी वस्तु आपको ही समर्पण कर रहा हूँ। ) भक्ति में श्रद्धा और विश्वास एक गुण है। इसके अभाव में आप भक्ति नहीं कर सकते, इसके अभाव में आप जीवित भी नहीं रह सकते। गीता में कहा गया है—जो भी है उसे ईश्वर के प्रति रखकर समर्पण कर दो, ईश्वर विश्व का जड़ ( मूल ) है। इसलिए ईश्वर को समर्पित करके पूरे विश्व को समर्पित कर दो। इसी तरह की बात अरविन्द भी कहते हैं—“भक्त या योगी अपने संकल्प, विचार और आचार को ज्ञानपूर्वक ईश्वर के संकल्प, विचार और आचार के साथ एक कर देता है, उसका चित्त अन्तःस्थित भगवान् के साथ सदा अपने अन्दर होने की भावना के साथ एक प्रकार की सतत् अनुभूति के द्वारा सुसंगत बना रहता है और वह सबके



1972 ]

अरविन्द के अनुसार गीता में भक्ति योग

101

अन्दर उन्हीं को देखता और उन्हीं की पूजा करता रहता है और समूचे मानव-कर्म को भागवत प्रकृति के परम अभिप्राय में परिणत कर देता है।<sup>१</sup>

गीता और अरविन्द दोनों आत्म-समर्पण पर बल देते हैं। श्रवण, मनन, कीर्तन स्मरण, अर्चन, वन्दना आदि को इन्कार भी नहीं करते और न स्वीकार ही करते हैं। हाँ, इतना जरूर कहते हैं कि ये सब भक्ति के साधन मात्र हैं साध्य तो आत्म-समर्पण ही है। विष्णुपुराण और शिवपुराण भी आत्म-समर्पण को ही अधिक महत्व देते हैं :

विष्णुपुराण—

“श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्म निवेदनम् ॥”

शिवपुराण—

“श्रवणं कीर्तनं चैव स्मरणं सेवनं तथा ।

दास्यं तथार्चनं देवि वन्दनं मम सर्वदा ॥”

अपने आराध्य की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण देहादि को उसको अर्पण कर देना और अपने निर्वाह के लिए शून्य समझना ही आत्म-समर्पण कहलाता है ।

अरविन्द भक्तों को चार कोटियों में बाँटते हैं :<sup>२</sup>

( १ ) प्राणगत भावमय प्रकृति की भक्ति ।

( २ ) व्यावहारिक गतिशील, कर्मप्रधान प्रकृति की भक्ति ।

( ३ ) तर्क प्रधान बौद्धिक प्रकृति की भक्ति ।

( ४ ) परम अन्तर्ज्ञानमय सत्ता की भक्ति ।

चौथे प्रकार की जो भक्ति है शेष सारी प्रकृति को भगवान् के साथ एकत्व में समेट लेती है । इस चौथे प्रकार की भक्ति को छोड़कर शेष तीन प्रकार की भक्ति प्रारम्भिक प्रयास मात्र हैं । ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है जो यह जानता हो कि सर्वव्यापी वासुदेव ही सब कुछ हैं । अन्तर्ज्ञानमय सत्ता की भक्ति करने वाला ही असली भक्त होता है । इसी भक्त के अन्दर सभी गुण ( भक्त के २४ गुण ) विद्यमान रहते हैं ।

गीता में भी भक्त को ४ भागों में विभाजित किया गया है :

“चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽजुनि ।

आर्तो जिज्ञासूरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ ७।१६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्वि शिष्यते ।

प्रियोहि शानीनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ ७।१७ ॥

बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥” ७।१९ ॥

१. अरविन्द : गीता प्रबन्ध, पृ० ३६५-६६ ।

२. वही, पृ० २४९, २५० ।



( हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन ! अति दुःखपीडित ), जिज्ञासु ( तत्त्व जानने का इच्छुक ) अर्थार्थी ( योग प्राप्ति की इच्छा करने वाले ) और ज्ञानी ( तत्त्व ) ये चार प्रकार के सदा-चारी मेरी भक्ति करते हैं। इनमें नित्य समभाव रखने वाला योगी और एकनिष्ठ ज्ञानी भक्त विशेष श्रेष्ठ होता है। मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। यहाँ पर ज्ञानी का अर्थ ज्ञानी भक्त से लेना चाहिए। एक सब ही ( उदार ) श्रेष्ठ हैं। ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि वह योगी मुझे श्रेष्ठ गति मान कर मेरा ही आश्रय लेता है। ज्ञानी मनुष्य 'वामुदेव ही सब कुछ है' ऐसी प्रतीति प्राप्त कर बहुत जन्मों के अनन्तर मुझ ( ईश्वर ) को प्राप्त होता है :

महामारत में पूर्वोक्त चतुर्विध भक्तों का वर्णन इस प्रकार है :—

“चतुर्विधा ममजना भक्ता एवं हि मे श्रुतम् ।

तेषा मेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्य देवताः ॥

अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्म कारिणाम् ।

ये च शिष्टामयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ॥

सर्वे च्यवन धर्मारते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ॥”

—महामारत, शान्ति०, ३४१/३३-३५ ।

ये चार प्रकार के लोग ईश्वर भक्ति करते हैं; उनमें अन्य किसी देवता की भक्ति न करते हुए एक ही ईश्वर की उपासना करने वाले सबसे श्रेष्ठ हैं। फलेच्छा का त्याग करके कर्म करनेवाले भक्तों का अन्तिम प्रासव्य ईश्वर है। अन्य तीनों प्रकार के भक्त अर्थात् आर्त, जिज्ञासु तथा भोगार्थी फल की इच्छा से कार्य करते हैं। इसलिए सकामता से कार्य करने के कारण ये गिरते हैं, परन्तु ज्ञानी भक्त सबसे श्रेष्ठ होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अरविन्द और गीता, दोनों के अनुसार ज्ञानी भक्त सदा 'नित्ययुक्त' होता है। अर्थात् उसका योग साधना सतत् और निरन्तर चलता रहता है। उसके साधन में खण्ड कभी नहीं होता। वह अखण्ड योग साधना किया करता है। वह जो भी कर्म करता है, वह योग ही होता है; क्योंकि तत्त्वविद् होने से वह कोई भी अनुचित कर्म नहीं करता और उसके कर्म में कुशलता रहती है और समभाव रहता है अर्थात् योग के सब लक्षण उसके जीवन में पूर्ण रूप से रहते हैं। इसलिए वह जो कुछ करता है, वह योग ( भक्ति ) ही होता है। इसी कारण उसका समस्त आचरण अखण्ड योगानुष्ठान होता है।





श्री अरविन्द (लगभग १८७९)





o  
o  
i  
  
w  
R  
w  
A  

---

1.  
2.  
3.  
4.  
5.  
6.



## SRI AUROBINDO : LIFE AND THOUGHT

K. L. Srivastava,

Lecturer in History, B. H. U.

"Thought builds the Universe. The mind alone is real. All that is seen is but a dream."<sup>1</sup>

Such was the saying of great yogi who enlightend the people, steeped in darkness and ignorane, by his gospels. Sri Aurobindo occupies a high place in the history of Indian Nationalism. He devoted his whole life for the sake of his motherland and the spiritual uplift of humanity. The ideals of Swami Dayananda<sup>2</sup> and Shri Ramkrishna Paramhansa<sup>3</sup> had a deep impact on Sri Aurobindo. He prepared a new plan for the attainment of India's freedom. He exhorted the human beings "to become ready for the manifestation on earth of the Light and Force of the Truth, the time for which has come".<sup>4</sup> Sri Aurobindo felt that India could not remain aloof and unaffected by the radical ideas which were them dominating the European minds. He observed, ".....although the centre of agitation is in progressive Europe, yet the East is being rapidly drawn into this Churning of the Thought and thus breaking up of old ideas and old institutions."<sup>5</sup>

Sri Aurobindo hails from a family whose members were imbued with patriotic feelings and nationalism. His maternal grandfather, Rajnarayan Basu, is known as 'The Grandfather of Indian Nationalism,' who incited the youngmen to rise against the British rule.<sup>6</sup> Sri Aurobindo belonged to Konnagar in Hooghly District West Bengal

1. Sri Aurobindo : 'Arise, Awake, Great India !', *Bhavani Journal*, Bombay, August 20, 1961, p. 17.
2. Sri Aurobindo called him 'a soldier of Light' who vowed to rebuild India on the eternal truths of the *Vedas*.
3. Sri Ramkrishna had the vision of God as Mother and saw her Light in man.
4. Sisir kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, New Delhi, 1972, p. 10.
5. Sri Aurobindo : *Ideal and Progress*, quoted in Sisir kumar Mitra, *Sri Aurobindo*, pp7-8.
6. He appealed to his countrymen : "Will you for ever lie in the slough of despondence ? Are you so dull-headed as to think, that our foreign conquerers are a set of philanthropist. Who have come to our country to serve your interests only and not their own ?"

—Atul Gupta : *Studies in the Bengal Renaissance*, p. 210.



which became very famous during the Swadeshi movement. His father, Dr. Krishna Dhan Ghosh and grandfather Koliprasad Ghosh were prominent personalities. His mother Smt. Swarnlata and grandmother Smt. Kailasbasini Devi were religious ladies. In 1876, a secret society known as 'Sanjibani Sabha' (Life-giving society) was established which attracted Rabindranath Tagore and the members of his family.<sup>1</sup> In 1861, Rajnarayan Basu published the 'Nationality Promotion Scheme' which was the basis of National fairs (Jatiya Mela). These fairs gave impetus to the 'Students Association' of Anand Mohan Bose, 'Indian League' of Shisir Kumar Ghose and Indian Association of Surendranath Banerjee which are regarded 'as precursors of the Indian National Congress (1885).'

Sri Aurobindo was born on 15th August 1872.<sup>2</sup> His father, who had been the Chief Medical Officer at Khulna from 1876 till the end of his life, wanted that his son be given a Christian name.<sup>3</sup> His father was interested in the writings of Bankim Chandra. Sri Aurobindo had his first schooling in Lorotta Convent School at Darjeeling, where the Europeans sent their children for education. In 1879, Sri Aurobindo went to England with his father and brothers, where arrangements were made for their education under the care of Rev. William H. Drewett. Sri Aurobindo and his brothers, Benoy Bhushan and Monomohan were admitted to a school at Manchester. Sri Aurobindo took interest in the study of shakespeare, shelley, Keats and the Bible. He began writing poems for 'Fox Family Magazine.' He had no interest in games.<sup>4</sup> Sri Aurobindo and his brothers were strictly forbidden by his father not to mingle with other Indian students in England.<sup>5</sup> On account of the pro-british attitude of Sri Aurobindo's father, the mother of Mr. Drewett proposed Sri Aurobindo's conversion to christianity which was

1. Every member had to sign the pledge of membership with his own blood drawn from the breast.—B. C. Pal : *Memoirs of My Life and Times*, vol. I, pp246-48.
2. He was born at the residence of his father's friend Man Mohan Ghose, Bar-at-law, the name of whose wife was also Swarnalata.
3. In England Sri Aurobindo was known as Aurabinda Ackroyd Ghose, The English name was assumed as Miss Ackroyd, a friend of Man Mohan Ghose, initiated the christening ceremony of Sri Aurobindo.
4. Once Sri Aurobindo played cricket and impressed the spectators. He was fond of having excursions in the country life in England.
5. Sisir kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 20.



not allowed by Mr. Dremett.<sup>1</sup> He soon made his mark in English literature when he was admitted to St. Paul's school, west kensington, London (1884).<sup>2</sup> Sri Aurobindo became a member of St. Paul's Literary society and took part in a debate on the subject 'The Inconsistency of Swift's Political Views.'<sup>3</sup> He also participated in a debate on Milton.<sup>4</sup> At this time Sri Aurobindo had to face hardships on account of the short remittance of money by his father.<sup>5</sup> Sri Aurobindo studied English poetry, literature, fiction, French literature, History of medieval and modern Europe, Italian, German and Spanish. He also read Dante, Goethe and Plato. He also composed English verses many of which were later published at Baroda (1895) in his book entitled '*Songs to Myrtilla and other Poems*.'<sup>6</sup> Sri Aurobindo wrote on the beauty of nature : "God burns in the star, God blossoms in the rose, the cloud is the rushing dust of his chariot, the sea is the spuming mirror of his moods. His breath whistles in the wind, his passions reddens in the sunset, his anguish drops in the rain."<sup>7</sup> He studied classical poetry and composed verses in Greek and Latin.<sup>8</sup>

Sri Aurobindo became the secretary of the 'Indian Majlis' at Cambridge and delivered many fiery speeches there.<sup>9</sup> This alarmed the British authorities and he was subsequently disqualified for the Indian

1 Ibid.

2. The Head-Master, Dr. Walker took great interest in Sri Aurobindo and personally taught him Greek.

3. Minutes of November 5, 1889.

4. Minutes of November 19, 1889.

5. Sri Aurobindo once said, "During the whole year a slice or two of sandwich, bread and butter and a cup of tea in the morning and in the evening, a penny worth of savely, formed the only food."

—Sisir Kumar Mitra observes, "what a trial for these young souls in a foreign land !" (*Sri Aurobindo*, p. 21.)

6. These poems relate to romantic idealism, Goethe and Bankimchandra.

7. Quoted in Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 22.

8. His elder brother Monomohan asked him to study classical poetry. In India Monomohan joined the Indian Education Service and served at Patna college, Dacca college and Calcutta Presidency college as Professor of English.

Sri Aurobindo wrote a poem on the Irish leader Parnell which indicates his interest in the political affairs. (Ibid.)

9. The 'Indian Majlis' played a vital role in the social life of the Indian scholars living in England. —R. C. Majumdar, *History of the Freedom Movement in India*, Calcutta, 1963, Vol. I, p. 461.



civil service.<sup>1</sup> Regarding Sri Aurobindo's joining the Indian civil service, his father wrote to a relative, "Ara ( Sri Aurobindo ) I hope will glorify his country by his brilliant administration."<sup>2</sup> Sri Aurobindo had no interest in the Indian civil service. He appeared in the test at the instance of his father. He remarked ".....I had no interest in the administrative life. My interest was in poetry and literature and the study of languages and patriotic action."<sup>3</sup> In England, Sri Aurobindo was kept regularly informed about the atrocities, perpetrated by the British on Indians, by his father, who regularly despatched 'The Bengalee' newspaper. In England Sri Aurobindo was not given proper facilities for his studies as is evident from the remark of Oscar-Browning of King's College, Cambridge : "How rude we are to scholars ! We get great minds to come down here and then shut them up in that box. I suppose it is to keep their pride down."<sup>4</sup> At Cambridge he studied Bengali and Sanskrit.<sup>5</sup> He learnt the English literature and poetry from several learned scholars at Cambridge---Robert Petland, Felix Xavier de Souza, K. G. Deshpande, Sri Hari Singh Gaur, Norman Ferris.<sup>6</sup>

In 1892, Sri Aurobindo and his brothers became members of a secret society at London, called 'The Lotus and Dagger.'<sup>7</sup> Deshbandhu C. R. Das met Sri Aurobindo at London and helped him in his revolutionary work. They also discussed the political programme there. After reading the works of Max Muller, a desire to study *Vedanta* and practise 'Yoga' was kindled in him. In 1893, Sri Aurobindo left England after a study of 14 years for taking up his assignment in the Baroda State.<sup>8</sup>

1. Sri Aurobindo secured very good marks in the selection test but he was deliberately disqualified in the riding test.
2. *The Orient*, Calcutta, dated 27. 2. 1949.
3. Nirodbaran, *Talks with Sri Aurobindo*, pp. 58-59.
4. When Oscar-Browning visited the room of Sri Aurobindo, he was very much annoyed at the lodging arrangements and angrily remarked "That wretched hole !" ---Quoted in A.B. Purani, *The Life of Sri Aurobindo*, p. 23.
5. Mr. Towers known as Pandit Towers taught him Bengali at Cambridge. Sri Aurobindo learnt Sanskrit by himself.
6. Afterwards Sri Aurobindo wrote an exhaustive dissertation on the subject.—see Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 26.
7. Its members vowed to work for the Indian freedom movement.
8. In 1892 Sri Sayajirao Gaekwad, who was in search for an I. C. S. selected Sri Aurobindo for his state.



The year 1893 was remarkable year in Indian history<sup>1</sup> in the sense that Swami Vivekananda had gone to the west to deliver the message from the East and Sri Aurobindo had come to India 'to liberate the world.'<sup>2</sup> On landing at Apolloo Bunder (January 1893), Sri Aurobindo remarked, ".....since I set foot on the Apollo Bunder in Bombay, I began to have spiritual experience.....A thing, I never knew about, never bargained for "didn't understand either."<sup>3</sup> Sisir Kumar Mitra remarks, "Even his political work had a pretty long period of silent inner preparation before hand.....In fact, his spritual work began with his work for India's freedom."<sup>4</sup> Both Sri Aurobindo and Rabindranath Tagore believed that spiritual freedom leads to social and political freedom.<sup>5</sup>

At Baroda Sri Aurobindo worked in various departments and afterwards he took up his assignment in the Baroda College first as Lecturer in French and then as professor of English and the Vice Principal. Once Tait, the principal of the College, who was an Englishman, remarked to C. R. Reddy, "Did you notice his eyes ? There is a mystic fire and light in them. They penetrate into the beyond. If Joan of Arch heard heavenly voices, Aurobindo probably sees heavenly visions."<sup>6</sup> People at Baroda held him in high esteem. "There was a magnetism in his personality and an unpalpable aura of a lofty ideal and a mighty purpose about him,....."<sup>7</sup>

In a series of his articles entitled 'New Lamps for old' in the *Indu Prakash* (a Bombay weekly) between the August 1893 and March 1894, Sri Aurobindo bitterly criticised the policies of the

---

1. In 1893 Annie Besant came to India to work for India's liberation. Gandhiji went to South Africa to plead the cause of Indians living there. Tilak started the Ganpati Festival which aroused national consciousness among the people.

2. Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 21.

3. Ibid. p. 28; see also Nirodbaran, *Correspondence with Sri Anrobindo*.

An unfortunat event occurred at this time when his father died of shock on receiving the wrong news of the wreak of a steamer in which Sri Aurobindo was supposed to be travelling.

4. Sisir Kumar Mitra, *The Liberator-Sri Aurobindo, India and the world*, Jaico Pub. House, 1954, p. 3.

5. Rabindranath Tagore, *The Religion of Man*, London, 1931, p. 188.

6. For details see K, R. Srinivas Iyengar : *Sri Aurobindo*.

7. Rishabhchand : *Sri Aurobindo : Life and work*; Sisir Kumar Mitra, *Sri Aurobindo*, p. 30.



Indian National Congress. On August 28, 1893, Sri Aurobindo wrote, "In an era when democracy and similar big words slide so glibly from our tongues, body like the congress, which represents not the masses of the population, but a single and a very limited class could not honestly be called National....."<sup>1</sup> He again remarked, "I say, of the congress, then, this—that its aims are mistaken.....we are at present the blind led, if not by the blind, at any rate by the one-eyed."<sup>2</sup> His disappointment in the programme of the Indian National Congress is revealed from his remarks, "How shall we find words vivid enough to describe the fervour of those morning hopes, the April splendour of the wonderful enthusiasm ? The congress was to us all..... a proud banner in the battle of Liberty, a holy temple of concord where the races met and mingled."<sup>3</sup> Sri Aurobindo sarcastically named the congress as 'Indian Un-National Congress.'<sup>4</sup>

Shri Aurobindo paid tribute to Bankim Chandre Chatterjee, the creator and king of Bengali Prose.<sup>5</sup> He continued his literary work side by side his political activities in the Nationlist movement.<sup>6</sup> The field of his study was vast. He translated the Sanskrit passage, which he studied, into English. His translations of the *Upanishads*, the *Ramayana* and the *Mahabharat* were memorable works in the field of literature.<sup>7</sup> Sri

1. Quoted in Haridas Mukherjee and Uma Mukherjee, *Sri Aurobindo's Political Thought*, pp, 75-76.
2. Ibid.
3. *Indu Prakash*, dated August 7, 1893.
4. Sri Aurobindo, *Bankim Chandra Chatterjee*, Pondicherry 1954,
5. He was very much influenced by the religion of patriotism which was the main theme in the writings of Bankim Chandra.  
see Sri Aurobindo : *Rishi Bankim Chandra*, Chandernagore, 1923.p. 13.
6. Sri Aurobindo produced two English versions of the *Bandemataram*, one in verse and the other in Prose. At Baroda he revised his knowledge in Bengali and Sanskrit and learnt Gujarati and Marathi. He also translated into English the works of mystic poets of medieval Bengal—Chandidas and Vidyapati, 'the twin creators of Bengali Poetry.'
7. Ramesh Chandra Dutta wrote to Sri Aurobindo, "I am sorry to have wasted so much of my labours over this work. Had I seen your translations before I would never have published mine. It now appears that my translations have been a child's play beside yours."—noted in Divendra Kumar Roy, *Arabinda Prasanga* (Bangali); Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 40.





श्री अरविन्द (लगभग १८९०-९२) किंग्स कालेज कैम्ब्रिज में अध्ययन करते हुए। क्लासिकल ट्रीपोज I (प्रथम श्रेणी) और आई० सी० एस० परीक्षा उत्तीर्ण किया।







Aurobindo had his own views about the functions of a translator. He said, "A translator is not necessarily bound to the original he chooses; he can make his own poems out of it, if he likes, and that is what is generally done."<sup>1</sup> Sri Aurobindo also translated Bhartrihari's *Nitishatak* as '*The Century of Life*', Kalidasa's *Vikramorvasie* as '*The Hero and the Nymph*' and other works of Kalidasas' *Kumarsambhava* (*The Birth of the war-God*) and *Meghduta* (*The Cloud Messenger*). He regards Kalidasa as 'the mirror of an important and necessary phase in Indian history.'<sup>2</sup> 'To him Kalidas was the great representative poet of the age, a poet of love and beauty and the joy of life.'<sup>3</sup> His programme for a detailed study of Kalidas had to be abandoned on account of pressure of political work. In the first chapter, entitled. *The Age of Kalidas* Sri Aurobindo wrote, "Valmiki, Vyasa and Kalidasa are the essence of the history of ancient India.....Each of these master poets was the embodiment of national consciousness."<sup>4</sup> At Baroda Sri Aurobindo mostly studied poetry. He composed the poems '*Urvashi*' and '*Love and Death*.'<sup>5</sup> 'Love conquering Death' is the central idea of his monumental work *Savitri*.<sup>6</sup> Sisir Kumar Mitra remarks : "Through poetry he gave expressions to his visions and of experiences and through politics he did what he felt he should for the freedom and greatness of his motherland."<sup>7</sup> His important books are, *The Essays on the Gita*, *The Ideal of Human Unity*, *A synthesis of Yoga*, *Future Poetry*, *The Psychology of Social Development* and *The Life Divine*.

In 1816 Sri Aurobindo became the President of Secret Society at Poona, the scope of which was widened with the amalgamation of other youth wings, functioning under the supervision of Sri Aurobindo<sup>8</sup> and the 'Hindu Dharma Sangha', established by Chapekar brothers.<sup>9</sup> In his revolutionary movement, Sister Nivedita, the Irish disciple of Swami

- 
1. Dilip Kumar Roy : *Among the Great*, Jaico Pub. House 1950, p. 243.
  2. Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 41.
  3. Ibid., p. 40.
  4. Ibid., p. 41.
  5. K. D. Sethna : *Sri Aurobindo, The Poet.*, p. 73t
  6. *Savitri* is twice as long as Milton's *Paradise Lost*.
  7. *Sri Aurobindo*, p. 43.
  8. Sri Aurobindo became the President of the central organisation of this society for the whole of Gujarat.
  9. One of the chapekar brothers was sentenced to death in 1897 for murdering British officers—Mr. Rand, the collector of Poona and Lt. Averst another officer to avenge the atrocities perpetrated by them on the Indians.



Vivekananda, gave her moral support.<sup>1</sup> Sri Aurobindo remarked, "When ever she ( Sister Nivedita ) used to speak on revolution, it was her very soul, her true personality that came out....."<sup>2</sup> In 1903 Sri Aurobindo's brother, Barindra, joined the revolutionary work.<sup>3</sup> As later on some differences arose among the members of the party.<sup>4</sup> Sri Aurobindo formed a council of 5 members to resolve the deadlock in the work. Though this arrangement continued for some time but the could not be carried on for long due to the personal differences of the members.<sup>5</sup>

The political philosophy of Sri Aurobindo is revealed in his two letters which he wrote to wife:<sup>6</sup> "I look upon my country as the Mother I worship her and adore her as the Mother. What would a son do when a demon sitting on the breast of his mother is drinking her blood ? would he sit down content to take his meals and go on enjoying himself in the company of his wife and children or would he rather, run to the rescue of his mother ?"<sup>7</sup> In another letter he wrote, ".....I am no longer my own master; I will have to go like a puppet wherever the Divine takes me; I shall have to carry out like a puppet whatever He makes me do....."<sup>8</sup>

1. Sri Aurobindo was also encouraged by Jagdish Chandra Bose in his revolutionary work.

2. To a question on the indebtedness of the Indian Nation to Sister Nivedita, Sri Aurobindo replied "Indebted ? There can be no measure of our indebtedness to Nivedita."

—Sisir Kumar Mitra : Sri Aurobindo, pp. 47-48.

3. A society called 'Anushilan Samiti', which was the parent organisation of the revolutionary movement was established in Bengal under the guidance of P. Mitra in 1901. A similar organisation was planned by Sri Aurobindo who was then in Baroda. —R. C. Majumdar, History of the Freedom Movement in India, Calcutta, 1963, vol, I p. 460.

4. There were differences between Barindra and Jatindra, a fiery young-man, who was determined to nullify the British policy of debarring the Bengali from joining the army.

5. Jatindra left the party and became a sanyasi ( Niralamba Swami ).

6. In April, 1901, Sri Aurobindo married Mrinalini, daughter of Bhupal Chandra Bose.

7. Letter dated 30th August, 1905, in Bengali. An extract of this letter was published in Upendra Chandra Bhattachary, *Bharat-Purusha Sri Aurobinda* (Bengali), p. 46.

8. Letter dated Feb 17, 1905, in Bengali.

While searching Sri Aurobindo's house in Calcutta (1908), The police seized these letters. These papers were delivered to the Ashram, by the Government of West Bengal in 1952.

—See Sisir Kumar Mitra, *The Liberator—Sri Aurobindo, India and the World*, p. 60, f. n.



Sri Aurobindo's ideals of the uplift of humanity may be gathered from some of his writings. "It is not human nature to rest eternally contented with a state of subordination or serfdom.....Tyrants have tried but have they ever succeeded in repressing the natural love of freedom in man ? Repressed it has grown in strength; crushed under the heel of the tyrant, it has assumed a myriad forms and in successive incarnations..... to overthrow its oppressor for good; this is the teaching of History, this is the message of humanity.....tyrannies have eyes but they see not, have ears but they hear not and the universal teaching of history and the eternal message of humanity of both lost on them."<sup>1</sup>

Sri Aurobindo set forth an Ideal to guide the activities of the 'Ashrama'<sup>2</sup> which was established at the instance of his brother Barindra, for the youth of the country outside Bengal, such as, Bihar, Orisa and even province in the South like Madras. He gave a call to construct a temple in a calm and quiet place in the hills which was to be dedicated to 'Bhawani', the Mother.<sup>3</sup> Thus began the 'Bhawani Mandir' movement,<sup>4</sup> Which attracted people from far off places.<sup>5</sup> Barindra gave a call to his countrymen, "hundreds of thousands of them who are ready to wipe out with their blood the stain of agelong subjection."<sup>6</sup>

Sri Aurobindo had already begun practising 'Yoga' and taking keen interest in spiritualism. Under the guidance of a disciple of Swami Brahmanand, he performed 'pranayama' and other yogic exercises for the first time in 1904. Sri Aurobindo felt that by these yogic exercises his mind had become very receptive and sharp and

1. Quoted in M.A. Buch, *Rise and Growth of Indian Militant Nationalism*, pp. 83-85.
2. To preach the gospel of revolution, the first book entitled, *Bhawani Mandir* was published in 1905. (R. C. Majumdar, *History of the Freedom in India*, Calcutta, 1903, Vol. II, p. 69.
3. 'Bhawani Mandir Om Namas Chandikayai' This temple was to be the center of a new order of political devotees, who were to be 'Brahmacharis.' (Ibid.)
4. In his forward to G. H. Langley's book entitled, *Sri Aurobindo, poet, Philosopher and Mystic*, Lord Ronaldshay remarks that 'Bhawani Mandir' movement "seemed indeed to have been the mainstream behind Sri Aurobindo's activities in support of the revolutionary movement."
5. Both Charu Chandra Dutt and G. D. Madgaokar who belonged to the Indian civil service supported the 'Bhawani Mandir' movement.
6. *The Heart of Aryavarta*, p. 92.



'worked with great illumination and power'<sup>1</sup> Sri Aurobindo said about 'yoga', "The power to distinguish between the truths of the Divine and the lies of the 'Asura' is a cardinal necessity for 'yoga'."<sup>2</sup> He wrote on another occasion, "The Super-conscient, not the sub-conscient is the foundation of things. The significance of the lotus is not to be found by analysing the secrets of the mud from which it grows here, its secret is to be found in the heavenly archetype of the lotus that blossoms for ever in the Light above."<sup>3</sup> Sri Aurobindo remarked, "Trust the Divine Power and she will free the god-like elements in you and shape all into an expression of Divine Nature."<sup>4</sup> Regarding the importance of yoga, Sri Aurobindo said, "We believe that it is to make *Yoga* the ideal of human life that India rises today, by *Yoga* she will get the strength to realise her freedom, unity and greatness....."<sup>5</sup> On Sri Aurobindo's Yogic exercises, Upendranath Banerji observes, he would "get lost in his spiritual meditations. Even the hell of the noise.....did never disturb or affect him. In the afternoons he would pace up and down the room and read the *Upanishads* or such holy things."<sup>6</sup>

The partition of Bengal by Lord Curzon (1950) gave a new fillip to the revolutionary movement. Sri Aurobindo wrote from Baroda to the members of his revolutionary party in Calcutta, "Here is our great opportunity. Push the anti-partition agitation with utmost force. Lots of workers will emerge from it."<sup>7</sup> With the publication of *Yugantar* (March 1906), The revolutionary movement of Sri Aurobindo took a new dimension.<sup>8</sup> He wrote fiery articles in the *Yugantar*, whose office

1. Sri Aurobindo remarked : Usually I wrote 5 to 8 or 10 lines per day. about 200 lines in a month. After the "Pranayama", I could write 200 lines within half an hour.....Along with the enhanced mental activity, I could see an electric energy all round the brain." -Quoted in Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 27.
2. Dilip Kumar Roy : *Among The Great*, p. 250.
3. Ibid, p. 296.
4. Sri Aurobindo : *The Mother*, p. 63.
5. Sri Aurobindo : *The Ideal of the Karmyogin*, p. 5.
6. *Memoirs of a Revolutionary*, p. 73.
7. For details see H. W. Nevins, *The New Spirit of India*, London, p. 227 ++.
8. The circulation strength of *Yugantar* rose to 7000 in 1907 and the strength further rose higher in 1908 when it was muzzled under the then Newspaper Act.—see *Sedition (Rowlatt) Committee's Report* pp. 22-23.  
 'Its circulation reached as much as 50,000 attained by no other Indian newspaper at that time. (see I.M. Reisner and N.M. Gold Berg, *Tilak and struggle for Indian Freedom*, New Delhi, 1966, p. 273.)





लगभग १९०१ में बड़ौदा में श्री अरविन्द अपनी पत्नी श्रीमती मृणालिनी देवी के साथ ।







became a centre of revolutionary work. 'This may be said to be the nucleus of the Manik Tola Garden centre started by Barindra under Sri Aurobindo's direction.'<sup>1</sup> In August, 1906 he resigned from Baroda service and joined Bengal National College.<sup>2</sup> On August 2, 1907, he left his assignment at the National College to devote his whole time in the cause of India's liberation. Bipin Chandra Pal started the publication of an English daily newspaper, '*Bandemataram*' and Sri Aurobindo became its editor. Sri Aurobindo remarked, "The *Bandemataram* was almost unique in journalistic history in the influence it exercised in converting the mind of a people and preparing it for revolution." Ronaldshay observes that the writings of<sup>3</sup> Sri Aurobindo were "a heartening call to his countrymen to save the Motherland."<sup>4</sup> He wrote a series of articles in the *Bandemataram* (between April 9 and 23, 1907) on 'Passive Resistance.'<sup>5</sup> Dr. R. C. Majumdar remarks, "These contain a masterly exposition of the doctrine of Passive Resistance which later in the hands of Gandhiji played an important role in India's struggle for freedom."<sup>6</sup> In his well known article 'An open Letter to My Countrymen' published in the *Karmayogin* (31st July, 1909), Sri Aurobindo explained his doctrine of Passive Resistance which is regarded as his 'Political will'<sup>7</sup> Sri Aurobindo wrote, "Just as 'No representation, no taxation' was the watch word of American constitutional agitation in the 18th Century, So 'No control, no cooperation' Should be the watchword of our lawful agitation for constitution we have none--in the twentieth."<sup>8</sup>

---

1. Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 63.

2. Sisir Kumar Mitra : *The Liberator*, p. 75.

Sri Aurobindo was drawing Rs. 800/-per month in Baroda where as he joined the Bengal National College at Rs. 150/-per month.

The Bengal National College was the nucleus of the present Jadavpur University.

3. Quoted in Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 70.

4. Ronaldshay : *The Heart of Aryavarta*, p. 90.

Sri Aurobindo became the leader of the youth, *Times of India*, December 21, 1907, p. 8.

5. These articles have been published in the form of a booklet entitled '*The Doctrine of Passive Resistance*,' Arya Pub. House, 1948. For detailed programme of Sri Aurobindo's Passive Resistance see Harbilas Sarda, *Swami Krishna Verma*, Ajmer, 1954-5.

6. *Histoty of the Freedom Movement in India*, Vol II, p. 176.

7. *Ibid*, p. 178.

8. Quoted in *Ibid*. pp. 178-79,



Sri Aurobindo was imprisoned (August 16, 1907) for his 'seditions' writings in the *Bandemataram* taken from the *Yugantar* and acquitted.<sup>1</sup> He has been described by Rabindranath Tagore as a voice incarnate, free, of India's soul in his poem 'Salutation to Aravinda Ghose's'.<sup>2</sup> Sri Aurobindo was again arrested and sentenced in the Alipur Conspiracy Case. He utilised the period of his confinement (April 1908 to May 1909) in the study of the *Upanishads* and the *Gita* and the practice of the *Yoga*. After his release, Sri Aurobindo started a weekly paper '*Karmyogin*' in English (June 19, 1909) to propagate his views on Nationalism.<sup>3</sup> He spoke at the conference at Jhalakathi Barisal (June 1909) : "It is God, who rides abroad on the wings of hurricane.....Repression is nothing but the hammer of God..... without suffering there can be no growth.....God is the leader..... It is because God has chosen to manifest Himself and has entered into the hearts of His people that we are rising again as a Nation....."<sup>4</sup> Sri Aurobindo, started a new weekly paper in Bengali called *Dharma*, whose editorials were prefaced by the verse of the *Gita*.<sup>5</sup>

Dr. R. C. Majumdar observes, "Aurobindo Ghosh put the new nationalism on the high pedestal of philosophy and religion."<sup>6</sup> We get a glimpse of Sri Aurobindo's ideas on nationalism from his writings and speeches : "India can best develop herself and serve humanity by being herself and following the law of her own nature."<sup>7</sup> "Nationalism is not a mere political programme. Nationalism is a religion that has

1. The English judges failed to establish the authorship of the articles published in the *Bandemataram*.—see *Times of India*, November 28, 1907, p. 6.
2. See Sachin Sen, *The Political Thought of Tagore*, Calcutta, 1947, p. 360. Rabindranath Tagore went to meet Sri Aurobindo after his acquittal and sarcastically commented in Bengali, 'what ! You have deceived us ! (by not going to Jail); Sri Aurobindo replied in English, 'Not for long will you have to wait'.
- Quoted in Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 74.
3. Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 110.
4. Quoted in R. C. Majumdar : *History of the Freedom Movement in India*, vol. II, p. 187.
5. "Whenever there is the fading of the 'Dharma' and uprising of unrighteousness then I loose myself forth into birth (the *Gita*)."
6. R. C. Majumdar : *Three Phases of India's Struggle for Freedom*, Bhartiya Vidya Bhavan, 1961, p. 32.
7. Sri Aurobindo, 'India's Destiny', *Bhavan's Journal*, Bombay, February 13, 1955, p. 21.



come from God. Nationalism is a creed in which you shall have to live." "There are some who fear to use the word<sup>1</sup> freedom, but I always used the word because it has been the *Mantra* of my life to aspire towards the freedom of my Nation."<sup>2</sup> "Nationalism is the *dharma* of the age, and God reveals himself to us in our Common Mother."<sup>3</sup> "Nationalism is simply the passionate aspiration for the realisation of the Divine Unity in the nation....."<sup>4</sup> ".....Ramdas must be born in one body with Shivaji; Mazzini mingle with Cavour. The divorce of intellect and spirit, strength and purity, may help a European Revolution but by a European strength, we shall not conquer."<sup>5</sup> ".....Awake, awake Great India' is an ejaculatson which said within the mind quietly by hundreds of thousands of persons at a given hour, would produce immeasurable force....."<sup>6</sup>

Sri Aurobindo was again arrested in February, 1910 and acquitted. In his confinement he recieved a Divine message to go to Chandernagore, a French colony which he immediately complied with after his release.<sup>7</sup> His departure from Calcutta did not mean that he retired from politics.<sup>8</sup> "It seems he changed the front. Instead of from the outer he would now carry on his work from the inner Yogic front."<sup>9</sup> In March, 1910 Sri Aurobindo recieved a Divine Command to go Pondicherry where he reached on April 4, 1910. At Pondicherry he tested his achievements

1. From a Lecture delivered at the Bombay National Institution (January 19, 1908). The original quoted in *Bharat-Purush Sri Arabinda* (Bengali), pp. 95-98. The English version quoted in R. C. Majumdar, *History of the Freedom Movement in India*, vol. I, p. 436.
2. *The Modern Review*, VI, p. 187; Sri Aurobindo, *Spéeches* p. 106.
3. Sri Aurobindo : *The Ideal of the Karmayogin*, p. 56.
4. *Bandemataram*, september, 22, 1907.
5. *The Ideal of the Karmayogin*, pp. 17-18.
6. Sri Aurobindo, 'Arise Awake Great India !' *Bhavan's Journal*, Bombay, August 20, 1961, pp. 17-18.
7. Before going to Chandernagore Sri Aurobindo entrusted the task of publishing *Karmyogin* to Sister Nivedita.
8. For the opposite view see Nikhilananda : *Sri Aurobindo's Philosophy East and West*, 1951, pp. 90-91; D. S. Sarma : *The Renaissance of Hinduism*, B. H. U., 1944, p. 686.
9. Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 120. Sri Aurobindo wrote in a letter in 1932 that at chandernagore "I remained in secret, entirely engaged in *Sadhna*" (Ibid.)



in the Yogic field.<sup>1</sup> In 1912, the diplomatic efforts of the British government to get Sri Aurobindo extradited from the French colony, failed.<sup>2</sup> During the World War I, the British government made a move again to bring Sri Aurobindo to Bengal by persuasion and diplomatic pressure but in vain.

In 1971 Sri Aurobindo was approached by Tilak to lead the nationalist movement which he declined. He also refused to accept the offer of Presidentship of the Nagpur Session of the Congress (1920) which was sent through a nationalist worker B.S. Munje. In 1922, Deshbandhu C.R. Das met Sri Aurobindo and discussed with him the scheme of Asian Federation and the Hindu-Muslim problems. Sri Aurobindo opposed the plan of separate electorates for the Muslims.<sup>3</sup> But he supported the Swaraj Party. On the death of Deshbandhu C. R. Das (1925), Sri Aurobindo said, "Chittaranjan's death is a supreme loss.....he was the one after Tilak who could have led India to Swaraj".<sup>4</sup> Sri Aurobindo called Tilak 'One of the mightiest prophets of Indian Nationalism'. In 1925, Lala Lajpat Rai and Purushottam Das Tandon came to seek Sri Aurobindo's guidance on certain political matters. In 1926, Sri Aurobindo again engaged himself in meditation and stopped meeting people.<sup>5</sup>

In 1947, Sri Aurobindo came out from his seclusion and talked to Maurice Schumann,<sup>6</sup> regarding the setting up of an institute for the

- 
1. In 1915 Sri Aurobindo swallowed enough of opium without any harm to his body. There he was bitten by a scorpion but he changed the pain to pleasure by his yoga.
  2. Subramania Bharati ( the Patriot poet ) who was with Sri Aurobindo was worried. But Sri Aurobindo remained calm and unruffled and said, "I am not going to" budge an inch from Pondicherry.—Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 129.
  3. Sri Aurobindo also opposed the plan of C.R. Das in assigning offices to the Muslims on the basis of percentage.
  4. Sisir Kumar Mitra : *Shri Aurobindo*, p. 147. The Year 1926 saw the victory, of his *Sadhna*. On 24th Non 1926, he had a decisive realisation.
  5. Sri Aurobindo made an exception in the case of Rabindranath Tagore who came to see him ( May 28, 1928 ) He said to Sri Aurobindo, "You have the word and we are waiting to accept it from you. India will speak through your voice, Hearken unto me."—*The Modern Review*, July, 1928.
  6. He was sent by the French Governmet.



research and study of Indian and European culture. Dr. K.M. Munshi, who was an old student of Sri Aurobindo at the Baroda Collge, met him. Dr. Munshi observed "He spoke in a low clear voice, which stirred the depth of my being."<sup>1</sup>

The Ashram in Pondicherry became full of life. Dr. D. S. Sarma observes, "There grew up around him ( Sri Aurobindo ) an extensive Ashram of 700 men and women of all nationalities.<sup>2</sup> The Mother opened a school ( Dec 2, 1943 ) in deference to the wishes of Sri Aurobindo to open an Education Centre. In 1951, Sri Aurobindo Memorial Convention was held in Pandicherry which decided to open a University centre there. Accordingly the Mother started 'Sri Aurobindo International University centre' ( January, 6, 1952 ) but after some time the Mother renamed the centre as 'Sri Aurobindo International centre of Education' by deleting the word 'University.'<sup>3</sup>

During the period of 25 years ( 1926-50 ) Sri Aurobindo openly participated in the public affairs on two occasions. The first time when he supported the Allies in the World War II. He characterised the war "not a fight between nations and governments but between two forces, the Divine and the 'Asuric'."<sup>4</sup> He even asked the people to contribute to the War Fund. It was his contention that Hitler was going to capture the world including India. Sri Aurobindo explained his stand in favour of the Allies : "Even if I knew that the Allies would misuse their victory or bungle the peace.....I would still put my force behind them. At any rate, things could not be one-hundredth part as bad as they would be under Hitler."<sup>5</sup> Sri Aurobindo even had a premonition about Hitler's defeat and gave two dates—15th Augut, 1940 and 15th September 1940 for German defeat in the war.<sup>6</sup> The second occasion was when Sri Aurobindo supported Crippis's proposals 'as or step towards indepedence.' He sent his disciple S. Duraiswamy Iyer,

1. Bhavan's Journal, December 26, 1971, *Amrit Bazar Patrika*, dated 14, 6, 53.
2. *Hinduism Through the Ages*, Bharatiya Vidyabhawan, 1956, p. 213.
3. At present the centre provides for the education from kindergarten to the Post-graduate standerd, the subjects taught are Humanities, Languages, Drawing, Science, Engineering, Technology, Physical Education, Art, Music, Dancing etc.
4. Sri Aurobindo: *Views on National Probloms*, Calcutta, 1954, p. 69.
5. *Mother India*, August 15, 1950. For details regarding his views on International Affairs see D. K. Roy : *Among the Great*, pp. 314-15.
6. Sisir Kumar Mitra : *Sri Aurobindo*, p. 168.



Advocate, Madras High court, to influence the Congress Working Committee in New Delhi to accept the proposals of Cripps in view of the threatened posture of Japanese towards India.<sup>1</sup> Sri Aurobindo also wrote to C. Rajagopalachari and B. S. Munje for the acceptance of these proposals by the Congress. But the Congress rejected them.

Sri Aurobindo wrote about the use of spiritual force in international politics : "In Spain-in Madrid I was splendidly successful.....In Ireland and Turkey the success was tremendous. In Ireland I have done exactly what I wanted to do in Bengal."<sup>2</sup> Sri Aurobindo said "The experience of humanity would have remained incomplete without the experiment in Russia." On another occasion he remarked, "Russia<sup>3</sup> is different—unlike others it has lingered in medieval regionalism and not passed through any period of revolt—so when the revolt came it was naturally anti-religious and atheistic."<sup>4</sup>

Sri Aurobindo laid great emphasis on religion : "A spiritual religion of humanity is the hope of the future."<sup>5</sup> According to him "all religions have saved a number of souls but none has yet been able to spiritualise mankind. For that, there is needed not cult and creed, but a sustained and all-comprehending effort at spiritual self-evolution.<sup>6</sup> He did not believe in the cardinal principles of Christianity and Buddhism. Sri Aurobindo wrote, "Christian and Buddhistic doctrine of turning the other cheek to the smiter is as dangerous as it is impracticable.....The disinterested and desireless pursuit of duty is a gospel worthy of the strongest manhood; that of the cheek turned to the smiter is a gospel for cowards and weaklings. Babes and sucklings may practise it because they must, but with others is a hypocrisy."<sup>7</sup>

On the functions of the state, Sri Aurobindo wrote, "It was not the business of the state authority to interfere with or encroach up on the free functioning of the caste, religious community guild, village, township

1. Ibid, p. 171.

2. Nirodbaran : *Talks with Sri Aurobindo*, First series.

3. Sri Aurobindo : *On yoga*, vol. II, pp. 200-201.

4. Ibid.

5. Sri Aurobindo : 'Hope of Humanity', *Bhavan's Journal*, February 21, 1960, p. 13.

6. *Thoughts and Glimpses*, p. 40, quoted in D. S. Sarma : *Hinduism Through The Ages*, p. 220.

7. Sri Aurobindo, 'Vyasa and Valmiki', *Bhavan's Journal*, March 10, 1957, p. 38.



or the organic custom of the region....."<sup>1</sup> He also pointed out certain drawbacks in our village organisation and in the state in ancient India. "The village community had no living connection with the supreme authority and, losing the larger national sense was willing to accept any indigenous or foreign rule that accepted its own self-sufficient narrow life."<sup>2</sup> According to Sri Aurobindo the state in ancient India was a mere mechanical structure like the states in the world today.<sup>3</sup> D. Mackenzie Brown observes, "He ( Sri Aurobindo ) deplores the artificial unity of a centralized state based upon military coercion."<sup>4</sup> Sri Aurobindo gave his view on problems like the linguistic provinces under the Indian Constitution.<sup>5</sup> He was a strong supporter of a world government—"a federation of free nationalities in which all subjection of forced inequality and subordination of one and other would have disappeared....."<sup>6</sup> Sri Aurobindo was opposed to the system of modern capitalism and the tendencies of concentration and centralisation. He believed in the socialistic ideal of Society.<sup>7</sup> Denouncing Communism, Sri Aurobindo remarked, ".....the actual danger presents itself rather as a clash between two opposing ideologies, onea led by Russia and Red China and the other side a combination of peoples, partly moderate socialist who still cling with some attachment the idea of liberty....."<sup>8</sup>

Sri Aurobindo was critical of the educational system of the country which he described as "the most ingeniously complete machine for murder.....and murder not only of man's body but of a man's soul....."<sup>9</sup> Sri Aurobindo said, "The mere inclusion of the matter of Indian thought and culture in the field of knowledge does not make a system of education Indian....."<sup>10</sup> "An education, that confines itself

- 
1. Sri Aurobindo : *Views on National Problems*, calcutta, 1954 second series, p. 29
  2. Sri Aurobindo : *The Spirit and Form of Indian Polity*, Calcutta, 1947, pp. 62-69.
  3. However Sisir Kumar Mitra does not subscribe to this view.—*The Vision of India*, Jaico Pub. House, 1949, p. 131.
  4. *The White Umbrella*, Jaico Pub. House, 1993, p. 124.
  5. *The Hindu*, Madras, December 12, 1948.
  6. Sri Aurobindo : *The Ideal of Human Unity*, Pondicherry, 1956.
  7. *Indu Prakash*, November 13, 1893.
  8. Sri Aurobindo : *Views on National Problems*, p. 68.
  9. Sri Aurobindo : *Bankim Chandra Chatterji*, Pondicherry, 195. p. 26.
  10. Sri Aurobindo : *The Brain of India*, Pondicherry, 1955, p. 8,



only to imparting knowledge, is no education."<sup>1</sup> "The school gives the materials, it is for the students to use them—this is the formula. But the error here is fundamental. Information cannot be the foundation of intelligence."<sup>2</sup> He emphasised that the "faculties of memory, judgment imagination, perception, reasoning," should be "trained to bring fresh materials."<sup>3</sup> Sri Aurobindo felt that "our students are too heavily burdened with many subjects" but he also realised "that the range of studies is pitifully narrow and the books read miserably few."<sup>4</sup> He explained the reason of "These two Contradictory truths." "We neglect the basis and proceed at once to a superstructure small in bulk .....and built on a foundation too weak to bear even the paltry and meagre edifice of our imparted knowledge."<sup>5</sup>

Sri Aurobindo left for heavenly abode on the 5th December, 1950.<sup>6</sup> His greatest contribution was in arousing the patriotic feelings of his countrymen. His revolutionary movement for India's freedom alarmed the British authorities, who became conscious of the dangers of the militant nationalism in India. Sri Aurobindo stressed the importance of the study of the Hindu religious texts and broadened people's outlook by his writings and speeches on various aspects of life. We can profit by his ideas on liberty, nationalism, religion, spiritualism, education and international relations.

---

1. Ibid, p. 11.

2. Ibid.

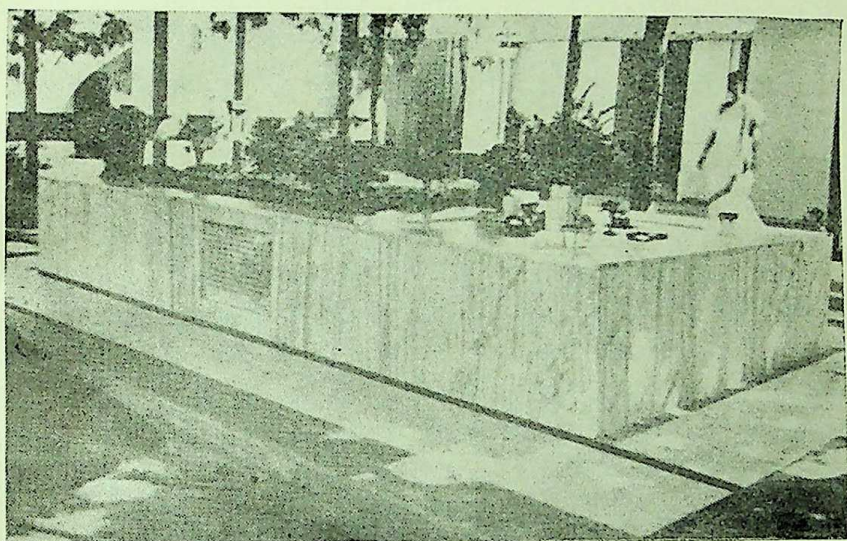
3. Ibid.

4. Ibid, p. 24.

5. Ibid.

6. His wife Smt. Mrinalini Devi had already died in 1918 in Ranchi at her father's house.—Sisir Kumar Mitra, *The Liberator*, p. 32, f. n.





पाण्डीचेरी आश्रम में श्री अरविन्द की समाधि







## आत्मा का स्वरूप

### चिन्तामणि झा

आत्मा का स्वरूप क्या है ?—आत्मा का रूप कुछ भी नहीं है । इसलिये आत्मा का चाक्षुस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । स्पर्शादिगुण रहित होने से यह अन्यान्य इन्द्रियों का भी विषय नहीं हो सकता । आत्मा ज्ञान वा चैतन्य का अमूर्त निराकार आश्रय है ।

आत्मा देशकाल के बन्धनों से अवच्छिन्न या सीमित नहीं है । इसलिये आत्मा विभु और नित्य कहलाता है ।

“अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः ।

तन्नित्यं विभुचेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यताः ।”

आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण श्रुति में भी मिलता है । उपनिषदों में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा—

“आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।”

आत्मा एक है या अनेक, इस प्रश्न पर मतभेद है । वेदान्त मतानुसार प्रत्येक जीव में एक ही आत्मा है जो उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है ।

नैयायिक आत्मा के दो भेद मानते हैं । जीवात्मा और परमात्मा । जीवात्मा अनेक और प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है । परमात्मा एक ही है । वह सर्वज्ञ परमात्मा ईश्वर कहलाता है । आत्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है । वह नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है । वह निराकार, एक और परमार्थ है । वह जीव से भिन्न है । लेकिन जीव उससे भिन्न नहीं है । आत्मा जीव का सत्य रूप है ।

आत्मा निर्विशेष चैतन्य है जो जीव को प्रकाशित करता है । वह ज्ञाता-ज्ञेय-शून्य सार्वभौम चैतन्य है । वह निष्प्रपञ्च है । वह चिदानन्दधन है । वह भोक्तृत्व और कर्तृत्व से रहित है । फिर भी उपाधियों के कारण वह कर्ता और भोक्ता प्रतीत होता है ।

आत्मा ब्रह्म है । वही एकमात्र तत्त्व है । जो तत्त्व अन्दर है वही बाहर भी है । आत्मा नित्य चैतन्य है जो संसार का, व्यावहारिक जगत् का, आधार है । आत्मा ही निर्विशेष ब्रह्म है । वही निरतिशय भूमाख्य ब्रह्म आत्मा है । आत्मा परमात्मा है । उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य मृत्यु को लांघ सकता है :

“तमेव विदित्वानि मृत्युमेति ।”—यजुर्वेद, ३१.१८ ।

यद्यपि परमात्मा एक है तो भी विद्वान् लोग उन्हें अनेक नामों से पुकारते हैं :

“एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।”—ऋग्वेद, १.१६४.४६ ।

परमात्मा में ही सारे लोक अवस्थित हैं । वह व्यापक परमात्मा सारी प्रजा में ओतप्रोत है ।



“तस्मिन् तस्युर्भुवनानि विश्वा ।”—यजुर्वेद, ३१.१९ ।

“तस्मिन् तत्सु भूवनानि विश्वा । यद्युदरं तत्रात्मनोऽप्यनुभूतिः ।  
समी आस्तिक दर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। न्याय और वैशेषिक  
आत्मा को एक अविनश्वर और नित्य पदार्थ मानते हैं और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख  
तथा ज्ञान को उसके विशेष गुण मानते हैं। आत्मा ज्ञाता, कर्ता और मोक्ता है। ज्ञान,  
अनुभूति और संकल्प आत्मा के आगन्तुक धर्म हैं। चैतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है। जब  
आत्मा, मन और शरीर से संयुक्त होता है तभी उसमें चैतन्य की उत्पत्ति होती है।  
मीमांसा आत्मा को नित्य और विभु मानती है तथा चैतन्य को उसका आगन्तुक धर्म मानती  
है। सुषुप्ति तथा मोक्ष की अवस्था में आत्मा चैतन्य गुण से रहित होता है। सांख्य में पुरुष  
को नित्य और विभु तथा चैतन्य-स्वरूप माना गया है। चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं  
है। बुद्धि तथा मोक्ष की अवस्था में आत्मा चैतन्य गुण से रहित होता है। सांख्य में पुरुष  
है। आत्मा सुख-दुःख की अनुभूतियों से रहित है। बुद्धि कर्ता और सुख-दुःख के गुणों से युक्त  
है। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है और प्रकृति सतत क्रियाशील है। इसके विपरीत, पुरुष  
शुद्ध-चैतन्य या ज्ञान-स्वरूप है। अद्वैत वेदान्त आत्मा को विशुद्ध सत्-चित् आनन्द-स्वरूप मानता  
है। सांख्य अनेक पुरुषों को मानता है, लेकिन ईश्वर को नहीं मानता। अद्वैत वेदान्त केवल  
एक ही आत्मा को सत्य मानता है। नास्तिक दर्शनों में, चार्वाक आत्मा की सत्ता नहीं मानते,  
वे चैतन्य-विशिष्ट देह को ही आत्मा कहते हैं; बौद्ध आत्मा को ज्ञान, अनुभूति और संकल्पों  
की एक क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाली विज्ञान सन्तान मानते हैं। लेकिन जैन नित्य आत्मा  
का अस्तित्व मानते हैं। वे मानते हैं कि आत्मा स्वभावतः अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त  
वीर्य से युक्त है लेकिन सांसारिक अवस्था में इन गुणों के ऊपर अचेतन भौतिक पदार्थ कर्म  
के अति सूक्ष्म परमाणुओं का आवरण चढ़ा है। हम लोग भी अनुभव करते हैं कि  
आत्मा है, किन्तु यह नहीं जानते कि यह है क्या, सान्त है या अनन्त है, ज्ञान है या परमानन्द  
है या परब्रह्म का स्वरूप है, एकाकी है अथवा अपने समान अनेक में से एक है, केवल साक्षी  
मात्र है अथवा उपभोक्ता भी है अथवा इन दोनों में से कुछ भी नहीं है। चूंकि आत्मा के  
स्वरूप के विषय में परस्पर विरोधी मत हैं इसलिए शंकर का कहना है कि यह दोनों ही  
हैं, अर्थात् ज्ञात भी और अज्ञात भी।

वस्तुतः आत्मा के सच्चे स्वरूप के विषय में उस युग के तत्त्ववादियों के विभिन्न मतों में एक सन्देह-सा ही दीखता है। कोई तो इस आत्मा के दर्शन को बड़ा अचरज मानते हैं, और कोई दूसरे अचरज भरे शब्दों में इसका वर्णन करते हैं, और कोई जब इसे सुनते हैं तो बहुत अचरज में पड़ जाते हैं कि क्या ऐसा होना भी संभव है, अर्थात् सुनने वालों को आत्मा के उन गुणों में विश्वास नहीं होता। वे नहीं मानते कि कोई ऐसी वस्तु भी संभव है जो आग, पानी और हवा से कट पिट न सके। इस आश्चर्य भरी शैली में आत्मा की चर्चा करने वालों में ऐसा कोई नहीं है जो इसे ठीक तरह जानता हो। आत्मा क्या है? उसके विषय में गीता में स्पष्ट शब्दों में निम्नलिखित श्लोकों में वर्णित है :

“नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥" २४ ॥



यह शस्त्र से नहीं कट सकता है, इसे आग भी नहीं जला सकती है, इसे पानी गीला नहीं करता, न हवा सुखाती है। यह काटा नहीं जाता, यह जलता नहीं, यह भीगता भी नहीं, सूखता भी नहीं। यह नित्य सर्वव्यापी, स्थितिशील, अचल और सनातन है। यह अमूर्त है, यह अज्ञेय है, यह विकार शून्य कहा जाता है। और जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसे मरा हुआ मानता है वे दोनों ही ठीक नहीं जानते क्योंकि आत्मा न मरता है न मारा जाता है।

“न जायते म्रियते वा कदाचि-  
त्रायं भूत्वा भविता वा न भूयः।  
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो  
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥”

अर्थात् न यह जन्म लेता है न कभी मरता है या ऐसा भी नहीं है जो फिर होकर नहीं होगा। यह अजन्मा, नित्य सनातन और पुराण होने के कारण शरीर के नाश होने पर भी स्वयं नाश नहीं होता। इस प्रकार जो अज है वह नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, अविनाशी है, अप्रमेय है और इसी शरीर में रहने के कारण नित्य शरीरी या देही भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य आत्मा से है। विराट पुरुष का शरीर यह विश्व है और व्यष्टि आत्मा का शरीर यह पंचभौतिक देह है। ब्रह्म के आत्मा के शरीर की कल्पना यह शुद्ध वैदिक है। शरीर शब्द ‘शृ विशरणे’ धातु से बनता है अर्थात् यह शरीर पंचभूतों का समुदाय है जो कुछ समय के बाद बिखर जाते हैं। इन पंचभूतों की विधृति अर्थात् इन्हें एकत्र धारण करने वाला जो तत्त्व है वही प्राण है; वही देही, शरीरी और आत्मा है।

महर्षि कपिल का आत्मा के विषय में यह उपदेश है कि आत्मा सुखादि धर्मों से रहित है, निर्लेप है, नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त है, वह ज्ञान रूप ही है, ज्ञान वाला नहीं है। अर्थात् नित्य ज्ञान स्वरूप है, ज्ञानवान नहीं। इसकी सत्ता सर्वत्र है। यह अव्यक्त है। इसके कारण से व्यक्त भौतिक देह का अनुभव होता है। देह विकारी है, यह स्वयं विकार-रहित है। मीमांसकों के विचार से आत्मा शरीर, इन्द्रियों तथा बुद्धि से भिन्न है। जब बुद्धि अनुपस्थित रहती है तब भी आत्मा उपस्थित रहती है, जैसा कि निद्रा में। मीमांसक आत्माओं के अनेकत्व की प्रकल्पना को स्वीकार करते हैं, इसलिए कि अनुभवों की विविधता की व्याख्या की जा सके। कुमारिल के अनुयायियों के अनुसार प्रत्येक बोधात्मक कार्य में आत्मा अभिव्यक्त नहीं होती। विषय चैतन्य सर्वदा आत्मा द्वारा आत्मसात् नहीं किया जाता। व्यक्ति कभी विषय को जानता है। ‘यह घड़ा है,’ किन्तु वह यह नहीं जानता कि वह घड़े को जानता है। आत्मा विषयचैतन्य के विषयी या विषय के रूप में अभिव्यक्त नहीं होती, किन्तु कभी-कभी विषय के साथ एक अन्य चैतन्य है, अर्थात् आत्म-प्रत्यय जिसका आत्मा विषय है।

कुमारिल के विचार से आत्मा शरीर से भिन्न है, नित्य है और सर्वत्र व्याप्त है। आत्मा अपने में चैतन्य है, आत्माएँ अनेक हैं। क्योंकि सब आत्माएँ चैतन्य स्वभाव की हैं, इसलिए उपनिषद् उन्हें एक ही कहती हैं। आत्मा चैतन्य है और बोध की, जो आत्मा



से उत्पन्न है आश्रय भी है। आत्मा अपने आप से अभिव्यक्त होती है। आत्मा बोध का विषय है, क्योंकि इसका साक्षात् ज्ञान होता है, जैसे घड़ा है। यह मानस प्रत्यक्ष का विषय है। आत्मा ज्ञान का विषय और विषयी दोनों ही है।

शंकर का तर्क है कि विचार के द्वारा आत्मा को जानना असम्भव है क्योंकि विचार स्वयं अनात्म क्षेत्र सम्बन्ध रखने वाले प्रवाह का एक भाग है। यदि आत्मा के अस्तित्व का बोध नहीं होता तब प्रत्येक मनुष्य यह सोचता कि 'मैं नहीं हूँ' किन्तु यह सत्य नहीं है। आत्मा के सत्ता चेतनता के प्रवाह से पूर्ववर्ती है। सत्य तथा असत्य से भी पूर्ववर्ती है। इसलिये आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। बोध शक्ति तथा उसके कार्यों के अस्तित्व से ही एक ज्ञान सम्पन्न सत्ता की पूर्वकल्पना होती है जो आत्मा के नाम से जानी जाती है। जो उनसे भिन्न है और स्वयं सिद्ध है तथा जिसके अधीन वे सब हैं। आत्मा के अस्तित्व के विषय में संशय नहीं हो सकता, क्योंकि यह उसका क्षनिबायं स्वरूप है जो इसका निषेध करता है।

शंकर यथार्थ आत्मा को विषय से भिन्न करने का प्रयास करते हैं और कहते हैं कि विषय तथा विषयी प्रकाश तथा अन्धकार की भाँति दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं जो सन्ने अर्थों में ज्ञाता है वह कभी भी विषय नहीं बन सकता। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म अस्तित्व के भाव के अन्दर निर्विकारिता और पूर्णता के भाव समाविष्ट है। यहाँ तक की आत्मा के यथार्थ सत्ता को स्वीकार करना है—आत्मा च ब्रह्म। ब्रह्म की यथार्थता का प्रमाण यह है कि वह प्रत्येक की आत्मा की आधार भूमि है।

ब्राह्मण दर्शन के अनुसार आत्मा आनन्द स्वरूप और अजय है। लोक में प्रतिकूल वेदना को दुःख और अनुकूल आनन्द को सुख मानते हैं। यदि आत्मा और भोग्य दोनों दुःखरूप हैं तो वे प्रतिकूल होते। आत्मा आनन्दमय है, क्योंकि जगत भी आत्मयुक्त है अतः वह भी आनन्दमय है। प्रश्न है कि यदि ब्राह्मणमत में सब कुछ आनन्दमय है तो लोक में दुःख क्यों है? इसके उत्तर में हमारा यह प्रश्न है कि जो लोग सब कुछ दुःख ही मानते हैं। उनके मत में सुख का क्या स्थान है? उनके मत में प्रियत्व और अनुराग ही क्या है?

“विद्युदो देस्वरसं ब्रह्म मनः शान्तमक्षुब्धम्।

श्रद्धा श्रेयसि सदृशो स्नेहोऽथ कनीयसीह वात्सल्यम् ॥”

हमारा कहना है कि मृत्यु और विनाश सबसे बड़ा दुःख है और जीवन ही सबसे बड़ा सुख है। जो सत्ता या भाव है वही सुख है। सुख स्वाभाविक है और स्वतः उत्पन्न होता है। दुःख दोष से होता है। दुःख कर्मानुसारी है। प्रज्ञापराध से दुःख होता है और कर्मदोष से प्रज्ञापराध। एक मत यह है कि भोग्य वस्तुओं में आनन्द नहीं है केवल आत्मा ही आनन्द रूप है। आत्मा निष्काम और विषयों से अनपेक्ष है। वह रागादि से रहित, और विषयों में आसक्त है। जो भोग्य वस्तुएँ या विश्व है वह भी आनन्द से ही विकसित हुआ है और आनन्द रूप है, यही ब्राह्मणमत है। आत्मा अपने आनन्दरूप से भोग्यवस्तुओं को आनन्द से रज्जित कर देती है। आत्मा के आनन्द की एक कला भोग्य वस्तुओं में भी आती है। आत्मा भोग्य वस्तुओं आत्मा से संयोग करके उनके साथ अभिन्न हो जाती है और उन्हें



भी अपने समान प्रिय समझने लगती है। यह विश्व आनन्दमूलक है। यहाँ जितने प्राणी हैं सब आनन्द से उत्पन्न हुए हैं और आनन्द से ही जीवित रहते हैं। प्रजापति को इस सृष्टि में स्त्री-पुरुष के रूप संप्रहर्ष से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है। वे प्रतिक्षण हर्ष को मात्रा से जीवित रहते हैं। शरीर जो कुछ अन्न ग्रहण कर तृप्ति को प्राप्त होता है। वह आनन्द का ही रूप है। यदि इन भूतों का आनन्द न होता तो आत्मा को भी तृप्ति न होती। लोक का जो आहार-विहार है वह सुख का कारण है और सुखदायक होने से आनन्द का रूप है। अत्यन्त गूढ़ जो ब्रह्म रूप है उसका कोई रूप नहीं है और वह लक्षण हीन है। बृहत् और अतिशय परिवृद्धित तत्त्व ब्रह्म है, यही सर्वगत परम रूप है। उसमें सब नाम रूप है। उस नाम से ही वाक् बड़ी है। वाक् से मन, और मन से भी और कोई तत्त्व और अधिक महान् है। वही ब्रह्म और संकल्पयुक्त है एवं विज्ञान और प्रज्ञान इन दोनों से बड़ा है। प्राण, मन और विज्ञान इनमें उत्तरोत्तर जो विज्ञान कोटि है, वही ब्रह्म है। श्रद्धा उसी ज्ञान में कारण है। श्रद्धा के बिना ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता। ब्रह्म उसका रूप है। वह अमृत रूप है एवं सर्वत्र व्याप्त है जिसमें द्वैत भाव नहीं है परिपूर्ण एवं आनन्दरूप है। जो सब पदार्थों में अखण्ड रूप से विद्यमान रहता है। आत्मा नित्य है जो कर्ता से भिन्न है क्योंकि कर्ता अहं प्रत्यय का विषय है, सब प्राणियों में साक्षी रूप से अवस्थित एवं एकसमान, एकाकी, सर्वोच्च सत्ता, जिसका बोध कोई वेद नहीं कर सकता। क्योंकि आत्मा आनन्दमय है अमय है वही आत्मा सृष्टि में आनन्द और विज्ञान के लक्षण हैं, इनसे सुख होता है सुख से रस और रस से आनन्द और अमृत मिलता है :

“एतन्मयो वा अयमात्मा, मनोमयो वाङ्मयः प्राणमयः।”

अर्थात् मन, प्राण और वाक् या पंचभूतों की समष्टि वही आत्मा है। मन-प्राण-वाक् ही प्रजापति विश्व में आया हुआ रूप है। मन को अव्यय, प्राण को अक्षर और वाक् या पंचभूतों को क्षर कहते हैं। जो स्थूल सृष्टि है उसे सामान्यतः वाक् कह दिया जाता है। यद्यपि कि आत्मज्ञान का प्रश्न ऐसा जटिल है कि इसके विषय में अधिक ऊहापोह सम्भव नहीं, किन्तु जो विषय हमारे सामने है, उसका जब बुद्धिगम्य विवेचन कर हम देखते हैं तो यह ध्रुव निश्चित हो जाता है कि उस सत्-चित्-आनन्द तत्त्व ने अपने त्रिवृत स्वरूप द्वारा इस सर्ग का विस्तार किया है और स्वयं इसमें गूढ़ है, वही अव्यक्त से व्यक्त भाव में आया है।



## श्री अरविन्द और उनकी गीतादृष्टि

रामजी पाण्डेय,

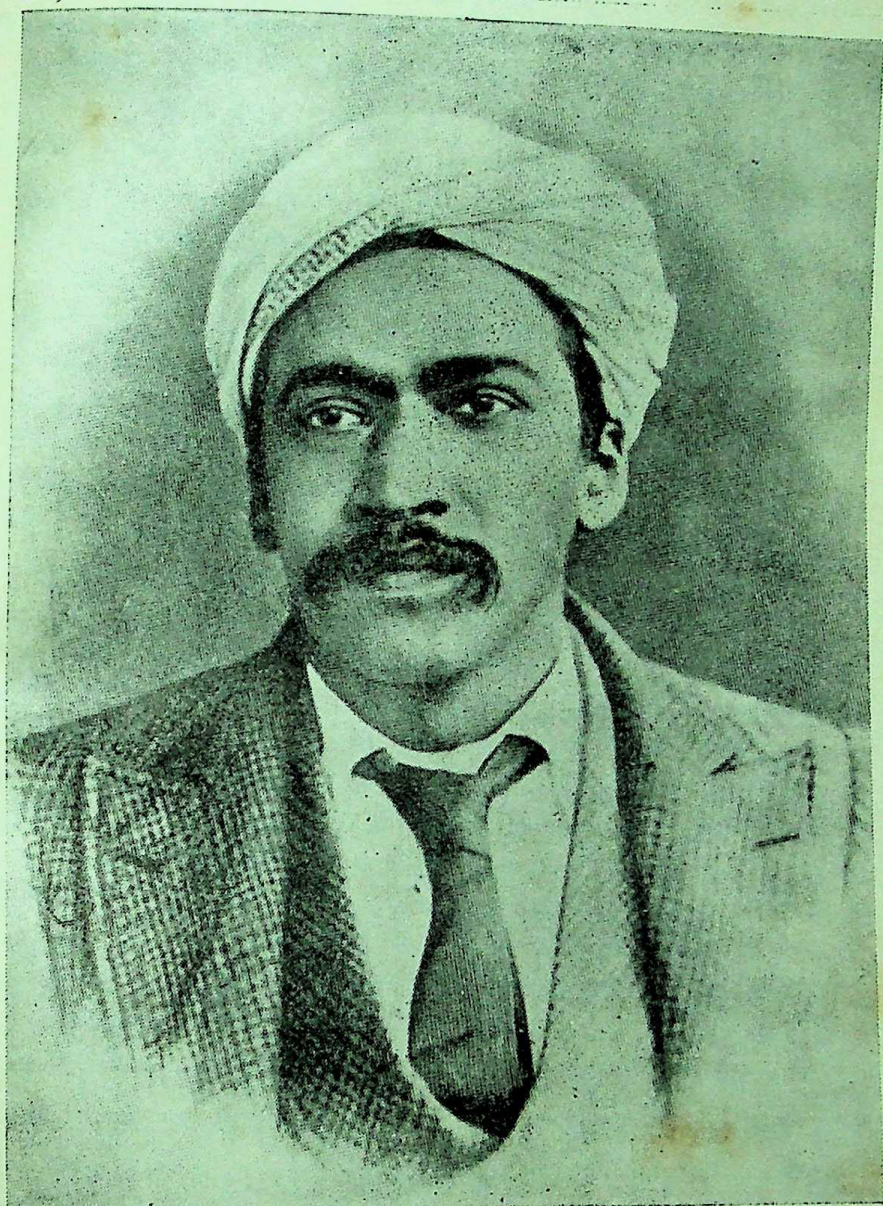
शोधसहायक, पुराण विभाग, कला संकाय, का० हि० वि० वि०

सृष्टि के आरम्भ से विश्व के रंगमञ्च पर भारतीय संस्कृति ने जितने महापुरुषों को उपस्थापित किया है उतना अन्य किसी संस्कृति ने नहीं। यह उसकी घरती का ही प्रभाव है या भगवान की विशेष अहेतुकी कृपा है जिसके कारण उसको यह सौभाग्य प्राप्त है। उनकी लीला भूमि भारतवर्ष में जब कभी भी आवश्यकता पड़ी है भगवान् स्वयं पधारे हैं या अपने अंशावतारों के माध्यम से इसका उद्धार किये हैं ऐसा हम भारतवासी मानते हैं। श्री अरविन्द भगवान् की ऐसी महान् विभूतियों में से थे जिनका अवतरण इस पृथ्वी पर प्राणिमात्र के हृदय में भगवान् की चेतन्य सत्ता का चिरंतन प्रकाश जगाने के लिए हुआ। यद्यपि उनकी शिक्षा-दीक्षा विदेश में हुई थी किन्तु मानसिक संस्कार ऐसे प्रबल थे कि जन्म से ही उनमें उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियाँ अपना विकास कर रही थीं, जैसा एक योगी के लिए असम्भव नहीं। वास्तव में ऐसी आत्माएँ जीवन मुक्त हुआ करती हैं। कुछ प्रारब्ध कर्मवश या भगवद्विज्ञा से उन्हें इस भूतल पर आना पड़ता है। यदि इनके जन्म के विषय में प्रारब्ध कारण माना जाय तब तो गीता की दृष्टि से यह कहेंगे कि पूर्व जन्म की योगसाधना में कुछ स्खलन के कारण मुक्त नहीं हो सके और योगियों की परम्परा के अनुसार पुनः पवित्र कुल में इनका आविर्भाव हुआ,<sup>१</sup> और यदि भगवान् की प्रेरणा मानी जाय तो लोक-संग्रह के लिए इनके जन्म का कारण मानना पड़ता है। जो भी हो इतना तो निश्चित है कि श्री अरविन्द पूर्व जन्म की महान् आत्माओं में से थे और इस जन्म में भी एक महान् योगी का जीवन-यापन कर इस संसार से मुक्त हुए।

भारतीय वाङ्मय में वेदों और उपनिषदों की जिस विशाल परम्परा ने उनके जीवन को अपनी ओर आकर्षित किया, वहीं इनकी दृष्टि गीता पर भी गई। इस अद्भुत ग्रन्थ में लोक और वेद दोनों का समन्वय पाकर गहन अध्ययन प्रारम्भ किया जिसकी उपलब्धियाँ उनके ग्रन्थ 'एसेज ऑन गीता' नामक ग्रन्थ में संकलित हैं। गीता, जैसा हम सब जानते हैं, भारतीय मनीषियों की विश्वसाहित्य को अनुपम देन है; जिसका मूल्य किसी देश, काल और पात्रत्व से बँधा नहीं है। गंगा की धारा के समान इसका विराट् स्वरूप अपने में विश्व-बन्धुत्व की भावना को संजोये हुए है। इसीलिए जहाँ अन्य लौकिक ग्रन्थों का मूल्य किसी निश्चित काल विशेष में ही समाप्त हो गया, वहीं गीता का मूल्य सार्वकालिक होने के कारण आज भी अक्षुण्ण रूप से बना हुआ है और भविष्य में भी इसी प्रकार विश्व की प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा। यह तथ्य गीता के विश्व में हुए अनुवाद ग्रन्थों से हम सबको मलीमाँति विदित है। गीता का अध्ययन हमें किस दृष्टि से कैसे करना चाहिए, इसका संकेत अरविन्द ने इस रूप में दिया है—'वस्तुतः यह अध्ययन विद्वता की दृष्टि से केवल भौतिक पदार्थों के

१. शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।—गीता, ६।४१। अर्थात् यहाँ योगभ्रष्ट का अर्थ साधक भी परमात्मा में लीन न होने की अवस्था विशेष से है।





बड़ौदा में श्री अरविन्द (१८९३-१९०४)







निरूपण से नहीं, अपितु उसमें जीवन जीने की जो कला है उस दृष्टि से होना चाहिए।<sup>१</sup> दर्शन और व्यवहार, आदर्श और आचरण जब परस्पर मिलते हैं तभी जीवन में निखार आता है। यदि इनकी दिशा परस्पर विपरीत हो तो किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। आज विश्व में जीवन के इस निखार को ही लाने की आवश्यकता है। आज विश्व में सुख-समृद्धि एवं जीवन के प्रसाधनों का इतना विकास हुआ है जिसकी कोई सीमा नहीं। अमेरिका और यूरोपीय देशों में मानव के पास प्रसाधन एवं धनका इतना संग्रह वर्तमान है कि उनकी अगली पीढ़ी के लिए कमाने की जरूरत नहीं किन्तु यदि देखा जाय तो दुःख और विषाद का जो वातावरण उधर छाया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। यह बात उन देशों में हो रही प्रतिदिन आत्महत्याओं की संख्या से ज्ञात हो सकती है। मानव समाज की अशान्ति, निर्धनता और युद्धों से ऐसा पता चलता है कि वस्तुतः मानव को जीवन जीने की कला ज्ञात नहीं और जिस जीवन को प्राप्त कर अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है उसे ही हम पाकर अपना गरल पात्र ही भरने की कोशिश कर रहे हैं। इसका कारण जीवन के स्थायी मूल्यों के प्रति हमारी उदासीनता और उनमें किसी सामञ्जस्य का न होना। पथ विहीन, लक्ष्य विहीन मानव समुदाय आज यदि दुखों में पीसता हुआ कराह रहा है तो इसमें आश्चर्य क्या?

प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था में इसीलिए पहले लक्ष्य निर्धारित कर दिया गया था। चतुर्विध पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की साधना उसी ओर संकेत करती है। रुचि भेद से जिसको जिसकी आवश्यकता होती, वैसी साधना वह करता। काम और अर्थ की सीमा धर्म के द्वारा नियन्त्रित थी। अनियन्त्रित काम और अर्थ की व्यवस्था समाज में मात्स्यन्याय को छोड़कर कभी भी सुख समृद्धि नहीं ला सकती। इसलिए इसे संयत रखने के लिए इस पर प्रतिबन्ध था। आज के समाज में धर्म और मोक्ष की तो बात ही क्या काम और अर्थ की प्रधानता है। उसमें अर्थ ही प्रधान है जिसके संचय के लिए वह मार्ग कुमार्ग किसी का भी अवलम्बन ले सकता है। परिणामतः पूरा विश्व अर्थ के अनर्थ से पिस रहा है। ऐसे ही कठिन समाज में गीता हमें एक ऐसे जीवनपद्धति की ओर संकेत करती है जिसे अपना कर हम अपना कल्याण साधन कर सकते हैं। व्यष्टि और समष्टि दोनों के सम्मिलन से समाज का निर्माण हुआ है। इन दोनों के सामञ्जस्य में ही जीवन का वास्तविक कल्याण है। इन दोनों को पुष्ट करने के लिए भारतीय संस्कृति में 'वर्णाश्रम व्यवस्था' का विधान है जिसे गीता स्वीकार करती है।<sup>२</sup> समाज का कोई भी व्यक्ति अपने आप में पूर्ण नहीं। अतः परस्पर

1. "Our object, then, in studying the Gita will not be a scholastic or academical scrutiny of its thought, nor to place its philosophy in the history of metaphysical speculation, nor shall we deal with it in the manner of the analytical dialectician. We approach it for help and light and our aim must be to distinguish its essential and living message, that in it on which humanity has to seize for its perfection and its highest spiritual welfare.—'Essays on Gita,' p. 12.

२. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्य कर्तारमव्ययम् ॥—गीता, ४।१३ ॥



सभी संबद्ध हैं। यह व्यवस्था केवल यहीं नहीं; अपितु ब्रह्माण्ड में भी व्याप्त है जिसे यज्ञ के सिद्धान्त पर हल किया गया है। यज्ञ मानव जीवन की महती विशेषता है जिससे व्यक्ति संसार से और समष्टि संसार से जुड़ कर परस्पर अपने गुणों के आदान-प्रदान से अपना हित साधन करते हैं। यज्ञ की विचारधारा बड़ी ही पुनीत है। इसमें हम कुछ दूसरों के लिए उत्सर्ग करते हैं और अपने लिए कुछ पाते भी हैं। इस सिद्धान्त पर प्रत्येक इकाई में सहयोग की इस भावना का होना आवश्यक है।<sup>१</sup> यज्ञशेष का भोग ही व्यक्ति का अपना अधिकार है जिससे वह समस्त पापों से छुटकारा पाता है।<sup>२</sup> जो केवल आत्मोन्नति या स्वार्थ से प्रेरित होकर यज्ञ करते हैं वह पुनीत नहीं; बल्कि बन्धन का कारण होता है उसे 'चोर' और पाप का भोग करने वाला कहा गया है। ईशोपनिषद् में इससे ही बचने के लिए कहा गया है; दूसरे का अंश मत खाओ।<sup>३</sup> यज्ञीय भावना के अभाव में स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों के कारण यज्ञ भी कभी आत्मविश्वास का कारण हो जाता है। शास्त्रों में राक्षसों के स्वार्थमूलक यज्ञ का विनाश इसी उद्देश्य से किया गया है। भगवान् राम द्वारा विश्वामित्र के यज्ञ का संरक्षण और मेघनादादि के यज्ञों का विनाश इसीलिए किया गया था क्योंकि उससे समष्टि का हित होने वाला नहीं था। अपने गौरव और अहंकार की पुष्टि के लिए किया गया दक्ष आदि के भी यज्ञ का विनाश भी इसी ओर संकेत करता है। व्यक्ति का झूठा प्रदर्शन विनाश-मूलक ही होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में स्वार्थ के ऊपर परार्थ और परार्थ के ऊपर परमायं को देखना चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए किसी दूसरे के हित का विनाश सर्वनाशक होता है। यही यज्ञीय जीवन प्रणाली का रहस्य है।

यह सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च किसी निश्चित सिद्धान्त पर आधारित है वही इसकी प्रतिष्ठा है जिसे भारतीय संस्कृति में धर्म के नाम से कहा गया है।<sup>४</sup> सभी वस्तुएँ अपने स्वधर्म से ही इस संसार में अनुवर्तन कर रही हैं। स्वभाव के विपरीत आचरण करने पर वही अधर्म-रूप आत्म हनन का कारण होता है। अतः गीता में स्वधर्म में प्रतिष्ठित रहने की बात कही गई है।<sup>५</sup> इस स्वधर्म में प्रतिष्ठित रहने के लिए शास्त्रों में भिन्न-भिन्न मार्ग प्रतिपादित हैं, जिसका दो परंपराओं में उल्लेख हुआ है जिन्हें कर्मयोग और ज्ञानयोग के नाम से हम जानते हैं।<sup>६</sup> वस्तुतः निःश्रेयस् के लिए दोनों ही मार्ग श्रेष्ठ हैं फिर भी कर्मयोग ज्ञानयोग से विशिष्ट है।<sup>७</sup> ज्ञान की अलौकिकता और दुरुहता से सर्वसुलभ न होने के कारण सब के लिए

१. परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ, योभुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥—गीता, ३।११ ॥

२. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः।

भुञ्जते ते त्वघं पाप ये पचन्त्यात्यकारणात् ॥—गीता, ३।१३-१३ ॥

३. मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।—ईशोप० १।१।

४. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।

५. स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो मयावहः।—गीता, ३।३५।

६. लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥—गीता, ३।३।

७. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥—गीता, ५।२।



गम्य नहीं है। उपनिषदों ने इसे बड़ा ही कठिन मार्ग बताया है—‘क्षुरस्य धारा निशिता-  
दुरत्यया दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति।’ कर्म की प्रवृत्ति मनुष्यों में सहज ही रहती है और  
उससे वह दूर भी नहीं हो सकता।<sup>१</sup> दूसरी जो इसकी प्रमुख विशेषता है वह यह कि यदि  
कौशलपूर्वक इसका संपादन किया जाय तो वही योग हो जाता है और भगवत् प्राप्ति का  
कारण होता है। विराट् सत्ता सर्वत्र समत्व की प्राप्ति ही इसका रहस्य है।<sup>२</sup> सभी कार्यों  
का वास्तविक फल प्रभु की प्राप्ति है जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने मानस में राम और  
भरद्वाज के प्रसङ्ग में प्रतिपादित किया है :

“आज सफल तप तीरथ त्यागू, आज सकल जप योग विरागू।

सफल सकल शुभ साधन साजू, राम तुमहि अवलोकत आजू ॥”

गुरु वसिष्ठ ने भी चित्रकूट की सभा में यही कहा है :

“सो सुख करम धरम जरिजाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ ॥”

श्री अरविन्द ने भी कर्म की सफलता भगवत्सेवा से ही माना है।<sup>३</sup> कर्म का सम्बन्ध  
जब ईश्वर से हो जाता है तो वही पुनीत हो जाता है। मनुष्य का राग ही उसके बन्धन  
का कारण है किन्तु यही भगवदोन्मुख या भगवद्भक्त की ओर मोड़ दिया जाता है तो  
मोक्षदायी हो जाता है।<sup>४</sup> सांख्य योग अर्थात् ज्ञानमार्ग का भी प्रयोजन यही है कि उससे  
परमात्मसत्ता का साक्षात्कार हो, उसकी सेवा का अवसर मिले। यदि ज्ञान का यह प्रयोजन  
सिद्ध नहीं होता तो वह ज्ञान भी मनीषियों की दृष्टि में व्यर्थ ही कहा गया है।<sup>५</sup> इन दोनों  
मार्गों के अतिरिक्त तीसरा भक्ति मार्ग है जो ईश्वर की कृपा पर आधारित है। यह ऐसे  
लोगों का संबल है जो जीवन की राह में थक चुके हैं, अपना पुरुषार्थ खो चुके हैं, भगवत्कृपा  
की राह जोहते फिरते हैं और उन्हीं के सहारे अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं। वस्तुतः परमात्मा  
की प्राप्ति के लिए जो विहित मार्ग है उसमें ज्ञान कर्म और भक्ति की अलग-अलग धाराओं  
का महत्त्व नहीं। तीनों ही उसमें अपेक्षित हैं क्योंकि परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। भक्ति

१. न हि कश्चित् क्षणमपि जातुत्तिष्ठव्यकर्मकृत् ॥—गीता, ३।५।

२. योगः कर्मसु कौशलम्, समत्वं योग उच्यते।—गीता।

३. Life is not for the sake of life alone, but for God, and the living soul of man is an eternal portion of Godhead.

—Essays on the Gita, p. 678.

४. सङ्गो यः संसृतिर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया।

स एव साधुषुकृतः निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।

न तीर्थ पदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥ —भा० ३।२३।५५-५६।

५. येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानि न स्वयंस्वभावादविशुद्धबुद्धयः।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनाहतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ —भा० १०।२।३२।

श्रेयः सृति भक्तिमुदस्य ते विमो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावधातिनाम् ॥ —भा० १०।१४।४।



के द्वारा प्राप्त भगवत्सन्निध्य व्यक्ति के जीवन में सभी विकारों का शामक एवं शान्तिप्रदान करने वाला होगा ।<sup>१</sup>

करने वाली होगी।  
वैसे गीता का सार एक छोटे से निबन्ध में व्यक्त करना कठिन है और वह भी अरविन्द जैसे महान् चिन्तक की दृष्टि को लेते हुए तो और दुरुह है। पर निष्कर्ष रूप में जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गीता में प्रकट है और महात्माओं द्वारा भी मान्य है उसे संक्षेपतः कहा जाय तो यही कहना होगा कि व्यक्ति का जीवन किसी निश्चित प्रयोजन से इस संसार में हुआ है। मनुष्य योनि में यह दुर्लभ जीवन पाकर भी जो जीवन के लक्ष्य भगवत्प्राप्ति से पथभ्रष्ट हो गया तो उससे बड़ा आत्मघाती दूसरा और कोई नहीं।<sup>१</sup> भगवान् ही प्राप्त्य हो सकते हैं क्योंकि उनके सिवा अन्य सभी उपलब्धियाँ नश्वर होंगी। उनके लिए जो कुछ प्राप्त किया जाय तो सांसारिक उपलब्धियाँ भी महान् हो सकती हैं किन्तु सब कुछ प्राप्त कर भी भगवद्भाव उसमें न हो तो सब व्यर्थ ही हो जाता है।<sup>२</sup> इसलिए संसार में जो कुछ भी करना है यदि कर्ता उसमें स्वकर्तृत्वाभिमान को भूलकर भगवान् को प्रतिष्ठित करे तो यह उसकी महान् उपलब्धि होगी और कर्मयोग की भी यही सफलता शास्त्रों में कही गई है। अपने अधिकार और सामर्थ्य के अनुसार व्यक्ति के उस परमात्मा तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग प्रतिपादित हैं किन्तु जो हर प्रकार से असमर्थ हैं उन्हें ज्ञान, कर्म, भक्ति को छोड़कर प्रपत्ति या शरणागति का मार्ग बताया गया है। भगवान् की ओर से जीव की मुक्ति या कल्याण के लिए इससे बड़ा कोई आश्वासन नहीं दिया जा सकता :

“सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि या शुचः॥” —गी० १८।

जीवन में जो कुछ उपलब्धि परमात्मा की ओर से मिली है उसे प्रसन्नतापूर्वक शिरोधार्य कर उनकी प्राप्ति का उपाय ही जीवन को सर्वोच्च सफलता होगी, चाहे वह व्यक्ति

1. "This Yoga of love will give you a highest potential force for spiritual largeness and unity and freedom. But it must be a love which is one with God Knowledge."

x                      x                      x                      x

"The integral God-love demands too an integral work for the sake of the Divine in your self and in all Creatures."

x

“The oneness in love will do much more ; it will replace the first impassive calm by a strong and deep rapture, not the petty ardour of egoistic desire but the ocean of the infinite Ananda. It will bring the moving sense and the pure and divine passion of the presence of the beloved into your works, there will be an instant joy of labour for God in all beings. Love is the Crown of works and the Crown of knowledge.”—Essays on the Gita, pp. 802-3.

२. नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।  
मयातकलेन तयापदेतिः

मयानुकूलेन नमस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्म हा ॥—भा०, ११।२०।१७।

३. रामविमुख संपति प्रभुताई । जाइ रही पाई बिनु पाई ॥—तुलसीदास : रामचरित मा० ।



के घरातल पर हो या समष्टि के ।<sup>1</sup> यदि ऐसी नहीं होगा तो यह जीवन की महान् हानि होगी ।<sup>2</sup> अतः व्यक्ति जिस भी स्थान पर, जैसी भी परिस्थिति में अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर उस स्थिर सत्ता की ओर बढ़े और उसे अपने आत्मयोग से प्राप्त करे, यही सबका ध्येय है । गीता प्राणिमात्र को इसी की उपलब्धि के लिए प्रेरित करती है । मृत्यु की सत्ता व्यक्ति के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है किन्तु भारतीय संस्कृति ने प्राणिमात्र को 'मृत्युञ्जय' बनाने का उद्घोष किया है । गीता उसकी एक कड़ी है जिसमें व्यक्ति और समष्टि दोनों के ही अभ्युत्थान का मार्ग निहित है । आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति उस ओर प्रयास कितना करता है ।

श्री अरविन्द का भारतीय संस्कृति की ओर जो प्रबल झुकाव हुआ उसका एकमात्र कारण इसकी सर्वोत्कृष्टता ही थी । भारतीय संस्कृति के संरक्षार्थ ही उन्होंने वेदों, उपनिषदों और गीता ऐसे महान् ग्रन्थों का अध्ययन कर जो तथ्य हमारे सामने रखा, वह मानव जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी ही नहीं, परमावश्यक भी हैं । आज गीता के उपदेशों का आचरण कर न केवल हम अपने देश की हर समस्याओं का समाधान कर सकते अपितु विश्व के लिए भी सुख, शान्ति एवं समृद्धि का मार्ग ढूँढ़ सकते हैं ।

श्री अरविन्द को आधुनिक युग के मानव की समस्त प्रवृत्तियों का पूरा ज्ञान था । वे जानते थे कि पश्चिम की सभ्यता एक दिन भारतीयों को अहापोह में डाल सकती है और भारतीय संस्कृति के स्वीकृत मूल गिरते नजर आयेंगे,<sup>3</sup> किन्तु मानवता का कल्याण बिना इनके संभव नहीं होगा, अतः व्यक्ति को जहाँ एक ओर भौतिक उपकरणों की आवश्यकता होगी, वहीं यदि आध्यात्मिक मूल्य उनकी रक्षा के लिए नहीं होंगे तो व्यक्ति अपना विनाश भी कर सकता है । इसलिए भारतीय संस्कृति की रक्षा हम सब के लिए हर मूल्य पर आवश्यक होगी ।<sup>4</sup> आज शान्ति के लिए विश्व भारतीय संस्कृति की ओर

1. तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम् ।—भा० १२।३।४९ ।

2. इहचेदवेदीदथसत्यमस्ति नो चेदवेदीन् महतो विनष्टिः ।—श्वेताश्वतर ।

3. "The danger is that the pressure of dominant European ideas and motives, the temptation of the political needs of the hour, the Velocity of rapid inevitable change will leave no time for the growth of sound thought and spiritual reflection and may strain to bursting-point the old Indian cultural and social system, and shatter this ancient civilisation."—The Foundation of Indian Culture, p. 22.

4. "It would be a tragic irony of fate if India were to throw away her spiritual heritage at the very moment when the rest of the world there is more and more turning towards her for spiritual help and a saving Light."—Ibid, p. 25.



शुक्र रहा है इसके हर पहलू का अध्ययन कर रहा है और सचमुच में हम ही अपनी संस्कृति का संरक्षण नहीं कर सके तो इससे बढ़ कर दुःखद घटना और क्या हो सकती है ?

आज भी समय है जब प्राचीन भारतीय संस्कृति के इन अमूल्य रत्नों की रक्षा हो सकती है। गीता उसकी एक महान् उपलब्धि है। लगता है ऐसे महान् ग्रन्थ के होते हुए भी हम मटक रहे हैं। इसके एक छोटे से भी उपदेश का यदि आचरण हो सका तो हमारा महान् कल्याण होगा। आशा है हम सब 'गीता किञ्चिदधीत्ता गंगाजल लवकणिका पीता' के सिद्धान्त पर थोड़ा भी इसका अध्ययन कर अपना कल्याण करेंगे। यही हम सबके जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि होगी।





## श्री अरविन्द का पूर्णाद्वैत दर्शन

प्रेमकुमार अग्रवाल,

शोध-छात्र, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०

‘अद्वैत’ शब्द से साधारणतया शंकर के प्रख्यात सिद्धान्त का बोध होता है : अद्वैत का अर्थ उस सिद्धान्त से लिया जाता है जो जगत् की वास्तविकता का निषेध करके चरम सत्ता अथवा एकमात्र ब्रह्म का प्रतिष्ठापन करता है। शंकराचार्य तथा उनके मतानुयायी व्यावहारिक दृष्टि से जागतिक सत्ता को सत्य तो मानते हैं, तथापि पारमार्थिक दृष्टिकोण से उसे नितान्त मिथ्या घोषित कर देते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म और जगत् परस्पर विरुद्ध स्वभाव के हैं। ब्रह्म ज्ञाता, चेतन, विषयी, कूटस्थनित्य तथा स्वतः सिद्ध है, किन्तु जगत् ज्ञान का विषय, अचेतन, दिक-काल से ससीम, परिवर्तनशील एवं अनित्य है। अतः इन विरुद्ध स्वभाव पदार्थों के मध्य किसी प्रकार का समन्वय संभव नहीं है। किन्तु श्री अरविन्द की मान्यता है कि अद्वैत दर्शन की स्थापना तभी संभव है जब कि जगत् की भी सत्ता स्वीकृत की जाय। इस प्रकार उनका अद्वैत दर्शन शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत दर्शन से भिन्न है। दर्शन के अध्येताओं ने उनके दर्शन को ‘अखण्ड अद्वैतवाद’ अथवा ‘पूर्णाद्वैत’ की संज्ञा प्रदान की है, क्योंकि वे सत्ता के किसी भी रूप की वास्तविकता को अस्वीकार नहीं करते, अपितु उन्हें भी ब्रह्म का ही एक रूप मानते हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में, “सच्चा अद्वैतवाद वह है जो समस्त वस्तुओं को एक ही ब्रह्म के रूप में स्वीकार करता है और ब्रह्म की सत्ता को दो विषम इकाइयों में, सनातन सत्य और सनातन मिथ्या, ब्रह्म और अब्रह्म, आत्मा और अनात्मा, एक वास्तविक आत्मन् और एक मिथ्या, फिर भी चिरंतन साया, इन रूपों में विभक्त नहीं करता। यदि यह सत्य है कि एकमात्र आत्मा का ही अस्तित्व है, तो यह भी सत्य होना चाहिए कि सब-कुछ आत्मा है।”

श्री अरविन्द के पूर्णाद्वैत में पदार्थ मात्र की सत्ता स्वीकार की गयी है, तथा भौतिक तत्त्व एवं आत्मतत्त्व दोनों को समान रूप से ग्रहण किया गया है। भौतिकवादियों का आत्मतत्त्व का निषेध तथा अव्यात्मवादी दार्शनिकों का भौतिक तत्त्व का निषेध उनके अनुसार एकांगी दृष्टिकोण हैं। इसीलिए उन्होंने ‘युगल नेति’ के रूप में इन दोनों अस्वीकृतियों की निन्दा की है। वास्तव में वे आध्यात्मवादी की अस्वीकृति को, जिसे वे ‘सत्यासी की अस्वीकृति’ कहते हैं—“अधिक सम्पूर्ण, अधिक अन्तिम और अधिक संकटपूर्ण मानते हैं।” श्री अरविन्द के मतानुसार जड़ पदार्थ या आत्म-तत्त्व ब्रह्म के उच्च एवं निम्न रूप ही हैं। जड़ पदार्थ आत्मा की ही अभिव्यक्ति है अतः जड़ पदार्थ या आत्म-तत्त्व को नहीं छोड़ना चाहिए, प्रत्युत ब्रह्म को अखण्ड एवं समग्र रूप में ग्रहण करना चाहिए। “पृथ्वी पर दिव्य जीवन और मर्त्य जीवन में अमृतत्व का बोध, इनकी प्रस्थापना के लिए कोई आधार तभी



मिल सकता है जब केवल यह मानने के प्रतिरिक्त कि सनातन आत्मा ही इस शरीर-रूपी भवन का निवासी और इस परिवर्तनशील चोले को धारण करने वाला है, हम यह भी स्वीकार करें कि जिस जड़-तत्त्व से इसका निर्माण हुआ है, वह योग्य और उत्कृष्ट उपादान है जिससे आत्मा निरन्तर अपने वस्त्र बुनता रहता है, अपने भवनों की अंतहीन शृंखला का निर्माण बारंबार करता रहता है।<sup>१</sup>

जड़-पदार्थ को ब्रह्मरूप मानने का सिद्धान्त श्री अरविन्द का अपना मौलिक नहीं है अपितु उपनिषदों में भी इसका वर्णन मिलता है—‘अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्’। श्री अरविन्द के अनुसार यदि ब्रह्म और जड़ पदार्थ के मध्य [ जीवन, मन तथा अतिमन ( सुपरमाइन्ड ) के स्तर तथा मन को अतिमन से संयुक्त करने वाली श्रेणियाँ ] के आरोहण पदार्थों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होगा। “अन्यथा ये दोनों किसी मेल की संभावना से परे एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत होंगे, मानों यह एक दुखदायी गठबंधन है और इसका विच्छेद ही एकमात्र युक्तिसंगत समाधान होगा।”<sup>२</sup> उनका मत है कि कट्टर एकसत्तावाद, चाहे वह भौतिकवादी विरुद्ध समस्याओं का समाधान उन्होंने अपने दर्शन में किया है। उनका दृढ़ विश्वास है कि अतिभौतिक को पूर्णरूपेण तभी वश में किया जा सकता है जब हम अपने पैर दृढ़ता से भौतिक तत्त्व पर रखे रहें।

मुख्यतः उपनिषद, गीता एवं तंत्र की मूलभूत शिक्षाओं के आधार पर श्री अरविन्द ने अपने पूर्णाद्वैत को विकसित किया है। उनकी धारणा है कि ब्रह्म न केवल निर्गुण-निर्विशेष एवं विश्वातीत है, अपितु उसमें स्व-सीमा-निर्धारण एवं आत्मामिव्यक्ति की क्षमता भी निहित है। ब्रह्म के असीम होने का अर्थ है कि उसे किसी अन्य वस्तु द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता, परन्तु वह स्व-सीमा-निर्धारण में पूर्णतः सक्षम है। उसके निर्गुण होने का अर्थ—गुणों का अत्यन्ताभाव नहीं है, बल्कि अचिन्त्य गुणों की विद्यमानता है। यही कारण है कि उसे निर्गुण कहा गया है। समस्त गुणों को अपने में समाहित करके भी वह उनसे परे है। यहाँ श्री अरविन्द अद्वैत वेदान्त की ब्रह्मविषयक एकांगी निषेधात्मक व्याख्या की ओर भी संकेत करते हैं। उसके अनुसार चरम सत्ता का स्वरूप निषेधात्मक एवं भावात्मक दोनों है। स्वयं उपनिषदें ही ‘नेति-नेति’ के साथ ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ जैसे सकारात्मक वर्णन करती हैं। इसलिए ब्रह्म के निरूपण में श्री अरविन्द पूर्णाद्वैत की स्थापना करते हैं जिसमें ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष एवं विश्वातीत मानने के साथ सगुण, सविशेष एवं प्रपंच-व्याप्त भी माना गया है।

परन्तु सामान्य मानवीय बुद्धि एवं तर्कशास्त्र की दृष्टि से ब्रह्म में युगपत् दो विरोधी गुणों का अस्तित्व मानना असंगत है। इस द्वन्द्वात्मक समस्या से बचने हेतु अद्वैतियों ने ब्रह्म को निर्गुण-निर्विशेष मानकर अनिर्वचनीय-निरपेक्ष सत्ता कहा, ब्रैडले ने ‘जैसे-तैसे’ का सहारा लिया और लाइबनिट्ज ने पूर्व स्थापित सामंजस्य ( Pre-established Harmony ) का

१. द लाइफ डिवाइन, प्रथम खण्ड, पृ० ७।

२. वही, पृ० ८।



पल्ला पकड़ा। किन्तु अरविन्द इस समस्या का समाधान अत्यन्त सुन्दर ढंग से करते हैं। वे मानते हैं कि तर्कशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त—विरोध के नियम ( ला आँव कास्ट्रेडिक्शन ) के अनुसार इन्द्रिय प्रदत्त सामान्य ज्ञान की प्रक्रिया में एक ही वस्तु में दो परस्पर गुण नहीं माने जा सकते। व्यावहारिक जीवन का निर्धारण इन्द्रिय एवं मनस द्वारा प्रदत्त ज्ञान से होने के कारण उसमें विरोध का नियम अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। किन्तु ब्रह्म ज्ञान इन्द्रियातीत होने से मन का अतिक्रमण कर अतिमन तक पहुँचना आवश्यक होता है। इस अतिमानसिक अनुभव में आंशिक नहीं, अपितु समग्र एवं अखण्ड ज्ञान प्राप्त होता है। उस अवस्था में समस्त आंशिक सत्तों का एकीकरण एवं समस्त विरोधों का अन्त हो जाने से पूर्ण एकत्व की आध्यात्मिक अनुभूति होती है। इस स्तर पर तर्कशास्त्रीय विरोध के नियम संचालित नहीं किये जा सकते। किन्तु अतिमानसिक स्तर पर स्वेच्छाचारिता अथवा उच्छृंखलता का साम्राज्य नहीं होता। अतिमानसिक स्तर के भी अपने तार्किक नियम होते हैं जो सामान्य तार्किक सिद्धान्तों से अलग होते हैं। श्री अरविन्द उसे अनन्त का तर्क ( Logic of the Infinite ) कहते हैं। वे उसे सामान्य तर्क की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं पूर्णतर मानते हैं।<sup>१</sup>

अनन्त अथवा असीम का तर्क असीम दिव्य सत्ता का तर्क है; उसे बुद्धि या तर्क द्वारा नहीं, अपितु अतिमानसिक चेतना की अनुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है। वास्तव में असीम का तर्क श्री अरविन्द का दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में एक मौलिक योगदान है। उसकी सहायता से वे सत्ता-सम्बन्धी गूढ़ समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सके हैं। “उनका निरपेक्ष या ब्रह्म इतना अखण्ड एवं समग्र है कि उसमें सत्ता के विभिन्न पक्षों को अपने में समन्वित करने तथा उनके बीच विद्यमान खाई को पाटने को क्षमता है।”<sup>२</sup>

श्री अरविन्द चरम सत्ता को उसके सार रूप में पूर्णतः इन्द्रियातीत मानते हैं। उसका वर्णन नहीं हो सकता, किन्तु मानव-चेतना के दृष्टिकोण से उसे त्रिगुणात्मक कहा जा सकता है। वह सत् है, चित् है और आनन्द है। इसलिए वे प्रायः परम सत्ता को सच्चिदानन्द कहते हैं। ध्यातव्य है कि श्री अरविन्द ब्रह्म की शक्ति पर विशेष बल देते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म = सत् + चित्-शक्ति + आनन्द है। सद् का अर्थ है—ब्रह्म सत्ता का तीनों कालों में अक्षुण्ण रहना। सृष्टि के पूर्व एकमात्र ब्रह्म ही अव्यक्त था और वही जगत-रूप में व्यक्त हो रहा है। आत्मा से भौतिक वस्तु पर्यन्त सर्वत्र सत् की प्रतीति हो रही है।

सत् वस्तु जड़ नहीं हो सकती है, इसलिए उसका चित् होना भी आवश्यक है। यदि सत् जड़ होता तो चैतन्य का प्रादुर्भाव असंभव था। वस्तुतः जड़-चेतन सृष्टि और उससे परे व्याप्त सत्—सभी चित्स्वरूप हैं। जड़ तत्त्व में चैतन्य शक्ति की विद्यमानता मले ही लोगों को अविश्वसनीय लगे, किन्तु श्री अरविन्द इसे सुत्य मानते हैं। जड़ चित्-शक्ति का अभाव न होकर उसकी अभिव्यक्ति है। मात्र मानसिक चेतना को चित् नहीं कहा

१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० २९८।

२. मिश्र, आर० एस० : द इंटिग्रल अद्वैततज्ज्म आँव श्री अरविन्दो, पृ० ९७।



जा सकता। चित्-शक्ति अपरिवर्त्य होने पर भी विविध रूपों में प्रकट हो सकती है। वह न केवल देश-काल की सीमा में निबद्ध हो सकती है, अपितु व्याप्ति एवं समष्टि के रूप में भी अभिव्यक्त हो सकती है। आत्मलोप की सहायता से उसका प्रकटीकरण चैतन्य एवं जड़ दोनों रूपों में होता है। ब्रह्म की सत्-चित् शक्तियाँ समानान्तर रूप से प्रकट होती हैं। उनकी विकास-शृंखला में एक सामंजस्य है। सत् रूप में सच्चिदानन्द स्वयं को आत्मन् (अधिष्ठान), पुरुष (भोक्ता) और ईश्वर (स्वामी) के रूप में अभिव्यक्त करते हैं तथा चित्-शक्ति माया, प्रकृति और शक्ति के रूप में प्रकट होती है। चित्-शक्ति के त्रिविध रूप सत् के तीन रूपों के समकक्ष हैं और साथ रहने पर इनका स्वरूप आत्मन्-माया, पुरुष प्रकृति एवं ईश्वर-शक्ति हो जाता है।

सच्चित् के अतिरिक्त ब्रह्म आनन्द स्वरूप भी है। उसका आनन्द सौंदर्य, सामंजस्य प्रेम एवं शान्ति अनेक रूपों में प्रकट होता है। सृष्टि की जटिल समस्या का समाधान श्री अरविन्द ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप द्वारा करते हैं। वे औपनिषदिक दृष्टिकोण—‘आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति’—अर्थात् आनन्द से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है, आनन्द में ही वे विलीन हो जाते हैं, का समर्थन इन शब्दों में करते हैं—“विश्वसत्ता शिव का आनन्द-नृत्य है जो ईश्वर को असंख्य रूपों में दृश्य बनाता है, परन्तु वह उस परम सत्ता को ठीक वहीं और उसी रूप में रहने देता है; उसका एकमात्र उद्देश्य है नृत्य का आनन्द।”<sup>१</sup> किन्तु प्रश्न उठ सकता है कि संसार में क्लेश एवं दुःख सर्वत्र व्याप्त है, यहाँ सब कुछ आनन्दमय कैसे मान लिया जाय? अरविन्द के लिए इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त सरल है। उनके अनुसार सुख-दुःख सापेक्ष अनुभव हैं किन्तु आनन्द निरपेक्ष और निर्विरोध है। हर्ष-विषाद, दुःख-सुख उसी व्यापक आनन्द में समाविष्ट हैं। इन्द्रिय प्रदत्त मानस प्रत्यय के स्तर पर सुख-दुःखों की खण्डशः अनुभूति होती है। अतिमानस स्तर पर आनन्द की अबाधित अनुभूति होती है।

ब्रह्म से सृष्टि किस प्रकार होती है, इस समस्या का निराकरण श्री अरविन्द ने अपने विकास-सिद्धान्त द्वारा किया है। उन्होंने पाश्चात्य दार्शनिकों के यांत्रिक विकासवाद को ठुकराकर अध्यात्मवाद को स्वीकार किया। सत्तावादी, बौद्धिक एवं समष्टिवादी पश्चिमी विकास-सिद्धान्त की उन्होंने पर्याप्त आलोचना किया और बताया कि अतिशय यथार्थवादी दृष्टिकोण आध्यात्मिक पक्ष की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार उन्होंने आध्यात्मिक विकास-वादी भारतीय दर्शन में वर्णित जन्म-मृत्यु चक्र के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को भी अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार उन्होंने पूर्व एवं पश्चिम के विकास-सिद्धान्तों का संश्लेषण कर हमारे समक्ष एक नये सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने विकास-सिद्धान्त में परमतत्त्व का अवरोहण एवं आरोहण दोनों स्वीकार किया है।

ब्रह्म अपने चैतन्य के स्तर से स्थूल पदार्थ के स्तर तक अनेक चरण ग्रहण करता है। जगत की अभिव्यक्ति हेतु वह अपनी चित्-शक्ति को अविद्या के रूप में सीमित करता है। अतः अविद्या सच्चिदानन्द का ही स्वसीमित एवं स्वकेन्द्रित निम्न रूप है जो ज्ञान-विरोधी

१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृ० ११९।



नहीं है। यह तो सच्चिदानन्द के अविभाज्य एकता में वर्तमान रहती है और न ही क्षतिमानस में इसका प्राकट्य मन के स्तर पर होता है। अविद्या का सिद्धान्त मूलतः स्वतंत्र नहीं है क्योंकि ब्रह्म स्वयं अपनी चिच्छक्ति को अपनी इच्छा से अविद्या के रूप में अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार श्री अरविन्द का पूर्णाद्वैत न तो अविद्या से प्रभावित होता है और न ही अशुभ एवं दुःख से। क्योंकि अतिमानस स्तर पर क्लेश अथवा दुःख प्रबाधित आनन्द को प्रभावित नहीं कर पाते हैं। विकास की अवस्थाओं में उनके ये गुण तिरोहित हो जाते हैं।

ब्रह्म अवरोहण के अगले चरण में 'अतिमन' ( सुपरमाइंड ) में उतरता है। 'अतिमन' ब्रह्म से सर्वथा विपरीत नहीं है। यह ब्रह्म के तीनों पक्षों को विभाजित किये बिना ही विकसित करता है। यह व्यापक एवं सृजनशील तत्त्व है। सृजन-पक्ष की दृष्टि से यह स्वयं सच्चिदानन्द है। यह सच्चिदानन्द तथा जगत् के मध्य एक महत्वपूर्ण कड़ी है और 'एक' के भीतर से 'अनेक' को बाहर निकालने में समर्थ है तथा 'अनेक' को स्थापित भी करता है। अतिमन के पश्चात् अवरोहण ऊर्ध्वमन ( over mind ) पर होता है। इस स्थान पर एकत्व का स्थान अनेकत्व लेने लगता है। यह अनेकत्व की प्रवृत्ति मन पर ले जाती है। ऊर्ध्वमन में यद्यपि एक सीमा तक सम्पूर्ण को ग्रहण करने की क्षमता होती है, किन्तु मन अपनी वस्तुओं को विभाजित करके ही देख सकता है। मन के बाद परम सत्ता का संक्रमण अधिक दुर्बोधर क्षेत्र—जीवन में होता है। इस अवस्था में वासना एवं वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। जब सत्ता और भी गहरे उतरकर पदार्थ अथवा भौतिक वस्तु के स्तर तक पहुँचती है तब चैतन्य का प्रायः लोप हो चुका होता है। इस प्रकार ब्रह्म अपनी अवोमुखी यात्रा पूरी करता है।

श्री अरविन्द उपनिषदों का अनुकरण करते हुए सत्ता के सात पक्ष मानते हैं— भौतिक वस्तु, जीवन, मन, अतिमन, आनन्द, चित्-शक्ति एवं सत्। इन्हें ब्रह्म का क्रमिक विकास या दूसरी ओर से क्रमिक ह्रास कहा जा सकता है। इनका विभाजन कालक्रमानुसार नहीं होता। ये एक समय में विभिन्न केन्द्रों में स्थित सत्ता के विविध पक्ष हैं। अलग-अलग पक्ष प्रतीत होने पर भी वे सब शाश्वत एवं अखण्ड हैं। प्रत्येक पक्ष अखण्डानन्द ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप अभिव्यक्त करता है। ब्रह्माण्ड के एक लघु अंश-रूप में, मानव के अन्दर सत्ता के प्रथम तीन पक्ष—भौतिक वस्तु, जीवन एवं मन प्रकट होते हैं। साथ ही सभी पक्षों को संश्लिष्ट करने वाली आत्मा भी विद्यमान होती है जो अपरिवर्त्य एवं एकरस रहती है। अतः आत्मन् की गणना से कुल आठ पक्ष हो जाते हैं—

सत्	—	भौतिक वस्तु
चित्-शक्ति	—	जीवन
आनन्द	—	आत्मा
अतिमन	—	मन

उपनिषदों में भी वैदिक ऋषियों ने सप्त-रश्मियों का उल्लेख किया है। कहीं-कहीं उनकी संख्या बारह तक मिलती है। श्री अरविन्द ने सृष्टि-सिद्धान्त की व्याख्या हेतु सत्ता के इन



आठ सूत्रों को मान लिया। श्री अरविन्द के अनुसार विकास का निम्न सिद्धान्त, उच्च सिद्धान्त का अधीनस्थ है। मन, जीवन एवं भौतिक सत्ता क्रमशः अतिमन, चित्-शक्ति और सत् के गौण रूप हैं। इसी प्रकार आत्मा आनन्द का प्रक्षेपक है। उपर्युक्त प्रथम पंक्ति में ब्रह्म का जगत् की ओर अवतरण एवं द्वितीय पंक्ति में ब्रह्म की ओर आरोहण दिखाया गया है। ऊपर एवं नीचे का संधि-स्थल वह है जहाँ मन एवं अतिमानस बीच में एक आवरण है। ऊपर एवं नीचे का संधि-स्थल ही दिव्य जीवन को प्राप्ति है, क्योंकि अनावरण-स्थिति में मन, जीवन और भौतिक वस्तु—सभी ब्रह्म की दिव्यता से संचारित हो उठते हैं।

श्री अरविन्द की मान्यता है कि सम्पूर्ण विकास चेतना का विकास है जो स्वेच्छा से जड़-पदार्थ में प्रसुप्त रहती है। भौतिक वस्तु सन्निहित चेतना का उद्भव ही विकास की सतत प्रक्रिया है। आध्यात्मिक विकास ही इस पार्थिव अस्तित्व का मूल स्वर, इसका केन्द्रीय सार्थक हेतु है—“निरन्तर विकासशील स्वरूपायन के रूप में पदार्थ में चेतना का तब तक विकास जब तक रूप अन्तर्वासी आत्मा का उद्घाटन न कर दे।”<sup>१</sup> अतः अरविन्द के अनुसार उच्चतम विकास निम्न विकास के कारण ही संभव हुआ, क्योंकि उसकी मूलभूत सत्ता पूर्व रूप में उपस्थित थी।

विकासवादी सिद्धान्त की तीन प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए श्री अरविन्द ने उन्हें विस्तारण ( वाइडनिंग ), ऊर्ध्वीकरण ( हाइटनिंग ) तथा समग्रीकरण ( इंटोग्रेशन ) की सज्ञाएँ दी हैं। विस्तारण का अर्थ विभेदोकरण, संगठन तथा अभिव्यक्ति की विविधता से है। देह के संगठित एवं जटिल होने पर उससे जीवन प्रकट होता है। शरीर की अत्यधिक जटिलता मन को प्रकट करती है किन्तु साथ ही ऊर्ध्वीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। ऊर्ध्वीकरण का अर्थ है—चेतना का एक से दूसरे स्तर पर आरोहण, न कि फैलाव या विस्तार। परन्तु विकास की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता, उसकी समग्रता एवं अखण्डता है। इसके परिणाम में निम्न तत्त्व का विकास होने पर वह नष्ट नहीं हो जाता, अपितु उच्चतर तत्त्व से अनुप्राणित एवं जीवन्त हो उठता है। इस प्रकार श्री अरविन्द का पूर्णाद्वैत जड़ पदार्थ, जीवन, एवं मन जैसे निम्न तत्त्वों का निषेध नहीं करता, बल्कि परम सत्ता अथवा ब्रह्म के विविध रूप एवं स्तर मानता है।

पाश्चात्य विकास-सिद्धान्त में उच्चतर तत्त्वों का आविर्भाव होने पर निम्नतर तत्त्वों का नाश अथवा अपनी पूर्व-स्थिति में बना रहना आवश्यक होता है। अद्वैत वेदान्त भी मानव के विकास के लिए आत्मा से शरीर एवं जीवन के निम्नतर तत्त्वों का पृथक्करण कर देता है। परन्तु श्री अरविन्द इन दोनों सिद्धान्तों को दोषपूर्ण बताते हैं और विकास प्रक्रिया के चार सोपान बतलाते हैं—जड़ पदार्थ, जीवन, मन तथा अतिमन।

विकास का प्रारम्भ जड़-पदार्थ से होता है क्योंकि इस स्तर पर परम चैतन्य को बोध होता है कि आवरण-प्रक्रिया अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। अतः स्वयं चैतन्य ही पदार्थ को विकसित होने की प्रेरणा देता है। फलस्वरूप जीवन का प्राकट्य होता है।

१. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइज़, पृ० ७३४।



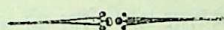
1972 ]

श्री अरविन्द का पूर्णाद्वैत दर्शन

139

चेतन्य का उदय जड़ पदार्थ में सर्वप्रथम जीवन के ही माध्यम से होता है; फिर चेतन्य वनस्पति-जगत में स्वयं को अभिव्यक्त करता हुआ पशु-जगत में घूमता है। वहाँ वह अधिक स्वतंत्र होने के कारण संवेदनशील शरीरधारी प्राणी में अपनी मानसिकता को प्रगट करता है। पुनः वह परम चैतन्य स्वचेतन, विश्लेषण प्रधान एवं विवेकशील मानव-मन में स्वाभिव्यक्त करता है। वर्तमान समय तक विकास यहीं तक पहुँचा है, परन्तु श्री अरविन्द का विश्वास है कि विकास के अगले चरण में चैतन्य अतिमन के स्तर तक अवश्य पहुँचेगा। इस प्रक्रिया का सम्पादन आत्मिक, आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक परिवर्तनों द्वारा संभव होगा।

श्री अरविन्द का पूर्णाद्वैत दर्शन तत्त्व-मीमांसा की शाश्वत समस्याओं—जैसे एक और अनेक, सत् और संभूति, ब्रह्म और माया, ईश्वर और जगत् तथा असीम एवं ससीम के बीच सम्बन्ध—को अत्यन्त सफलतापूर्वक सुलझाता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है—समन्वय और संश्लेषण; उसमें जीवन के नाना पक्षों जैसे कर्म और ज्ञान, प्रेम और शक्ति तथा मानव अनुभव के विविध पहलुओं जैसे विज्ञान और रहस्यवाद तथा बुद्धि एवं अन्तः-प्रज्ञा के बीच विलक्षण सामंजस्य स्थापित किया गया है। वस्तुतः भारतीय दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में श्री अरविन्द के पूर्णाद्वैत सिद्धान्त ने मानव को ईश्वर का क्रीड़ा-साथी निरूपित कर उसे अत्यधिक गौरवशाली पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है, जो कि एक अभूतपूर्व उपलब्धि है।





## महात्मा अरविन्द और सांख्य-दर्शन

सुश्री चन्द्रलेखा पन्त,

शोधछात्रा, उच्चानुशीलन दर्शन केन्द्र, का० हि० वि० वि०

महर्षि अरविन्द पूर्व के महान् साधक, विचारक एवं दार्शनिक थे। बीसवीं शती के प्रारंभ में ब्रिटिश दासता की शृंखला में जकड़ा हुआ भारत अपनी शक्ति को पहचानने एवं पश्चिम की सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक क्रांतियों के परिप्रेक्ष्य में अपनी स्थिति को समझने का प्रयत्न कर रहा था। तत्कालीन भारत की दशा अमावस्या के अंधकार पूर्ण आकाश की तरह थी, जिसमें कुछ विशिष्ट प्रतिभाएँ अपने तेजोपम व्यक्तित्व के द्वारा जनमानस में चेतना लाने का प्रयास कर रही थी। इसी युग में देश ने महात्मा गाँधी, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर, पं० लोकमान्य तिलक आदि प्रमुख चिन्तक, धर्मप्रचारक, दार्शनिक एवं जनसेवक पैदा किया। इन महापुरुषों ने राष्ट्र को अपने अतीत की महान् उपलब्धियों और गौरव का स्मरण करा विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध ऐक्यबद्ध होकर उठ खड़े होने का आह्वान किया। इन्हीं के मध्य योगिराज अरविन्द एक ज्वाज्ज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में आविर्भूत हुए। भारत की तत्कालीन परिस्थिति का उन पर काफी प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने राजनीतिक विचारों द्वारा जनमानस को काफी हद तक प्रभावित किया।

महर्षि अरविन्द की प्रमुख उपलब्धियाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में हैं। उनके दार्शनिक विचारों का धरातल सांख्य, योग, वेदान्त और गीता की नींव पर आधारित है। श्री अरविन्द के दर्शन का घनिष्ठ संबंध सांख्य-योग से है। उन्होंने स्वयं अपने दर्शन को नहीं, बल्कि अपने सांख्ययोग को मौलिक कहा है।<sup>1</sup> इन्होंने सांख्य व योग दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए मुख्यतः वेदान्तिक विचारों का आश्रय लिया।

श्री अरविन्द सांख्य और योग को एक ही वेदान्त के द्वारा प्रतिपाद्य चरमोत्कर्ष की ओर ले जाने वाले दो मार्ग मानते हैं। ये दोनों मार्ग एक दूसरे के पूरक तथा वेदान्त की सत्यता की सिद्धि में सहायक हैं। सृष्टि में त्रिगुणात्मिका प्रकृति की माया सर्वत्र व्याप्त है। इस जगत् की सृष्टि प्रकृति-पुरुष संयोग से ही हुई है। कर्म का कर्ता मनुष्य नहीं है बल्कि त्रिगुणमयी शक्ति के द्वारा ही प्रकृति कर्तृत्व युक्त होती है,<sup>2</sup> ऐसा उनका कथन है।

सांख्य-दर्शन तत्त्वों का विश्लेषण, विभाजन और विवेचन है। सांख्य दर्शन द्वैत को मानता है जिसका अर्थ यह है कि इस कार्य स्वरूप समस्त संसार का कारण कोई एक तत्त्व न होकर दो तत्त्वों में निहित है। ये तत्त्व हैं, प्रकृति और पुरुष।

प्रकृति की सिद्धि के लिए सांख्य-दर्शन में 'भेदानां परिमाणात्'<sup>3</sup> आदि युक्तियाँ दी गयी हैं। प्रकृति जड़, निष्क्रिय, अचेतन और त्रिगुणात्मक है। महत् से लेकर पंचमहाभूत

1. The Riddle of this Universe, Footnote, P. 32.

2. Essays on the Gita, P. 51.

3. सांख्यकारिका, १५, १६।



तक समस्त २३ तत्त्वों का कारण स्वरूप है। सभी की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है। सभी कार्यों का एकमात्र आधार प्रकृत है। अतः इसे प्रधान भी कहा गया है, किन्तु प्रकृति का कोई कारण नहीं है। यह कर्त्री है, एक, सर्वव्यापक, नित्य, निष्क्रिय और स्वतन्त्र है।<sup>१</sup>

सांख्य-दर्शन में ज्ञान प्राप्त करने वाले को पुरुष माना गया है। 'संघातपरार्थत्वात्'<sup>२</sup> द्वारा सांख्य दर्शन पुरुष की सिद्धि करता है। पुरुष स्वयं अकर्ता है किन्तु चेतन रूप है। वही आत्मा अक्षर तथा स्वयं प्रकाश है। पुरुष स्वयं कुछ नहीं करता है, पर वह प्रकृति की क्रियाशीलता को आभासित करता है। प्रकृति स्वयं विचारशून्य है किन्तु पुरुष से मार्गदर्शन पाकर वह अनेक प्रकार से जगत् की सृष्टि करती है। प्रकृति जब पुरुष के संपर्क में आती है तब उसमें पुरुष की चेतना शक्ति का बिंब पड़ने लगता है और उससे चैतन्य प्राप्त करके सृष्टि, स्थिति और प्रलयादि कार्यों को करती है।

सांख्य-दर्शन 'पुरुष बहुत्व' का समर्थक है। उसके अनुसार पुरुष एक न होकर अनेक हैं। पुरुष प्रत्येक क्षेत्र में पृथक्-पृथक् हैं। क्योंकि यदि एक ही पुरुष होता तो एक के जन्म से सभी का जन्म होता, एक के मरण से सभी मृत्यु को प्राप्त होते और एक के इन्द्रिय-दोष से सभी में इन्द्रिय-दोष पाया जाता। किन्तु व्यवहार दशा में ऐसा द्रष्टव्य नहीं है। अतः पुरुष की अनेकता स्वयं सिद्ध है।<sup>३</sup> सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मिका है—'सत्त्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'। उसमें सत्त्व, रज और तमोगुण का समन्वय है। सत्त्व हल्का होता है, प्रकाश करना उसका कार्य है। रजस् में प्रवृत्तिशीलता है, उत्तेजकता उसका गुण है और तमोगुण भारी होने के कारण व्यावर्तक है। सत्त्व गुण ज्ञान का बीज है। यह प्रकृति के कर्मों का स्थापक है। रजोगुण शक्ति और कर्म का कारण है। यह प्रकृति की क्रियाओं की सृष्टि करता है। तमस जड़ता का कारण है। ये तीनों सत्त्व, रजस् और तमस गुण प्रकृति में ही आश्रय रूप से रहते हैं। विकास की अवस्था में इन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है। क्षोभ की अवस्था में तीनों गुण एक दूसरे पर अधिकार करने की चेष्टा करते हैं। प्रकृति के गुणों में जब इस प्रकार का वैषम्य उत्पन्न होता है तब उससे महत्, महत् से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार अभिमानात्मक है। इसमें भी तीनों गुणों के मिलने के कारण इसके तीन रूप हैं। इसके सात्त्विक अंश से ग्यारह इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। तमोगुण विशिष्ट अहंकार से पंचतन्मात्राओं की तथा तैजस् रूप अहंकार सात्त्विक तथा तामस इन दोनों अंशों को अपना-अपना कार्य करने में सहायता देता है। फिर आगे चलकर तमोगुण विशिष्ट अहंकार से उत्पन्न शब्दादि पंचतन्मात्राओं से क्रमशः आकाशादि पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है।

यह सृष्टि का विकास तभी तक रहता है, जब तक पुरुष को तत्त्व ज्ञान नहीं होता है। विवेक-ज्ञान से पूर्व की अवस्था में पुरुष प्रकृति से अपने को भिन्न न समझने के कारण सुख, दुःख, मोहात्मक शब्द, स्पर्शादि प्रकृति के परिणामों को, ये मेरे हैं ऐसा अभिमान करता

१. वही, १० ।

२. वही, १७ ।

३. सांख्यकारिका, १८ ।



हुआ भोगता रहता है, किन्तु तत्त्व ज्ञान हो जाने पर, अपने शुद्ध स्वरूप को जान लेने पर वह बंधन विमुक्त हो जाता है। सांख्य-दर्शन में पुरुष स्वभाव से ही निर्लिप्त और त्रिगुणातीत है। प्रकृति के साथ पुरुष का जो तादात्म्य है, वह केवल भ्रम है। इसी भ्रम का निवारण करना मोक्ष या कैवल्य है। यह रहा सांख्य-दर्शन का सार।

श्री अरविन्द ने सांख्य-दर्शन की व्याख्या में प्रकृति को त्रिगुणात्मिका ही माना है। उनके अनुसार कार्यवाहिका प्रकृति सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त है।<sup>1</sup> उनके अनुसार पुरुष और प्रकृति के सभी संबंध ब्रह्म की शाश्वतता के अंतर्गत होने वाली घटनाएँ हैं। उनके संबंधों को प्रकाश में लाने वाली तथा उनका कारणभूत इन्द्रियाँ और गुण इसी परमात्मा के साधन हैं। प्रकृति और पुरुष अनादि ब्रह्म के अंश समान हैं। यह वह द्वैत है जो ब्रह्म की सर्वव्यापी सत्ता के कार्यों का आधार है। पुरुष अनादि और अनन्त है प्रकृति भी इन्हीं गुणों को वहन करती है। प्रकृति सृष्टि और कर्म करती है। पुरुष उसी निर्माण शक्ति तथा कृति का उपभोग करता है।

श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा अनादि, अनन्त है। प्रकृति के सभी गुण अपने साररूप में गुणात्मक हैं और इसी कारण से वे उसके गुण कहलाते हैं। सूक्ष्म तथा विविधता में अनन्ततः जटिल प्रकृति के संपूर्ण गुणात्मक व्यापार को गुण की सत्त्व, रज और तम इन तीनों अवस्थाओं से युक्त पाते हैं। ये तीनों गुण सर्वत्र उपस्थित हैं। प्रकृति और उसके गुण तथा अन्यान्य २३ तत्त्वों में तो श्री अरविन्द के दर्शन और सांख्य दर्शन में कोई विशेष भेद नहीं है किन्तु पुरुष प्रकरण में जहाँ एक ओर सांख्य-दर्शन बहुपुरुषवाद का समर्थन करता है वहीं दूसरी ओर श्री अरविन्द पुरुष को एकत्व रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि सांख्य के मूल तत्त्वों के निरीक्षण की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक पद्धति के कारण पुरुष बहुलता के सिद्धान्त को मानना सांख्य के लिए आवश्यक हो जाता है। इसमें एक कारण यह भी है कि इस संसार में अनेक सचेतन प्राणी हैं। प्रत्येक प्राणी का जगत के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अनुभव होता है। जगत की प्रत्येक वस्तु का अनुभव वह स्वतंत्र रूप से करता है। यदि पुरुष एक ही होता तो सभी प्राणियों का जगत संबंधी अनुभव एक ही होता और प्रकृति के एक ही होने के कारण सभी प्राणियों के संबंध में आन्तरिक और बाह्य अनुभव एक से ही होते। इसलिए सांख्य-दर्शन को अनेक पुरुष मानना ही अभीष्ट है।<sup>2</sup> किन्तु यदि पुरुष बहुत्व को स्वीकार कर लिया जाय तो यह उचित रूप से समझ में नहीं आता है कि किसी पुरुष को स्वतंत्र रूप से आत्मानुभूति हो और मोक्ष प्राप्त हो जाय जब कि उसी के समान अन्य लाखों-करोड़ों पुरुष वद ही पड़े हैं। प्रकृति का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। वह परम ब्रह्म की ही एक शक्ति है जो सृष्टि संबंधी कार्यों को करती है। यदि परमेश्वर को अक्षर पुरुष माना जाय और व्यष्टि पुरुष को उसका अंश रूप मान लिया जाय जो अपने कारण से निकल कर प्रकृति के साथ इस सृष्टि में संयुक्त हुआ है तो जिस समय वह अंश रूप पुनः अपने कारण में लीन हो जायगा, उसी क्षण यह समस्त सृष्टि क्रिया समाप्त हो जायगी और वही

1. The Synthesis of yoga, P. 848.

2. Essays on the Gita, P. 107.



परम ब्रह्म परमेश्वर ही रहेगा।<sup>1</sup> अतः एक ही पुरुष परमेश्वर को मानना ही ठीक रहेगा। अहंकार सभी के लिए समान है। उसमें भेद हो, यह बात जरूरी नहीं है। यह अहंकार प्रकृति का ही एक तत्त्व है।

श्री अरविन्द पुरुष को अक्षर, अचल और नित्य मुक्त मानते हैं। वेदान्त का समन्वय करते हुए उन्होंने उसी पुरुष को अविकार्य, अज और ब्रह्म स्वरूप माना है। अतः प्रतीत होता है कि उसी ब्रह्म की सत्ता में ही ईश्वर-तत्त्व का समावेश है। यद्यपि वे पुरुष को अचल मानते हैं तथापि सृष्टि संबंधी कर्मों का उत्पादक तथा नियंत्रक भी उसी को मानते हैं। वेदान्त तथा सांख्य दोनों का एकीकरण करते हुए तथा वेदान्तिक विचारधारा का आश्रय लेते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि जब आत्मा अपने नित्य सनातन ब्रह्म स्वरूप में लौट आता है तब उसके लिए माया का कोई महत्व नहीं रहता है और विश्वसृष्टि को क्रिया भी तिरोहित हो जाती है।

श्री अरविन्द के अनुसार पुरुष आत्मा है। वह अपनी प्रकृति की क्रियाओं को जानता है। अपनी सत्ता के आनन्द में उनका उपभोग करता है तथा इच्छानुसार उपभोग का त्याग भी कर देता है।<sup>2</sup> प्रभुत्व सत्ता से युक्त यह पुरुष आत्मा स्वयं अपनी अभिव्यक्तियों से परे है और इन पर प्रभुत्व रखता है। यह अपनी सत्ता के प्राकट्य की शक्ति के रूप में विकसित है। सांत में अनन्त है एवं अनन्त में सात तथा परिवर्तनशील है। यह पुरुष एकत्व विशिष्ट है। यह अक्षर कूटस्थ अविकार्य पुरुष निश्चल, नीरव और निष्क्रिय आत्मा है। यह प्रकृति और उसके कार्यों से सर्वथा रहित अकर्ता पुरुष है। उत्तम पुरुष परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा है जिसमें अक्षर का एकत्व और क्षर का बहुत्व दोनों ही सन्निविष्ट हैं।<sup>3</sup> यही पुरुष पुरुषोत्तम, ईश्वर, परमेश्वर, जगत का आदि कारण और प्रज्ञा रूप है। केवल एकमेव भगवान् ही सन् हैं। वही सनातन ऋत, पवित्रता एवं सत्य है।<sup>4</sup>

श्री अरविन्द की दृष्टि में प्रकृति आत्मा की शक्ति है और उसकी क्रिया मूल रूप से गुणरूप ही होती है। ये गुण प्रकृति द्वारा निर्मित सभी पदार्थों में एक दूसरे के साथ मिले रहते हैं तथा आपस में संघर्षशील भी रहते हैं। प्रकृति के इन गुणों में किसी एक की प्रधानता या इनके अनुपात की प्रतिक्रिया के द्वारा ही हमारे कर्मों और अनुभवों का स्वरूप निर्धारित होता है।<sup>5</sup> उनके अनुसार ये तीनों सत्त्व, रज और तम नामक गुण हमारी प्राकृत सत्ता से प्रत्येक भाग पर सक्रिय रहते हैं। सत्त्व गुण का प्रबलतम प्रभुत्व मन पर, रजोगुण का प्राण पर तथा तमोगुण का शरीर पर होता है। इस प्रकार मन, प्राण और शरीरयुक्त प्राणी की संपूर्ण प्रकृति का निर्धारण इन तीनों गुणों द्वारा होता है। प्रकृति के मौलिक अंशदान दो हैं—गुण और द्वंद्व। प्रकृति की जिस निम्न क्रिया में अर्थात् अपरा प्रकृति में हम जीवन यापन करते हैं उसके अंदर कुछ एक मूल गुण हैं। वे गुण उसकी निम्नता

1. Essays on the Gita, P. 377.

2. The synthesis of yoga, P. 716.

3. Essays on the Gita, P. 113.

4. The synthesis of yoga, P. 643.

5. Ibid, P. 782.



का संपूर्ण आधार है। आत्मा जब अपरा प्रकृति के गुणों से रहित हो जायगी और त्रैगुण्यातीत की स्थिति में पहुँचेगी, तब प्रकृति की द्वंद्वमय क्रिया समाप्त हो जायगी।

आत्मा की मुक्ति तभी होती है जब अपनी आत्मा को विश्वात्मा के साथ एक कर दें और विश्व से परे भी भगवान् के साथ एकात्म हो जायें और सर्वोच्च दैव प्रकृति को ग्रहण करें—यही वास्तव में मुक्ति का आशय है और यही आत्मा की सर्वाङ्ग पूर्णता है।

पुरुष और प्रकृति के द्वैत के विषय में श्री अरविन्द का कथन है कि यह द्वैत केवल एक बाह्य प्रतीयमान तथ्य है। प्रभुत्व संबंधित वास्तविक सत्य तो एकमेव आत्मा परम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम है जिसे हम विश्व के रूप में अनुभव ही करते हैं। यह विश्व प्रकृति निष्क्रिय नहीं है किन्तु यह अपने समस्त कार्य-व्यापारों में विश्वात्मा के द्वारा संचरित होती है। वास्तविक सत्य तो केवल एक परम ईश्वर ही है जो इस विश्व प्रकृति में निहित सभी पदार्थों में अपनी सत्ता को अभिव्यक्ति करता है।<sup>1</sup>

मुक्ति की व्याख्या के संदर्भ में श्री अरविन्द कहते हैं कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए हमें गुणों का व्यतिक्रम करना पड़ेगा और त्रिगुणातीत होने के लिए हमें निम्न अर्थात् अपरा प्रकृति के कर्म को त्यागना पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि व्यक्ति कार्य करने के लिए प्रवृत्त नहीं होगा और गुण अपने-अपने को प्रबल करने के लिए एक दूसरे से छुटकारा पाने की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार ये परस्पर विषय गुण संतुलन की अवस्था में जब पहुँचते हैं तो प्रकृति का संपूर्ण कार्य व्यापार बन्द हो जाता है और अन्तरात्मा अपनी शांति में विश्राम लेती है।<sup>2</sup> इस प्रकार प्रकृति मुक्त हो जाती है।

सांख्य-दर्शन प्रकृति में अहंकार को स्थान देता है, पुरुष बहुत्व को नहीं। सांख्य-दर्शन में पुरुष प्रकृति का अंश स्वरूप न होकर उससे सर्वथा भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व वाला है। इसके विपरीत श्री अरविन्द कहते हैं कि परमेश्वर ही अपने स्वभाव से जीवरूप में उत्पन्न होता है किन्तु ऐसा संभव नहीं जान पड़ता है, क्योंकि विश्व प्रकृति चौबीस तत्त्वों से युक्त है। चौबीस तत्त्वों से अतिरिक्त २५ वाँ तत्त्व उसमें है ही नहीं। गीता में भगवान् कृष्ण इसका समाधान करते हैं कि यह ठीक है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बाह्य कर्म इसी प्रकार हैं, और इसमें पुरुष और प्रकृति का संबंध भी जिस प्रकार बतलाया गया है वह ठीक है। किन्तु वास्तव में यह त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति है जो जड़ एवं बाह्य है। दूसरी चित् स्वरूपा पराप्रकृति इसके विपरीत है। पराप्रकृति का ही दूसरा रूप जीव है।<sup>3</sup>

सांख्य-दर्शन ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता है। अतः आधुनिक भाषा में इसे अतीश्वरवादी कहा गया है। इसके विपरीत श्री अरविन्द परम सत्ता के रूप में ब्रह्म या ईश्वर को स्वीकार करते हैं। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि श्री अरविन्द एकत्व विशिष्ट सेश्वर सांख्य के समर्थक हैं।

1. The synthesis of Yoga, p. 862.
2. The synthesis of Yoga, p. 787.
3. The synthesis of Yoga, p. 875.



## अतिमानव : श्री अरविन्द और नीत्शे

राधेश्याम श्रीवास्तव

श्री अरविन्द योगी होने के साथ-साथ दार्शनिक भी थे। वे कोरे रहस्यवादी क्षयवा दृष्टा ही नहीं, बल्कि माध्यमिक और ब्रेडले के जोड़ के तार्किक, कांट और हेगेल के समान बुद्धिवादी थे। श्री अरविन्द के दर्शन पर वेद, उपनिषद्, गीता तथा यूनानी दर्शन का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त कश्मीर के शैवसिद्धान्त, तंत्र तथा आधुनिक विकासवाद और मानवतावाद से भी वे प्रभावित प्रतीत होते हैं। अरविन्द का दर्शन बौद्धिक तर्क की सीमा से आबद्ध न रहकर अतिमानस के अनुभव पर अवस्थित है। वहाँ प्रयुक्त होने वाला तर्क अनन्त का तर्क ( Logic of infinite ) कहा जाता है।

अतिमानस की अवधारणा अरविन्द दर्शन का एक विशिष्ट तथा मौलिक योगदान है। उसका सूत्रपात उन्हें वेदों में मिलता है, लेकिन अब तक किसी दार्शनिक ने उसे इतना महत्त्व नहीं दिया था। अतिमानस की धारण ही अरविन्द दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। उनके अनुसार अतिमानस का प्राकट्य ही जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। अतिमानस मानव चेतना के परे है। अरविन्द दर्शन का उद्देश्य मानव में अतिमानस के अवतरण की प्रक्रिया को स्पष्ट करना है।

श्री अरविन्द दर्शन के अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म अन्तिम यथार्थ सत्ता है। यदि हम सच्चिदानन्द शब्द का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि इसके तीन पहलू हैं : सत्, चित् और आनन्द। सत् का अर्थ है ब्रह्म का अस्तित्व तीनों कालों में समान रूप से अक्षुण्ण रहता है। सांख्य और वेदान्त भी इस दृश्यमान परिवर्तनशील जगत् के अन्दर अपरिवर्तनशील शाश्वत सत्ता को स्वीकार करते हैं किन्तु कुछ दर्शनों में जैसे बौद्ध-दर्शन में परिवर्तनशील जगत् को ही सत् माना गया है। सत् वस्तु का चित् होना आवश्यक है क्योंकि वह जड़ नहीं हो सकता। यदि सत् जड़ होता तो उससे सर्वत्र अनुभूत होनेवाली चेतना उत्पन्न न हो पाती। जड़-चेतन सृष्टि और उसके परे व्याप्त सत् सब चित् रूप हैं। यद्यपि जड़ वस्तु में चित्-शक्ति की सत्ता मानना कठिन प्रतीत होता है किन्तु वह किसी न किसी रूप में अपरिहार्य है। चित् केवल मानसिक-चेतना ही नहीं, अपितु चित्-शक्ति ज्ञान और संकल्प की समुच्चय सृजन शक्ति भी है। सत् चित्त के अतिरिक्त ब्रह्म आनन्द स्वरूप भी है। उसका आनन्द सत्ता के विभिन्न स्तरों पर—सौन्दर्य, सामंजस्य, सुख, शान्ति, समरसता, प्रेम आदि रूपों में प्रकट होता है। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रश्न श्री अरविन्द ब्रह्म के आनन्द से ही हल करते हैं। वे कहते हैं, “मैं तान्त्रिक हूँ। मेरे विचार से संसार की उत्पत्ति आनन्द से होती है, आनन्द में ही वह रहता है और आनन्द से आनन्द में ही वह नृत्य करता रहता है। आनन्द और शक्ति ही सत्ता के दो वास्तविक पक्ष हैं।”<sup>1</sup> वे उपनिषद् वाक्य उद्धृत

1. Yogic Sādhana, p. 83.



करते हुए कहते हैं—“आनन्दाद्वयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जाताति जीवन्ति ।” अर्थात् आनन्द से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है, आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं ।<sup>1</sup>

श्री अरविन्द सृष्टि की उत्पत्ति अज्ञान से मानते हैं, किन्तु अज्ञान विषयक उनकी धारणा अन्य वेदान्तियों से भिन्न है । अज्ञान ज्ञान का विरोधी नहीं, अपितु उसका पूरक है । ज्ञान एवं अज्ञान एक ही ब्रह्म के दो रूप हैं । श्री अरविन्द अज्ञान का उद्गम चित्-शक्ति-तपस के केन्द्रीकरण या एकाग्रिकरण ( Concentration ) से मानते हैं । सृष्टि ज्ञान के बिना भी विद्या माया द्वारा होती है, वह उच्चतर लोक की सृष्टि है । मानव लोक की सृष्टि अज्ञान या अविद्या द्वारा होती है । शंकर के दर्शन में अज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं मानी जाती, परन्तु श्री अरविन्द का कहना है कि यदि हम अज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानते तो द्वैत बना रहता है । पूर्णाद्वैत की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि हम अज्ञान को दिव्य चेतना की स्वतन्त्रतापूर्वक अपने को सीमित, तिरोहित तथा विभक्त करने की शक्ति मानें । वह शक्ति ही योगमाया है । अज्ञान का यह रूप मानने से सृष्टि के कारण ब्रह्म में कोई विकार नहीं आता । ब्रह्म अपने स्वरूप को अभिव्यक्ति के लिए परिवर्तनशील रूप धारण करता है, यही उसका अवतरण है । इस अवतरण के अनेक स्तर हैं, जिनमें से कुछ मानस तत्त्व के ऊपर तथा कुछ नीचे हैं । जड़, जीवन तथा मनस् निम्न परिधि में हैं तथा अतिमानस, चित्, सत् एवं आनन्द ऊर्ध्व परिधि में हैं । इन दोनों को जोड़ने वाली कड़ी अतिमानस है । मानस तत्त्व तथा अतिमानस के बीच अनेक स्तर हैं । अवतरण को शृंखला में सबसे ऊपर अतिमानस और सबसे नीचे जड़ तत्त्व है ।

श्री अरविन्द के विकासवाद का यदि हम सूक्ष्मावलोकन करें तो उसमें तीन प्रमुख विशेषताएँ पायेंगे । एक तो उसमें 'सर्वमुक्ति' की भावना है । श्री अरविन्द ही पहले दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने सर्वमुक्ति को बात कही है । उनका विश्वास था कि समग्र मानवता मुक्ति की ओर अग्रसर हो रही है । दूसरे, मुक्ति की अवस्था में किसी भी अवस्था का विलय नहीं हो जाता, वरन् मुक्ति में शरीर, जीवन और मनस् सबका रूपान्तर होकर एक नवीन जीवन की प्राप्ति होती है । तीसरा, मनुष्य का लक्ष्य अतिमानव बनना है । उसमें उसकी समस्त सत्ता का रूपान्तरण हो जाता है ।

अज्ञान ही बंधन का कारण है । अज्ञान का नाश मोक्ष या मुक्ति कहलाता है । श्री अरविन्द मानते हैं कि मानवमुक्ति शरीर और मनस् की वर्तमान दुःख और बुराई की सीमा से स्वतंत्र होना ही है और यह तभी संभव है जब मनस् आरोहण के द्वारा अतिमानसिक चेतना की प्राप्ति करे । अतिमानस का अवतरण जब मानस में हो जायेगा, तभी वह मुक्त होगा । अतिमानस के अवतरण से जड़, जीवन और मनस् का मौलिक रूपान्तर हो जाता है । अतिमानस से तात्पर्य है दिव्य प्रकृति की परिपूर्ण ऋत-चेतना, जहाँ विभाजन तथा अज्ञान के तत्त्व के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता । वह नित्य परिपूर्ण ज्योति एवं ज्ञान है सकल मनोधातु से मन की सकल गति से श्रेष्ठतर । हमारे मन की

1. The Life Divine, p. 120.



क्रियाओं में सत्ता, ज्ञान-चेतना और इच्छा-चेतना विभक्त प्रतीत होते हैं, किन्तु अतिमानस में ऐसा सम्बन्ध नहीं है। वहाँ वे एक त्रिक् है एक ही गति है जिसमें तीन प्रभावो पक्ष हैं। अतिमानस अस्तित्व की वह श्रेणी है जो मन, प्राण तथा जड़ से परे है और जैसे मन, प्राण और जड़ पृथ्वी पर अभिव्यक्त हुये हैं वैसे ही अतिमानस भी वस्तुओं के अनिवार्य क्रम में इस जड़ जगत में अभिव्यक्त होगा। इसे हम सृष्टि का आदि और अन्त कह सकते हैं क्योंकि देश-कालावच्छिन्न जगत् की सृष्टि ब्रह्म के अतिमानस रूप से ही होती है तथा विकास का लक्ष्य अतिमानस की प्राप्ति है। सृष्टि के लिए एक विशेष प्रकार की चेतना की आवश्यकता है। इसे चयनात्मक ज्ञान-शक्ति कहा गया है।<sup>1</sup> अतिमानस एक विशिष्ट नियम या सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है और जिसे श्री अरविन्द दिव्य या आध्यात्मिक नियम कहते हैं। मत और अतिमानस में मौलिक भेद है—वास्तव में अतिमानस का रूप मानसिक नहीं है। अतिमानस ज्ञान है न कि ज्ञान का साधन।

वास्तव में, अतिमानस के आविर्भाव के साथ ही विकास का क्रम समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि अतिमानस के परे भी आनन्द, चेतना-शक्ति और शुद्ध सत्ता के तत्त्व हैं। परन्तु हम देखते हैं कि अतिमानस के अवतरण से विकास क्रम में एक भारी परिवर्तन हो जाता है। जो विकास अभी तक अज्ञान द्वारा नियंत्रित था वह अतिमानस के अवतरण के साथ ज्ञान द्वारा संचालित हो जाता है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप मानव प्राणी दिव्य प्राणी में रूपान्तरित हो जायेंगे। ऐसे प्राणी, जिन्होंने समस्त अज्ञान का परित्याग कर दिया है, ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हैं। दिव्य मानव बनने का तात्पर्य आत्म-नियन्ता और विश्व-नियन्ता बनना है।

अरविन्द-दर्शन में जब हम मुक्ति के प्रत्यय पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि उनका मुक्त-पुरुष, जिसको वे विज्ञानमय-पुरुष (gnostic-being) या अतिमानव कहते हैं अन्य भारतीय दार्शनिकों के मुक्तात्मा से भिन्न प्रतीत होता है। विज्ञानमय-स्थिति में विज्ञान पुरुष की समस्त सत्ता, उसके विचार, जीवन और कर्म सभी एक सार्वभौम आत्मा से अनुशासित होंगे। विज्ञानमय पुरुष देवी सत्ता को सर्वत्र और अपनी सत्ता के सभी भागों में अनुभव करेगा। वह सामान्य व्यक्तित्व की सीमाओं से ऊपर उठकर सार्वभौम स्वरूप को प्राप्त होकर पूर्ण व्यक्ति बन जायेगा। प्रश्न उठता है कि मुक्तात्मा का अपना व्यक्तित्व होता है या नहीं? शंकर के अनुसार मुक्ति का स्वरूप ब्रह्म के साथ एकत्व है।<sup>2</sup> मुक्तात्मा को सर्वोच्च सत्ता से भिन्न नहीं किया जा सकता (अविभाग)। ऐसी अवस्था में मुक्त पुरुष की वैयक्तिकता और व्यक्तित्व दोनों का लोप हो जाता है। रामानुज के अनुसार मुक्तात्मा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करता है। यद्यपि उसके साथ तद्रूपता को प्राप्त नहीं होता।<sup>3</sup> मुक्त आत्मा शुद्ध निर्मल ज्ञान से युक्त तथा दोषों से रहित हो ब्रह्म के सदृश (ब्रह्म-प्रकार) हो जाता है। समस्त प्रकार के अज्ञान और बंधनों से मुक्त हो जाने

1. The Life Divine, P. 108.

2. ब्रह्मेव हि मुक्तावस्था।

3. ब्रह्मणोभावः न तु स्वरूपैक्यम्।



पर मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान और भक्ति के साथ, ब्रह्म चिन्तन का असीम आनन्द अनुभव करता है।<sup>१</sup> श्री अरविन्द के अनुसार ये दोनों मत एकांगी है। उनका कहना है कि विज्ञानमय पुरुष या प्रतिमानव जड़, जीवन और मनस् के अस्तित्व का निषेध नहीं करता। ये सभी रूपान्तर के बाद भी रहते हैं लेकिन दोनों के स्वरूप में अन्तर आ जाता है। अतिमानस के अवतरण के पहले जड़, जीवन और मनस् का जैसा स्वरूप रहता है वैसा अवतरण के बाद नहीं, उसका रूपान्तरण हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि मुक्त जीव या विज्ञानमय पुरुष का अपना व्यक्तित्व होता है। अरविन्द का विश्वास है कि “अतिमानसिक चेतना में व्यक्तित्व और व्यक्तित्व-शून्यता कोई विरोधी सिद्धान्त नहीं है।”<sup>२</sup> वहाँ पर कोई अलगाव नहीं है। वे एक ही सत्ता के दो पहलू हैं। लेकिन हमको यह जान लेना चाहिये कि साधारण मानव तथा विज्ञानमय पुरुष की चेतनाओं में महान् अन्तर है। साधारण मानव व्यक्तित्व में शरीर का अपना नियम होता है जो आत्मा ( Spirit ) द्वारा संचालित होता है लेकिन अतिमानस के अवतरण के बाद जड़, जीवन और मनस् दैवी-नियम ( Divine Law ) द्वारा संचालित होते हैं। विज्ञानमय पुरुष का अपना आध्यात्मिक व्यक्तित्व होता है। उसकी चेतना संकल्प और कर्म निरपेक्ष से संयोग में होंगे। उसका अर्थ अभिव्यक्ति का आनन्द होगा। दूसरे, शंकर के अनुसार मुक्तात्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है। उसकी अपनी वैयक्तिकता का लोप हो जाता है और ब्रह्म का आनन्द उसका आनन्द होता है। रामानुज के अनुसार मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ उसके आनन्द में आनन्दित है, लेकिन वह ब्रह्म नहीं हो जाता बल्कि उसकी अपनी अलग वैयक्तिकता होती है। श्री अरविन्द के अनुसार अतिमानव दोनों प्रकार का आनन्द प्राप्त करता है—ब्रह्म के साथ सहभाव के रूप में और स्वयं अपनी सत्ता में। क्योंकि वे मानते हैं कि अतिमानसिक चेतना में व्यक्तित्व और व्यक्तित्व-शून्यता ये दो विरोधी सिद्धान्त नहीं हैं। उनका मत है कि एकत्व और आत्म-ज्ञान के द्वारा मुक्ति लाभ के बाद भी वैयक्तिकता का अस्तित्व बना रह सकता है।

विज्ञानमय अवस्था में नैतिकता का स्थान क्या होगा ? नैतिकता के लिए वैयक्तिकता और स्वतन्त्रता अत्यावश्यक है। अतिमानसिक चेतना में अहंकार का स्थान निर्वैयक्तिक और सार्वभौम पुरुष ले लेता है। फिर भी उसका एक रूप और व्यक्तित्व है जो कि उसका विशेष चिह्न है। अतिमानव एक वैयक्तिक और कलात्मक अभिव्यक्ति के विशेष रूपों द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता हुआ एक असीम और सार्वभौम पुरुष है। विज्ञानमय पुरुष पूर्णतया आत्म-नियन्त्रित होता है। उसके समस्त कर्म स्वभावतया ज्ञान से परिचालित होते हैं। वहाँ कोई अज्ञान, भूल, असत्य अथवा पाप नहीं होगा। अतिमानव शुभाशुभ का निर्णय परम शुभ के आधार पर करेगा। वह सार्वभौम व्यक्तिक के समान कार्य करेगा। उसकी चेतना संकल्प और कर्म निरपेक्ष के संयोग में होंगे। उसका अर्थ अभिव्यक्ति का आनन्द होगा। अतिमानव के शुभ में और अन्य व्यक्तियों के शुभ में कोई संघर्ष नहीं होगा। उसका ज्ञान अतिमानस का ज्ञान बिन्दु ( Real Idea ) होगा।

१. श्रीभाष्य, चतुर्थ अध्याय का चतुर्थ पाद।

२. The Life Divine, P. 881.



अतिमानसिक अवस्था में, मानस के अन्दर तथा व्यक्तियों में परस्पर पूर्ण शान्ति होगी। यहाँ पर ज्ञान और कर्म में असीम स्वतन्त्रता की व्यापकता और नमनीयता होगी। विज्ञानमय पुरुष में एक आन्तरिक सत्य-ज्ञान, सत्य-दर्शन, सत्य-अनुभूति और सत्य-संकल्प, सत्य-बोध और कर्म की सत्य प्रेरणा होगी। भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक पुरुष का पूर्ण नियन्त्रण होगा। विज्ञानमय-पुरुष, जिसको हम अतिमानव कहते हैं उसकी अभिव्यक्ति निम्नयोजना को निर्धरोध बना देगी। वह तादात्म्य द्वारा कार्य करेगा। अतिमानव या विज्ञानमय पुरुष का जीवन दैवी सत्ता से प्राप्त प्रेरणा द्वारा संचालित होगा।

श्री अरविन्द के समग्र विकासवाद में व्यष्टि का ही नहीं, वरन् समष्टि का विकास भी होता है। दोनों साथ-साथ विकसित होते हैं। उनका यह विश्वास था कि व्यक्ति के आध्यात्मिकता और दिव्यता प्राप्त करने पर जगत् का रूप भी परिवर्तित होगा और दिव्यता का अनावरण होगा। श्री अरविन्द के योग का लक्षण पूर्णता की प्राप्ति है। योग मानव साधन का वह स्वरूप है, जिसमें व्यक्ति सामान्य मानवीय स्तर से ऊपर उठकर अतिमानवीय शक्तियाँ और मुक्ति प्राप्त करता है। योग का उद्देश्य विकास में गति लाना है। इसी से अरविन्द का कहना है कि योग दिव्य के लिए है।<sup>1</sup>

दूसरी ओर जर्मन दार्शनिक नीत्शे की दृष्टि में मुक्त आत्मायें वे हैं, जो प्रकृत्यातीत या अनुभवातीत संसार का अस्तित्व नहीं मानते। उनके लिए न जीवन के उपरान्त कुछ है, न कोई शाश्वत नियम निर्माता है।

नीत्शे ने 'दस स्पेक जरतुश्त', 'दी गासपेल ऑव सुपरमैन' और 'दो विल दू पावर' में सुपरमैन उत्पन्न होने की संभावना व्यक्त की है। पाश्चात्य दर्शन में नीत्शे ने ही 'सुपरमैन' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया। उसका सुपरमैन मानव द्वारा स्थापित समस्त मूल्यों का अतिक्रमण करता है। उसका यह भी विश्वास था कि मनुष्य को अपनी मानवीय स्थिति से सन्तुष्ट रहना चाहिये। हमें उन लोगों के उपदेशों से सावधान रहना चाहिये, जो इस जगत् से परे किसी काल्पनिक जगत् की बात करें। नीत्शे ने लिखा है, "पशु और अतिमानव के बीच शून्य अधर (abyss) पर मनुष्य रूपी एक रस्सा तना हुआ है। मनुष्य का पूर्णत्व अपने में ही नहीं है। वह तो एक उच्चतर स्थिति पर पहुँचने के लिए सेतु स्वरूप है।" उसका यह विश्वास था कि सारे देवता मर गये हैं सुपरमैन देवता का जगह ले रहा है। उसने ईश्वर-पुरुष के बजाय पुरेश्वर की स्थापना की। सुपरमैन का दूसरा कार्य है कि वह ईश्वर के राज्य पर अपना अधिकार जमावे।

नीत्शे के अनुसार नैतिकता शक्ति संचय में है न कि सहृदयता, उदारता और नम्रता जैसे गुणों में। ये गुण मानव विकास में बाधा स्वरूप हैं। सुपरमैन के राज्य में ऐसी नैतिकता को स्थान नहीं है। उसके साम्राज्य में नैतिकता का अर्थ होगा शक्ति संचय। मनुष्यमात्र का लक्ष्य सभी लोगों की समान रूप से उन्नति करना नहीं, वरन् श्रेष्ठ और शक्तिशाली व्यक्तियों को उत्पन्न करना है। यदि कोई समाज अपने से ऊँचे समाज को जन्म नहीं दे सकता तो अधिक अच्छा होगा कि वह स्वयं नष्ट हो जाय।

1. Lights on yoga, p. 5.



नीत्सो हमेशा कहा करता था—“Not mankind but superman is the goal.”<sup>1</sup> उसका विश्वास था कि ‘ईश्वर मर गया है।’ ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना किसी अप्राकृतिक जीवों की सत्ता में विश्वास करने जैसा है। उसके अनुसार ईसाई ईश्वर में विश्वास नहीं रह गया है। उसके साथ ही साथ ईसाई नैतिकता भी अपना विश्वास खो बैठी है। जहाँ तक नियमों का प्रश्न है यदि ईश्वर ही नहीं है तो उसके बनाये नियमों का क्या मूल्य? नैतिक आचरण का क्या मूल्य? नैतिक आचरण का उत्तरदायित्व मनुष्य पर ही है। ईश्वर रहित विश्व में मनुष्य स्वयं नैतिक मूल्यों का चयन कर लेगा। मनुष्य का भविष्य मनुष्य पर ही निर्भर करता है। उसे अपने पर्यावरण को समझकर स्वयं उससे ऊपर उठना है। उसका कहना था कि धार्मिक व्यवस्थाएँ मनुष्य के विकास को अवरुद्ध कर देती हैं।

नीत्सो का सुपरमैन शक्तिशाली, अहंकारी, क्रूर और कठोर हृदय जैसे गुण रखने वाला है। उसमें जैवीय शक्ति की प्रचुरता है। हम उसको ईश्वर नहीं कह सकते। उसके पास कोई भी दिव्य-चेतना कही जाने वाली वस्तु नहीं होगी। सुपरमैन के निर्माण के लिए बल, बुद्धि और गर्व नितान्त अपेक्षित है। उसे अपनी इच्छाओं का दास नहीं बनना है, दुर्बल व्यक्ति अपनी इच्छाओं का विरोध नहीं कर पाते और वासनाओं के प्रवाह में बह जाते हैं। सुपरमैन सुन्दर संतति विषयक दूरदर्शिता से उत्पन्न किया जा सकता है और उत्तम शिक्षा के द्वारा उसका निर्माण हो सकता है। इस प्रकार उत्पन्न और शिक्षित पुरुष अच्छाई और बुराई से ऊपर जायेगा। सुपरमैन—सामान्य लोग जिसे बुराई कहते हैं—उसे ग्रहण करने में संकोच नहीं करेगा। उसकी दृष्टि में अच्छाई (goodness) उतना बड़ा गुण नहीं है जितनी निर्भयता। उसका मुख्य उद्देश्य शक्ति संचय और निर्भर रहना है। वह संकट से भयभीत नहीं होता, उसे शान्ति से युद्ध अधिक प्रिय होता है। युद्ध कोई बुराई नहीं है युद्ध से समस्याएँ सुलझती हैं। नीत्सो के अनुसार उसे ऐसे सिद्धान्त बनाने चाहिये, जो दूसरों से पालन कराये जा सकें और उसके पहले वह स्वयं उन्हीं के अनुसार आचरण करे। जो मनुष्य सुपरमैन बनने की कामना न रखते हों, उन्हें महान् व्यक्तियों की सहायता करनी चाहिये। असहाय और दुर्बल व्यक्तियों का यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे सुपरमैन के बनाने में यदि स्वयं का बलिदान करना पड़े तो कर देना चाहिये।

श्री अरविन्द और नीत्सो के अतिमानव के प्रत्यय की यदि तुलना करें तो पायेंगे कि दोनों के विचारों में महान् अन्तर दिखाई पड़ता है। जहाँ श्री अरविन्द का अतिमानव एक आध्यात्मिक सत्ता है वहीं नीत्सो का सुपरमैन पूर्ण भौतिकवादी सत्ता है। श्री अरविन्द अतिमानव में दैवी सत्ता का निरूपण करते हैं। विज्ञानमय पुरुष की समस्त सत्ता, उसके विचार, जीवन और कर्म सभी एक सार्वभौमिक आत्मा से अनुशासित होंगे। वह दैवी सत्ता को सब कहीं और अपनी सत्ता के सभी भागों में अनुभव करेगा। प्रत्येक वस्तु उसके लिए “आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा को पाने के समान” होगी। उसकी कोई आवश्यकताएँ, कोई इच्छाएँ नहीं होंगी। नीत्सो का सुपरमैन ‘शक्ति की इच्छा’ से शासित होगा, उसकी अपनी अनन्त आवश्यकताएँ होंगी। नीत्सो ऐसी किसी भी आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास नहीं करता,

1. The will to power, Book IV p. 1001.



जिसकी प्राप्ति मनुष्य मात्र का लक्ष्य हो। उसने एक स्थान पर लिखा है कि न मन है, न तर्क है, न विचार है, न चेतना है, न आत्मा, न इच्छा है, न सत्य। ये सब कोरी कल्पनायें हैं और व्यर्थ हैं। मनुष्य कहलाने वाला प्राणी के आन्तिपूर्ण परिप्रेक्ष्य के पार्श्व में कुछ नहीं है।

गीता में दो प्रकार के मानव का वर्णन मिलता है—एक दैवी संपदा रखने वाले और दूसरा आसुरी संपदा वाले। एक तो वे लोग हैं, जिसमें सात्विक प्रकृति अत्यन्त प्रबल होती है जो कि स्वभावतः ही ज्ञान, आत्म-संयम, परोपकार तथा पूर्णता की ओर मुड़ी रहती है। और दूसरे वे, जिनमें राजसिक प्रकृति अति प्रबल होती है। जो अहंभय महत्ता एवं कामनापूर्ति की ओर तथा अपने निजी दृढ़ संकल्प एवं व्यक्तित्व में आसक्तिपूर्ण रति की ओर मुड़ी रहती है; अपने इस दृढ़ संकल्प और व्यक्तित्व को वे मनुष्य भगवान् की सेवा के लिए नहीं, बल्कि अपने अभिमान, यश और सुख के लिए जगत् पर लादना चाहते हैं। वे देवों और दानवों या असुरों के मानवीय प्रतिनिधि हैं। यहाँ हम देखते हैं कि नीत्से का सुपरमैन गीता में वर्णित आसुरी स्वभाव का है। आसुरी गुण क्रोध, लोभ, धूर्तता, छल-कपट, परद्रोह और अभिमान आदि हैं। लेकिन अरविन्द का अतिमानव दैवी संपदा से सम्पन्न है। दैवी संपदा से सम्पन्न मनुष्य की समस्त सत्ता एवं समस्त प्रकृति पूर्ण रूप से शुद्ध होती है। उसके अन्दर किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती। श्री अनिल वरन राय के शब्दों में “Neitsche's superman corresponds to the Asura in Indian terminology, a personification of exaggerated.”<sup>1</sup>

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अरविन्द का अतिमानव का प्रत्यय नीत्से के सुपरमैन के प्रत्यय से अधिक तार्किक और सत्य है। यदि हम मानव के यथार्थ स्वरूप पर ध्यान दें तो देखते हैं कि ‘मानव का दैयत्तिक और सामाजिक अनुभव तथा विश्व में आत्माभि-मानी के लिए मन, जीवन और शरीर को प्रयोग करने वाला एक आत्मा है।’<sup>2</sup> सच्चिदानन्द आत्माभिव्यक्ति के आनन्द के लिए स्वयं ससीम में अवरोहण करता है। आत्मा और निरपेक्ष एक है। इस प्रकार अरविन्द के अनुसार व्यक्ति उतना ही यथार्थ है जितना कि विश्वमय अथवा सर्वातिशायी। व्यक्ति समस्त विश्व चेतना का केन्द्र है।<sup>3</sup> मानव का ध्येय दैवी सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए अपने को विश्वमय और निर्वैयक्तिक बनना है। श्री अरविन्द का अतिमानव कोई उच्चतर मानव अथवा रहस्यवादी नहीं, वह मानव का उत्क्रमण करता है। अतिमानसिक स्थिति मानस के लिए तब तक अज्ञेय रहती है जब तक कि अतिमानसिक तत्व का अवतरण नहीं होता। अतः मानस से अतिमानस की ओर जाना अपरा प्रकृति से परा-प्रकृति की ओर जाना ही मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य है।

1. Anil Baran Roy : Sri Aurobindo and the New Age, p. 54.

2. Synthesis of Yoga, p. 717-18.

3. The Life Divine, Part I, p. 45.



## CONCEPT OF HUMAN BONDAGE AND SRI AUROBINDO

Dr. Bashishtha Narain Tripathi

The problem of bondage has a pivotal position in Indian philosophy. The problem stands thus : if there is birth, there will be hundreds of bondages which rush upon the created being. Lower minds are forgetful, entangled in Avidya—perhaps happier than the Elevated minds. But the problem is recurring. Hence our bondage has no end. It simply begins to begin again. Bondage does not end with worldly affairs only, it goes beyond and disturbs the soul also. The problem may be tackled from our world of mind to a certain extent. Mind is the creator and annihilator. Temporary consolation may be attained but again the same happiness gushes out. Nevertheless, spiritual thinkers of all times have attempted to break the endless chain of bondage and have indicated the path to liberation. The Buddha cried out “stop birth, so you will get Nibbān.” Tantric says, “win over the 5 ms,” Vedanta says, “Man is God;” Suffiie says, “Pray and think of God;” the Christian declares “submit to the will of God;”—numerous prescriptions.

The multi-system structure of Indian religious philosophy seems at first sight to be lacking in unity and coherence. It appears that various spiritual interpretations of life have little in common and do not make for a unified outlook. Thus there is little in common between the views of bondage and liberation, and between the advocates of the path of knowledge and those of Bhakti regarding the pathway to salvation. A deeper analysis, however, reveals more than one link connecting the different philosophies of bondage and liberation propounded here.

Thus, in all the schools bondage is equated with the state of samsāra ( world ) and liberation is conceived as consisting in the attainment or manifestation of a perfection inherent in the soul itself. Practically, all the systems agree in the treating that the aspirant after mokse should get rid of himself of attachment to wordly objects and eradicate the passions of rāga ( attachment ) and dvesa ( aversion ).

Bondage, in Indian spirituality, can be partly compared with ‘Sin’ in christianity, but it does not necessarily imply a fall from an antecedent condition of innocence. Bondage, here is generally conceived to be beginningless and it is also a wider concept. It is not merely a state of moral fall, it has a deeper metaphysical basis and character. The inquiry



## 1972] CONCEPT OF HUMAN BONDAGE &amp; AUROBINDO 153

into the nature of bondage stems from man's pre-occupation with the problem of suffering, and his desire for a fully satisfying form of existence. We always feel hemmed in, on all sides, by forces—both within and without, which block our spiritual progress to whatever destination we have set for ourselves. There is at the lowest level the worldly man's helplessness before social conventions and material forces which determine to a large extent the kind of life he must live. There are his limited resources and his physical and mental capacities which always fall short of his wishes and thus set a limit to his achievement. Indian philosophy has always been existentialist in its approach to the problem of the temporality of man. The quest for truth in Indian spirituality is inspired by the consideration that it helps man to liberate himself from his temporality which is another name for bondage. The ideal of Indian thought is the conquest of absolute freedom. May the bonds admitted, from all of which man is to be liberated. But, they point to the same primordial source of bondage—bondage in the metaphysical sense which makes all other bondages possible and makes man an indefinite and evanescent series of conditions. Such is the concept of Avidya (ignorance) or its counterparts. This brings us close to the diagnostic explanation of the Indian philosopher: the prime source of bondage is Avidya (ignorance) in some form or the other. It is Avidya which makes us love certain things and hate others, to be pleased with some and be displeased with others, to feel pain and pleasure, to do certain things and avoid others. All these being recognised as forms of bondage which cover the spirit like so many coatings of ignorance.

Human bondage means that there is a conception about man according to which he is supposed to be made of *humus* or earth and that he is chained to his human or earthly nature. On the other hand, there is also the idea that man dwells a *spiro* or breath coming from the high; that the indwelling breath constitutes his spiritual nature. How can man become detached or free from his human bondage in order to become his spiritual nature? This is a problem that has been dealt by founders of religions, philosophers, mystics, ascetics and theosophists of all times. All of them come to almost the same conclusion: that we must get control of our human nature and finally obtain a complete detachment from it.<sup>1</sup>

---

1. "From Human Bondage to spiritual Freedom": Dr. Jose. B. Acuna, Lecture delivered at the 76th International convention, Banaras, December 28, 1951.



The suffering of the world provokes the problem of philosophy and religion. Generally, all the spiritual traditions of India emphasise redemption—to seek an escape from life as we live it on earth. Indian thinkers are pessimists in so far as they look upon the world-order as an end and temporality; they are optimist since they feel that there is a way out of it into the realm of truth, which is also Goodness and Bliss. To live consciously in the finite alone is to live in bondage, with ignorance and egoism, suffering and death. The whole world is a prey to ignorance, and so it suffer from the monarch to the mendicant, from the creeping thing of the earth to the shining deva of heaven, everything suffers. "There are five things which no Samana and no Brahmana and no god, neither Mār, nor Brahmā, nor any being in the universe can bring about; that which is subject to decay should not decay, that what is liable to pass away should not pass away."<sup>1</sup>

Spiritual awakening in the aspirant proceeds on the assumption that empirical existence is a form of alienation or fall from our true and original state. By accepting the influence of prevailing evil, it requires to transcend empirical limitations; to return to the original state of sinless purity and eternal Good. What our afflicted and frustrated selves want is a sublime touch of the divine which transforms human life into a life of divine. Bondage does not mean really fallen state. Had it been a fall, in real sense, what guarantee is there that we shall not fall again and again? This is what the contention of Advaitism is that we are not fallen at all. We are by nature divine and nothing can change that nature. Only our embodiedness, which itself is a result of ignorance, has veiled this nature and made it appear different from what it really is. Avidya or natural tendency to adhyāsa, is involved in the very roots [of our being, and is another name for our finitude. The real is its own explanation. "Bondage consists in the conceit bestowed by Jiva on the host of things, pleasurable and painful, that constitute the illusory world; and release is attained through knowledge that discriminates things eternal from the non-eternal, through the intuitive experience of the oneness of the Jiva and Brahman."<sup>2</sup>

The higher we think the better we know the secrets of life. In awareness of the deeper aspects of life, the man reviews his existence as a whole. He aims at a final and total solution of all problems—it is man's ultimate concern (paramapurusārtha). The finite being is led to this review of his existence by a deeper and sustained sense of frustra-

1. Anguttara Nikāya, 11, oldenberg : Buddha, p. 217.
2. The philosophy of Advaitism : T. M. P. Mahadevan, p. 275.



tion. This is suffering, and it takes the form principally of disease, decay and death. The Buddha describes suffering graphically : "Birth is ill, decay is ill, sickness is ill, death is ill, to be conjoined to things which we dislike, to be separated from things which we like—that is also sorrow."<sup>1</sup>

The arrival of Sri Aurobindo in the field of Indian philosophy opens a new era. Sri Aurobindo has taken the problem of bondage and liberation in a wide and thoughtful sense. His position is unique in the sense that there is a peculiar combination of scientific evolution and scriptural testimony in his philosophical contribution. To him everything is dynamic but nothing is static. There is progress and evolution everywhere. Matter is transformed and the spirit is transmuted in the higher level. There is no absolute evil or error. The bondage is nothing but the misunderstanding of the reality—a distortion of mind, or the negligence towards the supreme delight which is *succidananda*. Life is not a dream or phantary but divine reality manifested and the universe is the manifestation of divine power in various forms.

In the *Life Divine*, Sri Aurobindo rejects the Advaita conception of *Māyā* as itself false and as giving rise to false appearance. "In India the philosophy of world-negation has been given formulations of supreme power and value by two of the greatest of her thinkers, Buddha and Sankar."<sup>2</sup> "A theory of *Māyā* in the sense of illusion or unreality of cosmic existence creates more difficulties than it solves; it does not really solve the problem of existence, but rather renders it for ever insoluble. For, where *Māyā* be an unreality or a non-real reality, the ultimate effects of the theory carry in them a devastating simplicity of nullification ..... The theory of illusion cuts the knot of the world problem; it does not disentangle it; it is an escape, not a solution; a flight of the spirit is not a sufficient victory for the being embodied in this world of the becoming; it effects a separation from Nature, not a liberation and fulfilment of our nature."<sup>3</sup> Sri Aurobindo holds that it is for bliss and out of bliss that *Saccidananda* manifests the cosmos. As consciousness is inherent and involved in the whole of existence, so bliss is also present in all the aspects of existence and consciousness. Our psychic being or soul is the eternal and immortal portion of the principle of the Bliss. The existence of pain and evil does not, according to Sri Aurobindo, contradict the

1. *Samyutta-Nikāya*, Part II; (*Nidāna-vagga*; XV. 3; *Asu-sutta*, pp. 179-180.)

2. *The Life Divine*, Volume II, 147.

3. *Ibid*, p. 208-209, 211.



universality of Bliss. They are only a mode of manifestation of Bliss. Sri Aurobindo has magnificently expressed it in the epic Savitri thus :

"Bliss is the secret stuff of all that lives,  
Even pain and grief are garbs of world delight,  
That hides behind thy sorrow and thy cry."<sup>1</sup>

Evil and falsehood are the puzzling problems of our life. The relativity of truth and error, good and evil is the valuation of human experience and arises due to man's imperfect knowledge and partial ignorance. So they cannot have their being in Divine Personality or in Supreme Nature. For, "when truth exists as a whole on a basis of self-awareness, falsehood cannot enter and evil is shut out by the exclusion of wrong consciousness and wrong will and their dynamisation of falsehood and error."<sup>2</sup> Human being by getting out of these good and evil can emerge into Supreme Good which is eternal. As Prof. S. K. Maitra puts it, "Thus the presence of evil and pain in no way contradicts the universal principal of Bliss which is the motive force of the whole universe."<sup>3</sup> According to Sri Aurobindo, the world of common human being is based on an original inconscience. Consciousness here presents itself in the form of an ignorance endeavouring for knowledge. Aurobindo feels that man and man alone is himself responsible for his defeat and finitude in this world. For man recognises the essential duality between conscient and inconscient, between God and the world, between knowledge and ignorance and thus goes against the divine ideal. As he states, "Admittedly we start here from conditions which are the opposite of the ideal divine Truth and all the circumstances of the opposition are founded upon the being's ignorance of himself and of the self of all, outcome of an original cosmic. Ignorance whose result is self limitation and the founding of life on division in being, division in consciousness, division in will and force, division in the light, division and limitation in knowledge, power, love with, as consequence, the positive opposite phenomena of egoism, obscuration, incapacity, misuse of knowledge and will, disharmony, weakness and suffering."<sup>4</sup> Both these principles of knowledge and ignorance are present in the universe. A natural transformation into each other is possible for them. Ignorance aspires and gradually

1. Savitri, Part II. Book VI. canto 11, p. 98. First completed 1951.
2. The Life Divine, p. 715.
3. The Philosophy of Sri Aurobindo : Prof. S. K. Mitra, p. 9.
4. The Life Divine, Vol II. part I. pp. 577-78.



transforms itself into the knowledge which is lying embedded in it. "In fact, what is happening is that the Ignorance is seeking and preparing to transform itself by a progressive illumination of its darkness into the knowledge that is already concealed within it."<sup>1</sup> Thus, it is quite apparent that human bondage is the product of ignorance which has been beautifully described by Sri Aurobindo in his epic thus :

"Where Ignorance is, there suffering too must come;  
Thy grief is a cry of darkness to the Light;  
Pain was the first-born of the Inconscience,  
Which was the body's dumb original base."<sup>2</sup>

According to Sri Aurobindo, man suffers from a seven-fold ignorance, namely; the original, the cosmic, the egoistic, the temporal, the psychological, the constitutional and the practical. We are ignorant of the true nature of the Absolute. The Absolute is the source of all Being and Becoming, but we consider some partial aspects of being or some temporal relations of becoming as the whole truth of existence. This is, according to Sri Aurobindo, the first, the original ignorance. The second, the cosmic ignorance, consists in our being ignorant of the true nature of the immobile, immutable, spaceless, timeless and impersonal self and considering the phenomenal or the cosmic becoming in time and space as the whole truth of existence. Similarly, the egoistic ignorance consists in our being ignorant of our universal self, the cosmic-existence, the cosmic-consciousness, our unity with all the beings and considering ourselves as phenomenal creatures, the egoistic being possessed of a limited mentality, vitality and corporeality. The temporal ignorance is due to our being helplessly identified with this body, with this life and being ignorant and forgetful of our past lives, of our eternal becoming in time. Even in this body, we are only aware of our surface consciousness, our phenomenal existence and are utterly ignorant of our large and complex being, of our superconscient, subconscient, and subliminal spheres of consciousness and existence. This is the fifth, the psychological ignorance. The sixth, the constitutional ignorance consists in regarding the mind, life or body or any two of these or all the three as the essential truths of our being and 'losing sight of that which constitutes them and determines by its occult presence and is meant to determine sovereignty by its emergence their operation'. Thus, on account of this manifold ignorance, we fail to be in harmony with

1. The Life Divine, p. 593.

2. Savitri : Sri Aurobindo, Book six, canto two, p. 502.



all the beings. We grope blindly in a maze of darkness and ignorance. This is the seventh, the practical ignorance.<sup>1</sup>

In the light of the above dissertation, it is apparent that the presence of pain and suffering is not an insurmountable obstacle in the way of the universal principle of bliss which lies at the root of all existence and constitutes its essence. The principle of Bliss which is present in a dormant condition in the earth-consciousness at the present stage will manifest itself ultimately, according to Sri Aurobindo, after the supramental transformation has taken place. Then the world of pain and evil will be transformed into the world of bliss. The vedantic call the world the Lila ( play ) of the Divine. "World-existence, observes Sri Aurobindo," is the ecstatic dance of Siva which multiplies the body of the God numberlessly to the view, it leaves that while existence precisely where and what it was, ever is and ever will be, its sole absolute object is the joy of the dancing."<sup>2</sup>

But the man, in Sri Aurobindo's view, is not a helpless puppet nor he is an aimless wanderer in the desert or in fruitless dream. He is not destined to remain confined within the narrow walls of the above-mentioned many-sided ignorance. This many-sided ignorance is destined to be transformed and transmuted into many-sided spiritual bliss. We repeatedly witness the golden rays of optimism and growth in the philosophical contribution of Sri Aurobindo. The Supreme spirit puts on the garb of ignorance in order to enjoy the pleasures of self-discovery. "It is to be found himself in the apparent opposites of his being and his nature", observes Sri Aurobindo, "that Saccidananda descends into the material Nescience and puts on its phenomenal ignorance as a superficial mask in which he hides himself its own conscious energy, leaving it self-forgetful and absorbed in its works and forms."<sup>3</sup> The greater the resistance put by the material and in-conscient nature, the greater the joy the spirit attains in the course of its self-discovery. "Not to return as speedily as may be to heavens," says Sri Aurobindo, "where perfect light and joy are eternal or to the supracosmic bliss is the object of this cosmic cycle, nor merely to repeat a purposeless round in a long unsatisfactory grove of ignorance, seeking for knowledge and never finding it perfectly,—in the case the ignorance would be either an inexplicable blunder of the All-conscient or a painful and purposeless necessity equally inexplicable,—but to realise the Ananda of the self

1. Quoted in Integral Advaitism of Sri Aurobindo : Dr. R. S. Misra from *The Life Divine*, Volume II. Part I., p. 211.

2. *The Life Divine*, Vol. I., p. 100.

3. *Ibid*, p. 361.



## 1972 ] CONCEPT OF HUMAN BONDAGE &amp; AUROBINDO 159

in other condition than the Supra-cosmic, in-cosmic being, and to find its heaven of joy and light even in oppositions offered by the terms of an embodied material existence, by struggle therefore towards the joy of self-discovery, would seem to be the true object of the birth of the soul in the human body and of the labour of the human race in the series of its cycles."<sup>1</sup> In this way, Sri Aurobindo does not regard ignorance as a "blunder and a fall, but a purposeful descent, not a curse, but a divine opportunity."<sup>2</sup>

The physical imperfections and cravings, or the material dissatisfactions, are not the only causes of human bondage. But on the contrary, the finite being feels an unquenchable thirst for spiritual awakening and divine bliss. Sri Aurobindo observes, "the animal is satisfied with the modicum of necessity, the gods are content with their splendours. But man cannot rest permanently until he reaches some highest good. He is the greatest living being because he is most discontented, because he feels most the pleasure of limitations. He alone, perhaps, is capable of being seized by the divine frenzy for a remote ideal."<sup>3</sup>

The spiritual progress of man is based on morality. Life is an eternal quest after perfection. In the philosophy of Shri Aurobindo, the human being, the universe and God, are three forms of the same reality—Existent, Conscious and Blissful. The supreme end of human being is to realise that Reality. Thus, the ultimate end, according to the moral philosophy of Sri Aurobindo is God-realisation. This is, no doubt, the sole criterion of Good and right. "All takes new values not from itself, but from the consciousness that uses it, for there is only one thing essential, needful, indispensable, to grow conscious of the Divine Reality and live in it and live it always."<sup>4</sup> In the spiritual progress of man morality is a stepping-stone but not a stopping place. 'The pilgrim's progress' goes on ceaselessly from gross to subtle and limited to limitless. Sri Aurobindo points out, "there could begin a heightening of our force of consciousness being so as to create a new principle of consciousness, a new range of activities, new values for all things, a widening of our consciousness and life, a taking up and transformation of the lower grades of our existence, in brief, the whole

1. The Life Divine, p. 362.

2. Ibid, p. 362.

3. Ibid, p. 46.

4. Sri Aurobindo : The Riddle of this world, Arya Philosophy House, Cal. ( 46 ) pp. 49-50.



evolutionary process by which the spirit in Nature creates a higher type of being."<sup>1</sup> Being an optimist interpreter of Reality and Truth, Sri Aurobindo has unshakable confidence in the concept of evolution and believes that humanity is proceeding through a progressive evolution towards a divine realisation on the earth. "Aurobindo has interpreted," Haridas Chaudhuri says, "human evolution in the light of the Divine Will to Self-manifestation, and has focussed attention upon the supra-human possibility of human progress."<sup>2</sup> Sri Aurobindo has explained the process of evolution in scientific way. The evolution is made possible by the process of involution. The descent of the spirit into Matter, Life and Mind can ascend in a gradual way to the higher stages of the spirit. In each step of ascend, the previous lower grades are transformed and raised to that higher level. As Prof. S. K. Maitra explains, "Integration thus implies a descent of a higher principle into all the lower ones; in fact, it is ascent through descent."<sup>3</sup>

Sri Aurobindo does not maintain that avidya or bondage is an essential and integral part of human consciousness. As he is an optimist, he suggests the remedy. He is not a mystic in its conventional form, but on the contrary, he says that human knowledge is not confined to the phenomena only but it can transcend and know the reality underlying it. Like positivist thinkers of the western trends, he believes not in the limitations of human reasoning and psychological interpretations, but has faith in intuitive and supra-relational insight. He proclaims that there are levels of consciousness higher than that of mind; and man can reach those higher levels of consciousness and existence individually as well as collectively in the course of evolution.



- 
1. The Life Divine, American Edition, p. 644.
  2. Haridas Chaudhuri : Sri Aurobindo—The Prophet of Life Divine, preface, p. VI.
  3. Dr. S. K. Maitra : An Introduction to the Philosophy of Sri Aurobindo, p. 66.



## अरविन्द-दर्शन में अतिमानसिक सत्ता

अञ्जनी कुमार सिंह

अतिमानसिक सत्ता या दिव्य मानव का श्री अरविन्द-दर्शन में आत्यधिक महत्व है। मनुष्य की चेतना के इतिहास में अतिमानसिक सत्ता का आविर्भाव एक अवश्यंभावी कदम है। इसीलिए श्री अरविन्द ने अपने सम्पूर्ण दार्शनिक वाङ्मय में इस तत्त्व का विस्तार-पूर्वक यथातथ्य निरूपण किया है। किन्तु इस निरूपण के साथ ही वे एक सीमा का भी निर्देश करते हैं। उनके अनुसार इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि अतिमानसिक सत्ताओं के विषय में हमारी भाषा का कोई भी वर्णन व्यर्थ और अनुचित होगा क्योंकि अतिमानस और मानस के बीच एक खाई (अन्तराल) है। अतः जब तक हम अतिमानसिक स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक हम पूरी तरह से इसके विषय में कुछ भी नहीं कह सकते। केवल अतिमानस और मानस के बीच के भेद के आधार पर ही (अर्थात्) अधिमानस (Overmind) के स्तर से हम इसके सम्बन्ध में एक हल्की-सी रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं। यहाँ ब्रैडले के इस कथन का महत्व समझ में आता है, जब वे कहते हैं कि यद्यपि दर्शन परम सत् की एक सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत करने में अवश्य सक्षम है तथापि इसका विस्तृत विवरण असंभव है।<sup>1</sup>

श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि की अभिव्यक्ति के मार्ग में, क्रमिक विकास की धारा में, दिव्य मानव का आगमन अनिवार्य (Inevitable) है। उनका मत है कि ब्रह्म सृष्टि करते समय अपने आपको सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और भू-इन सात तत्त्वों या लोकों के रूप में प्रकट करता है। इन सात तत्त्वों में से प्रत्येक के भीतर दूसरे समस्त तत्त्व अन्तर्लीन अवस्था में विद्यमान रहते हैं और फिर वहाँ से विकसित हो सकते हैं। हमारे भूलोक के भौतिक तत्त्व में प्राण अन्तर्लीन था जो प्राणमय लोक से प्राण के अवतरण होने पर विकसित हुआ, जिससे वनस्पति की सृष्टि हुई। फिर मनोमय लोक से अर्ध-चेतन मन के अवतरण होने पर यहाँ पशु जगत् की सृष्टि हुई और सचेतन मन के अवतीर्ण होने पर मनुष्य की सृष्टि हुई। हमारे इस सचेतन मन से ऊपर अतिमन या विज्ञान तत्त्व है। उसका अवतरण अभी तक पृथ्वी पर नहीं हुआ था। उसका अवतरण होने पर मनुष्य के मन, प्राण और शरीर दिव्य हो सकते हैं। मनुष्य जाति देव जाति के रूप में और पृथ्वी लोक स्वर्ग के रूप में परिणत हो सकते हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द ने यह दिखला दिया है कि मनुष्य जीवन तक पहुँच कर ही इस पृथ्वी में सृष्टि की अभिव्यक्ति की धारा समाप्त होगी। मनुष्य के

1 Although philosophy should be in a position to give a general outline of the nature of the Absolute, yet a detailed description of it was impossible.—The Philosophy of Sri Aurobindno : S. K. Maitra, p. 57.



बाद इस दुनिया में होगी दिव्य मानव या अतिमानस लोक की अभिव्यक्ति । हमारे इस मानवाधार को अवलंबित तथा इसे अपने विकास की धारा में रूपान्तरित करता हुआ मर्त्य में प्रमूर्त होगा अतिमानस लोक । और इसी अतिमानस लोक की अभिव्यक्ति से दिव्य मानव आविर्भूत होगा ।<sup>१</sup> जैसे, एक दिन प्राण-स्तर ( पशु ) जगत् के ( Vital Plane ) की अभिव्यक्ति के उपरान्त मानसलोक ( Mental Plane ) ने मर्त्य में आविर्भूत होकर वानर जाति के किन्हीं जीवों ( जो मेरुदण्ड के बल पर खड़े होने की कोशिश कर रहे थे एवं जिनमें मेधा—Brain cells, grey matter—की सृष्टि की व्यवस्था हो चुकी थी ) का अपने विकास की धारा में रूपान्तरित करते हुए सृजन किया है, उसी तरह किसी शुभ मूर्तमें अतिमानस लोक भी इस पृथ्वी पर उपयुक्त मानवीय आधार में आविर्भूत होकर उसे रूपान्तरित करता हुआ मानवीय गुण-दोष से रहित एक बिलकुल निराले ढंग से उस आधार को रचेगा । अतिमानस लोक के विकास के छन्द से रूपान्तरित होने के कारण उस मानवीय आधार का नाम होगा दिव्य मानव । सम्पूर्ण मानवीय दोषों, त्रुटियों तथा दुर्बलताओं से मुक्त दिव्य मानस का वह जीवन पूर्ण ज्ञान से प्रदीप्त, सर्वशक्तिमान, परम आनन्दमय, रोग-जरा मृत्युहीन तथा अमृतमय भागवत विग्रह होगा । और इस दिव्य मानव के माध्यम से ही भगवान् अपने महान् प्रकाश से सृष्टि को सार्थक करेंगे ।

किन्तु सिर्फ शरीर और मन के उत्कर्ष-साधन द्वारा ही मनुष्य कभी दिव्य मानव नहीं हो सकेगा । श्री अरविन्द कहते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने प्रयत्न से मनुष्य से अधिक कोई चीज नहीं बन सकता । मनोमय सत्ता अपनी अकेली शक्ति से अपने को अतिमानसिक व्यक्तित्व में रूपान्तरित नहीं कर सकती । केवल दिव्य प्रकृति का अवतरण ही मानव-आधार का दिव्य रूपान्तर साधित कर सकता है । क्योंकि हमारे मन, प्राण और शरीर की शक्तियाँ उनकी अपनी सीमाओं से बद्ध हैं और वे चाहे जितनी ऊपर क्यों न उठ जाय या उनका विस्तार कितना ही अधिक क्यों न हो जाय, वे अपनी सर्वोच्च स्वाभाविक सीमाओं से ऊपर नहीं उठ सकतीं । किन्तु फिर भी, मनोमय मनुष्य उस सत्ता और चेतना की ओर उद्घाटित हो सकता है जो उससे परे है और एक अतिमानसिक ज्योति सत्य और शक्ति का आवाहन अपने भीतर क्रिया करने और उस कार्य को सिद्ध करने के लिए कर सकता है जिसे मन नहीं कर सकता । यदि मन अपने प्रयत्न से वह चीज नहीं बन सकता जो मन से परे है, तो अतिमानस स्वयं नाचे उतर सकता है और मन को अपने निजी सत्त्व में रूपान्तरित कर सकता है ।<sup>२</sup>

इस प्रकार श्री अरविन्द ने अपने युगान्तकारी तथा महान् ग्रन्थ 'दिव्य जीवन' में अतिमानसिक सत्ता ( दिव्य मानव ) के आविर्भाव की व्याख्या करने में सृष्टि के विकास के अंतर्निहित रहस्य को बड़ी सुन्दरता से परिस्फुटित किया है । एक और स्थान पर अतिमानसिक तत्त्व की व्यापक अन्तर्व्याप्ति पर प्रकाश डालते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि अतिमानसिक तत्त्व सत्ता मात्र में गुप्त रूप में विद्यमान है । बल्कि यह अत्यधिक स्थूल

१. श्री अरविन्द का योग : विजयकान्त रायचौधरी, पृ० ४-५ ।

२. पुरोधा, अक्टूबर ७१, पृ० ७ ।



1972 ]

अरविन्द-दर्शन में अतिमानसिक सत्ता

163

भौतिक सत्ता में भी है, यह अपनी गुप्त शक्ति क्षीर विधान के द्वारा निम्नतर जगहों पर शासन करता है तथा उनकी रक्षा करता है, किन्तु वह 'शक्ति' अपने-आपको छुपाये रहती रहती है और वह 'विधान' भी हमारी भौतिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृति के निम्नतर नियम की सीमित दुर्बलताओं और पंगु विकृतियों के द्वारा अपना कार्य अलक्षित रूप में ही करता है।<sup>१</sup> तो भी निम्नतम भागों में उसकी नियामक उपस्थिति सत्ता मात्र को एकता के कारण हमें इस बात का आश्वासन देती है कि उनके अन्दर जागृति की संभावना मौजूद है, बल्कि इसकी भी सब आवरणों और हमारी प्रत्यक्ष दुर्बलताओं तथा हमारे मन, प्राण और शरीर की असमर्थता अथवा अनिच्छा के होते हुए भी वे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो सकते हैं। कुछ संभव है वह एक दिन घटेगा ही, क्योंकि यही सर्वशक्तिमान आत्मा का विधान है।<sup>२</sup>

प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन परम्परा में अतिमानव की कल्पना का व्यवहार मुख्य रूप से श्री अरविन्द और नीत्शे के दर्शन में देखने को मिलता है। नीत्शे ने अतिमानव की कल्पना को जैसा विस्तार दिया है उससे अतिमानव मनुष्य का ही एक बड़ा संस्करण प्रतीत होता है। किन्तु अतिमानव की यह प्रस्तुति श्री अरविन्द के 'दिव्य मानव' से मेल नहीं खाती। श्री अरविन्द का दिव्य मानव कोई ऐसा मनुष्य नहीं होगा, जिसमें नीत्शे के अतिमानव की भाँति असाधारण योग्यताएँ और क्षमताएँ होंगी या वह अपने से कम भाग्यवान् लोगों से अपनी शक्ति के बल पर बहुत ऊँचा रहेगा; बल्कि वह 'दिव्यमानव' एक ऐसा दिव्य पुरुष होगा, जिसमें मन, प्राण और शरीर की पूरी क्षमताएँ खिली होंगी और जो प्रकृति के शासन में न रहकर आत्मा की स्वाधीनता में रहता हुआ प्रकृति को चलायेगा। एक अर्थ में वह स्वयं अपना स्वामी होगा; जिसे हम स्वराट् कह सकते हैं।

यथार्थ में नीत्शे के अतिमानव का आदर्श जगत् में किसी नवीन गुण-सृष्टि का नहीं, बल्कि वह सिर्फ मनुष्य के गुण-दोषों के एक विवर्द्धित रूप का आभास देता है। मनुष्य की शक्ति तथा गुणों की वृद्धि के साथ ही उसके अहंकार तथा भोग लालसा का एक उत्कृष्ट रूप उसे अमुर की कोटि में लाता है। श्री अरविन्द ने अपने योग के द्वारा उपलब्ध दिव्य दृष्टि में प्रतिभात होने वाले जिस दिव्य मानव की बात कही है, वह एक सम्पूर्ण पृथक् तथा नवीन वस्तु है। मनुष्य अपनी चेष्टा से, सम्यक् अनुशीलन से भले ही जितना शक्तिमान्, जितना सुन्दर क्यों न हो, फिर भी वह कभी दिव्य मानव नहीं बन सकेगा। वह मानवीय-स्तर ( Mental Plane ) में ही सीमित रहेगा। श्री अरविन्द कहते हैं एक नवीन सृष्टि की बात,—सृष्टि की धारा में पृथ्वी में मनुष्य के स्तर— मानस स्तर के पश्चात् अतिमानस ( Supramental ) की अभिव्यक्ति की बात; पृथ्वी की प्रगति के मार्ग में अब तक जिन

१. तुलनार्थ द्रष्टव्य—'माता': श्री अरविन्द, पृष्ठ १२।

इसी बात को गीता में इस प्रकार कहा गया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।२५।

२. श्री अरविन्द अंतरराष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका, अगस्त ७३, पृ० १३।



सब गुणों का विकास हुआ है, उन सबों के अतिरिक्त गुणों की एक नये प्रकार की व्यञ्जना की बात। किन्तु कोई भी मानवीय चेष्टा इसे नहीं सफल कर सकती। जब मागवत निर्देश तथा मनुष्य की तीव्र असीप्सा के फलस्वरूप वह अतिमानस लोक मर्त्य में मूर्त्त होने के लिए इस जड़ पृथ्वी पर अवतीर्ण होगा, सिर्फ तभी योग्य मानवीय आधार को अपने विकास की धारा में रूपायित करता हुआ वह दिव्य मानव का निर्माण करेगा। इस प्रकार श्री अरविन्द का दिव्य मानव केवल कवि-दृष्टि में प्रकट होने वाला एक उज्ज्वल आदर्श मात्र ही नहीं है, बल्कि वह भावी मानवता की एक दिव्य जाति है। यह दिव्य मानव नीत्शे द्वारा कल्पित अतिमानव से अत्यन्त भिन्न है। दिव्य मानव का जीवन उसी तरह नहीं होगा जिस प्रकार भोग की आकांक्षा से पूर्ण और सबका नाश करके अपनी परितृप्ति तथा बुद्धि में प्रयत्नशील नीत्शे के अतिमानव का है। यह रोग, जरा तथा मृत्यु के ग्रास से मुक्त वह दिव्यकांति, ज्ञानदीप्त, अमृतमय दिव्य मानव है जिसकी नीत्शे की कल्पना में कोई झलक भी नहीं मिलती।

श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि के विकास क्रम में जब अतिमानसिक चेतना का अवतरण होगा तब मन, प्राण और शरीर के अन्दर अभूतपूर्व रूपान्तरण साधित होगा। और इस रूपान्तरण के फलस्वरूप मानव सत्ताएँ अतिमानसिक सत्ताओं के रूप में रूपान्तरित हो जायेंगी। इस तरह अतिमानसिक सत्ताएँ वे सत्ताएँ होंगी, जिन्होंने अपने अज्ञान का समाप्त कर लिया होगा और जो ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होंगी। Gnostic beings who have shed all ignorance and are illumined by the light of knowledge.<sup>1</sup>

श्री अरविन्द के अनुसार अतिमानसिक चेतना के प्रभाव से एक शक्तिशाली सामञ्जस्य के सिद्धान्त का अवतरण होगा। जीवन को विषमताएँ, संघर्षों की टकराहट और अदृश्य शक्तियों की असंतुलित क्रियाओं के व्यापारों पर इसका प्रभाव पड़ेगा। एक क्रमिक व्यवस्था का जीवन प्रारम्भ होगा। अंधकार और प्रकाश की शक्तियों का युद्ध समाप्त हो जायेगा और क्रमशः उच्चतर चेतना का प्रकाश विजयी होगा।

यहाँ एक प्रश्न है कि अतिमानसिक अवतरण के बाद क्या अतिमानसिक सत्ताएँ एक ही तरह की होंगी? श्री अरविन्द का उत्तर निषेधात्मक है। उनके अनुसार अतिमानसिक अवतरण के बाद सृष्टि से भेदों की समाप्ति नहीं हो जायेगी, बल्कि जिन वैयक्तिक आत्माओं में अतिमानसिक चेतना का अवतरण होगा वे ही अपने सीमित स्वरूप का परित्याग करके एक अधिक उच्चतर जीवन में अवस्थित हो सकेंगे;<sup>2</sup> और इन अतिमानसिक सत्ताओं में कोई भी दो सत्ताएँ एक तरह की नहीं होंगी। उनमें भेदता में अभेदता निवास करेगी, यद्यपि उनमें चेतना का स्तर समान होगा।

अतिमानसिक सत्ताएँ आध्यात्मिक पुरुष की चरम परिणति होंगी। अतिमानसिक सत्ताएँ एक सार्वभौमिक आध्यात्मिकता से संचालित होंगी। सभी सत्ताएँ अतिमानसिक

१. दि लाइफ डिवाइन, अमरीकी संस्करण, अ० २७।

२. दि लाइफ डिवाइन, पृ० ८६२।



सत्ताओं के लिए आत्म रूप होंगी और चेतना की सारी शक्तियाँ और मार्ग अतिमानसिक सत्ताओं की सार्वभौमिकता की शक्तियाँ और मार्ग होंगे। अतिमानसिक सत्ताएँ जगत् में और जगत् के लिए होंगी लेकिन वे अपनी चेतना में जगत् का अतिक्रमण करने वाले भी होंगी। अतिमानसिक सत्ताएँ सार्वभौमिक होते हुए भी सृष्टि के नियमों से स्वतन्त्र होंगी और वैयक्तिक होते हुए भी पृथक्कृत वैयक्तिकता ( Seperative Individuality ) की सीमाओं से मुक्त होंगी।

प्रश्न है कि अतिमानसिक सत्ताएँ किस प्रकार कार्य करेंगी ? श्री अरविन्द कहते हैं कि अतिमानसिक सत्ता का सम्पूर्ण चैतन्य, उसकी सम्पूर्ण संकल्प-शक्ति एवं उसके सम्पूर्ण कार्य विश्व चैतन्य, विश्व संकल्प-शक्ति एवं विश्व कार्य के साथ एकाकार हो जायेंगे। जिस प्रकार हमें अपने अहंकार के कारण परस्पर संगतिपूर्ण व्यवहार करने में कठिनाई होती है, उस प्रकार अतिमानसिक सत्ताओं को अपने और दूसरों के साथ सामञ्जस्यपूर्ण व्यवहार में कोई कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि उनमें अहंकार नहीं होगा। अतिमानसिक सत्ताओं की वैयक्तिकता और सार्वभौमिकता में कोई विरोध नहीं होगा। क्योंकि ये दोनों एक ही परम तत्त्व सच्चिदानन्द की अन्तरावलम्बित अभिव्यक्तियाँ हैं।

अतिमानसिक सत्ताओं का अनुभव सम्पूर्ण विश्व का अनुभव और सम्पूर्ण विश्व का अनुभव अतिमानसिक सत्ताओं का अनुभव होगा। अतिमानसिक सत्ताएँ जागतिक चेतना ( Cosmic consciousness ) को धारण करेंगी, जिसके फलस्वरूप सारा वस्तुनिष्ठ जीवन उनके लिए व्यक्तिनिष्ठ जीवन बन जायेगा और वे सभी वस्तुओं में भागवत उपस्थिति का समान रूप से अनुभव करेंगी।

अतिमानसिक सत्ताओं के अस्तित्व का उनके होने के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं होगा, उनकी चेतना का अपने अस्तित्व के प्रति सचेतन होने के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं होगा, तथा अपनी सत्ता के आनन्द का आनन्द के अतिरिक्त और कोई अभिप्राय नहीं होगा। अतिमानसिक सत्ता के लिए प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व केवल अपनी आत्मा को पाना, आत्मा के द्वारा पाना और आत्मा में पाना होगा।

अतिमानसिक सत्ताओं की चेतना और शरीर का सम्बन्ध भी वैयक्तिक आत्माओं की चेतना और शरीर के सम्बन्ध से भिन्न होगा। हमारे अन्दर शरीर आत्मा के कार्य का एक यन्त्र है किन्तु यह शरीर आत्मा की आज्ञाओं को मानते हुए भी आत्मा के कार्य को सीमित कर देता है। अन्य शब्दों में आत्मा हमारे शरीर के नियमों को पूरी तरह से शासित नहीं कर पाती लेकिन अतिमानसिक सत्ताओं में आत्मा का संकल्प सीधे शरीर की गतिविधियों और नियमों को संचालित करेगा। अतिमानसिक सत्ताओं में आध्यात्मिक शक्ति का गत्यात्मक प्रभाव प्रवाहित होता रहेगा,<sup>१</sup> और इस शक्ति के द्वारा अतिमानसिक सत्ताएँ शरीर का सही और उसके पूरे अर्थों में आत्मा के कार्यों में उपयोग करेंगी।

१. दि लाइफ डिवाइन, पृ० ८६७।



श्री अरविन्द ने अपनी पुस्तक 'दिव्य जीवन' में अतिमानसिक सत्ताओं के विषय में चर्चा करते हुए लिखा है कि अतिमानसिक चेतना के अवतरण से पृथ्वी पर 'स्वर्ग' का राजा स्थापित होगा और अतिमानसिक सत्ताओं के द्वारा सामञ्जस्य और एकता का सामूहिक जीवन यापन होगा। यहाँ यह प्रश्न प्रसंगतः उपस्थित हो सकता है कि क्या अतिमानसिक चेतना के अवतरण से पृथ्वी की समस्त वैयक्तिक आत्माएँ अतिमानसिक सत्ताओं के रूप में रूपान्तरित हो जायेंगी। श्री अरविन्द कहते हैं कि ऐसा नहीं होगा। अतिमानसिक चेतना को केवल वही ग्रहण कर सकेंगे, जिन्होंने इसके लिए समुचित अभ्युत्सा और प्रयत्न किया होगा। अतः अतिमानसिक चेतना का अवतरण पहले से तैयार किये गये आधार में ही संभव हो सकेगा। जिन्होंने इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है। वे सामान्य ही रहेंगे। इस सन्दर्भ में यह दृष्टान्त रोचक होगा कि जैसे बानर की एक विशेष जाति विकसित होकर मनुष्य बन गई लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि सभी बानर मनुष्य हो गए। उसी तरह मनुष्यों में जो मन, प्राण और शरीर की चेतना का अतिक्रमण करके अतिमानस तत्त्व तक पहुँचने का प्रयत्न करेंगे, कालान्तर में केवल उन्हीं का रूपान्तरण साधित हो सकेगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होगा कि अतिमानसिक चेतना के अवतरण से समस्त मनुष्य जाति अतिमानसिक हो जायेगी। जैसे मनुष्यों के होते हुए भी बानर शेष हैं, उसी प्रकार अतिमानसिक सत्ताओं के होते हुए भी वैयक्तिक आत्माएँ शेष रहेंगी।

अन्त में 'दिनकर' जी के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि श्री अरविन्द-दर्शन की सबसे बड़ी क्रान्तिकारी कल्पना के अनुसार मनुष्य जाति का रूपान्तरण अध्यात्मजीवी जाति अथवा 'नास्तिक बीग' के रूप में किया जा सकता है और मनुष्य जिस सुख-शान्ति एवं आनन्द को स्वर्ग में उपलब्ध मानता है वह इसी पृथ्वी पर, इसी जीवन में भोगा जा सकता है और समस्त पृथ्वी आध्यात्मिक चेतना से पूर्ण बनायी जा सकती है।<sup>१</sup>

---

१. विशेषतः द्रष्टव्य एवं पठनीय—'चेतना की शिखा' ('खोई हुई कड़ी का संधान'),  
—डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'



## THE ROLE OF REASON IN LIFE ACCORDING TO SRI AUROBINDO

Sudha Srivastava,

Research Scholar, Center of Advanced Study in Philosophy, B. H. U.

Man is distinguishable from all other terrestrial creatures, because of his power of mind i.e. the faculty to think and apply Reason. It is, therefore necessary for man to preserve this especiality for living a good life. It is so possible only by making the best use of our intellect and through applying the power of Reason in a good manner. In this reference, Sri Aurobindo very assertively says "that the power of 'Reason' alone can use the 'intelligent-will' for the ordering of the inner and outer life."<sup>1</sup> According to him 'Reason' is sovereign, being self-governing the highest developed faculty that a man possesses.<sup>2</sup> Man naturally is impelled to make the best use of it in this scientific age, where everything has to be looked into in a systematic and logical manner. It is through this power alone that the man is able to search the Laws of Nature and the Rules of his own life, as it is governed through Soul—the internal intuitive power.

It all depicts that normally in the day to day language the term 'Reason' is used in the sense of 'Reasoning', which is actually the 'Intellectual Reason' or the 'Finite Reason'. It is generally used in a 'Discursive Sense' i.e. to convey and change from one subject to another. However in the sense of Sri Aurobindo Reason denotes the 'Higher Reason' or the 'Spiritual Reason' originally termed by him as the 'Logic of the Infinite.'<sup>3</sup> or the 'Logos.' This Higher Reason transcends the discursive level and includes the aesthetic, cognitive and emotional levels of life aiming towards the Divine. Intellectual or the Material Reason which is finite in its character, is generally evolved through one's own instincts and impulses, and is mixed more with the sensuous aspects. It helps especially in disengaging the intellect from one work and putting it to another. But the Spiritual Reason which is infinite faculty present in man, helps especially in unveiling the hidden truth.

---

1. Sri Aurobindo : 'The Human cycle', p. 123.

2. Ibid, p 123.

3. Sri Aurobindo : The Life Divine, page 208. and Misra, R. S. : The Integral Advaitism of Sri Aurobindo; Chapter III.



It is in this background that Sri Aurobindo calls Reason "a Science, a conscious art and an invention. It is observation and can seize an arranged truth of facts; it is speculation and can extricate and forecast truth of potentiality. It is the idea and its fulfilment, the ideal and its bringing to fruition. It can look through the immediate appearance and unveil the hidden truths behind it. "So it is the servant and yet the master of all utilities."<sup>1</sup>

Reason in the sense of 'reasoning' is possessed by all. It helps to substantiate certain preconceived notions and ideas in the interest of human life. This helps the individual to move further accordingly. For example : it is by the power of 'reasoning' that a publisher is able to explain the things of his own interest to the society in his own way. Here, in this sense it is serving as an instrument for the living of our human existence. Subjectively, this 'reasoning power' develops man's self-consciousness, which helps in knowing, modifying, developing, utilizing, and consciously experimenting the things of Nature. It mainly tries to fulfill the need of action, but only the part of it and not the whole. In the sphere of instinct too, the 'reasoning power' is helpful, however, even there it acts as a Servant of the already prevalent thoughts of Life.

Therefore, for entering into the working of deeper actions and in the realm of Religion, where normal 'reasoning power' fails, the Soul enters in its natural functioning—"a free, rational, intelligently co-ordinating, intelligently self-observing, intelligently-experimenting, mastery of the workings of force by the Conscious Spirit."<sup>2</sup> Then at this stage the Higher Reason starts functioning and behaves in a dispassionate and disinterested manner towards material life. It comes out interested in the purpose of seeking the Truth. It neither explores nor sticks to the false knowledge developed by the power of 'reasoning.' As such, Reason here acts like the Master or Governor of Life, named as the spiritual Reason or Logic of the Infinite.

Logic of the infinite is the result of a developed higher state of mind, which is achieved by divinely internal inspiration. Man's intuitive faculty is developed, which props the Higher Reason of the individual to get in search of the Truth. This developed Reason controls impartially the short-sighted selfishness in the interest of the larger society. The Higher Reason serves on the plane of 'Logos', but the finite conditions

- 
1. Sri Aurobindo : 'The Human Cycle', page 126-121.
  2. Ibid, p. 126.



of existence hinder its full manifestation even though the individual may have attained the supramental level of consciousness. So the necessity is first to understand the limitations of the Material Reason i.e. of 'reasoning' and then to develop the Spiritual Reason in our ourselves.

As the things stand today, Religious Consciousness at some level is necessary part of our life; this inevitably means our positive concern with the transcendental or spiritual aspect of life. The very creation of life has its origin in divinely atmosphere, with the result it becomes necessary for all to have some Religious Consciousness. The Religious Consciousness includes all the three aspects of Existence viz, the infra-rational, supra-rational and the rational. So it is necessary to develop the supramental consciousness and thus understand the Logic of the Infinite. For Sri Aurobindo, "There is a logic in it, because there are relations and connections there is a logic in it, infallibly seen and executed."<sup>1</sup>

This consciousness is actually the result of the higher state of mind, because "the mystery of Reality and its process is revealed not in the plane of mind but in the higher plane of consciousness."<sup>2</sup> Finite consciousness can never be a measure of the Infinite, because the 'reasoning' power of this consciousness is based on our experience of the actions and reaction of the physical nature. Finite Reason cannot reconcile between one and many. Being and Becoming, Indeterminate and Determinate, and is thus confronted with contradictions. In these circumstances Sri Aurobindo looked for the 'Higher Reason' or the 'Logic of the Infinite' as that alone could guide the spiritual side of our life. Still Sri Aurobindo doesn't totally disvalue the Finite Reason, and accepts that "It is through the lower reason that we are to make an approach to the higher reason"<sup>3</sup> Thus in a man possessed of a brilliant intelligence and a good power of 'reasoning', the state of Supramental Consciousness or the Higher reason is easily acquired at the individual's wish. Actually man has the inborn capacity to transcend the limitations of sense experience, and attain the higher spiritual Supramental Consciousness, making it evident that both have their equal importance in their own spheres.

However, Sri Aurobindo warns us against accepting the sovereignty of the reason : Finite and Infinite, in the sphere of Religion. It is proved to be inadequate there. For example : Buddhism culminates in

1. Sri Aurobindo : 'The Life Divine', vol II, pt. I p. 42.

2. Misra, R. S. : The Integral Advaitism of Sri Aurobindo, p. 31.

3. Ibid, p. 57.



'Silence' ( Maun ) in the spiritual arena and Hinduism ends with Negation' ( Neti-Neti ), as reason cannot stretch itself to the limits required. It is in the background of this limitation of Reason that 'Faith' has to be universally acknowledged as the rival for Reason.<sup>1</sup> When both, the spiritual Reason and the Intellectual Reasons are baffled then 'Faith' steps in. As the emphasis on 'Faith' passes down through inheritance and traditions, it has made its important position in the sphere of Religion. Though its overdoing has necessarily to be controlled by Reason, it becomes a necessity in Religion because "it is widely felt that there is some greater godhead than the Reason."<sup>2</sup>

Faith can be categorised in two ways, viz. The Blind Faith and the Enlightened Faith. Blind Faith is not supported by reason and is irrational, whereas the Enlightened Faith is apparently beyond Reason, yet a person having strong 'reasoning power' may be of help with it in resolving the mystery of the Spiritual Life. Such effort and development is the 'Enlightenment' of our great saint Sri Aurobindo, whose life and thought is the best example of this achievement. He always kept an eye on the utility and limitations of Reason.

For Sri Aurobindo, Reason is too analytical, and tries to give us the indivisible truth of Life. To seek the Truth, it behaves in totally impartial way and doesn't favour any one for an immediate gain. After such a detailed analysis we can say that it is the use of Reason from our old hereditary that it can be used towards good and bad both. It is for the individual to make the choice; but is mostly affected by our traditional ideas and passions. Reason helps in purging all our impurities and infanities of Blind Faith and converting it into the Enlightened one. Aurobindo is of the view that though Faith in Faith is totologous, yet in some object like Religion and God etc. its presence with the support of the higher Reason is necessary. Thus it is evident that even with Faith, Reason has a great part to play in our Life as Governor of itself. It is the self governing factor which alone tells the limitations of our Life.

Further, Sri Aurobindo makes us aware of the fact that all the human understandings which have failed is because of the partial and confused application of Reason to Life. Even today people regard their rational ideas as the ultimate Truth and try to handle the complexities of Life with their assistance. They stumble at each step because of these finite and imperfect reasons having no spiritual support. To meet this difficulty

1. Sri Aurobindo : 'The Human Cycle', p. 127 on words.
2. Ibid, p. 128.



Sri Aurobindo advises to guide the 'reasoning power' by Intuitions—the internal inspiration. Sri Aurobindo explains that "Intuitive thought which is a messenger from the super-conscious, and therefore our highest faculty, was supplanted by the pure reason which is only a sort of deputy and belongs to the middle heights of our being."<sup>1</sup> These intuitions are the product of pure souls. So it is better if Reason moves according to the 'Will of the Soul'—which is an authority of the Godhead. It all makes evident that Reason is here taken neither in depreciatory sense nor even fully in appreciatory sense, as ultimately soul too expounds limitations to 'Reason'.

As such, vast truth lying behind the physical surface is difficult to be known, especially through the Material Reason. The Material finite Reason is not even able to bridge the gulf between the secular world and the spiritual world. Here, Sri Aurobindo is totally right when he emphasizes that Reason can act as mere servant of Life; whereas man's instinctive tendency is to climb higher and higher. Man wants to attain the perfection in Life i.e. attaining the ultimate Divine. As a result the Life moves according to its inherent traditions, and the Reason in attempt of going to the depth of the truth reaches far from the practical life and thus proves to be of no help.

Now it is clear that the proper correlation between the finite life and the Infinite Truth, is the only solution for resolving all the contradictions and acquiring fullness in Life. Sri Aurobindo is of the opinion that we must not be remained satisfied with the apparant 'reasoning power', which is finite. We must continue to make an attempt for attaining the Higher Reason, which if governs, will be very useful to our life especially for understanding the 'Perfect Knowledge.' "The ordinary mind in man is not truly the thinking mind proper, it is a life mind, a vital mind as we may call it, which has learned to think and even to reason but for its own ends and on its own lines, not on those of a true mind of Knowledge."<sup>2</sup> It is because of the finite mind that neither the 'intelligent will' nor the 'intellectual reason' is able to deal with life as 'Sovereign.' 'Life' to be sovereign, definitely includes the religious or the spiritual aspect. At this stage, therefore one has to the assistance of faith and apply the Spiritual Reason or ultimately take shelter in the Soul's faculty of 'intuitive inspiration.' So there is no more question of any rigid over all control by the Reason.

At the higher level of 'Logos,' Sri Aurobindo concludes : "the reason can govern, but only as a minister, imperfectly, or as a general

1. Sri Aurobindo : 'The life Divine', page 65.

2. Sri Aurobindo : 'The Human Cycle', page 130.



arbiter and giver of suggestions which are not really supreme commands, or as one channel of the sovereign authority, because that hidden power acts at present not directly but through many agents and messengers."<sup>1</sup> So man has first to grow beyond his rational mentality and then must gradually enter into the eternal communion with God's Supreme Will and Knowledge. Sri Aurobindo emphasizes that the man will have to bridge the gulf between secular and spiritual life, by developing the higher level of Reason and attaining the Supramental Consciousness. Man must also avoid the partial and confused use of the Reason; then he will be able to understand the 'Life' in 'Perfection.'

As such it is evident here, that Sri Aurobindo has the credit of using the term 'Reason' in much wider sense like that of Paul Tillich's 'Ontological Reason.' His introducing of the concept of 'Logic of the Infinite' is in itself the result of the clarity and confidence in his mind about the material and spiritual aspects of human life. Moreover, he tries to assimilate the best of all, yet not diverting from his basic 'Principle of Integration'. In short it can be said that Sri Aurobindo has tried to resolve the contradiction of the Material Reason of the west and the Spiritual Mystery of the East, by integrating the two planes of thought which to him, appears essentially complimentary to each other to realize the fullness in Life.




---

1. Sri Aurobindo : 'The Human Cycle', page 130.



## THE VEDANTIC VIEW OF MAN AND SRI AUROBINDO

R. C. Pradhan,

*Department of Philosophy, B. H. U.*

The Vedānta is perennial Philosophy of man. The ontological study of man is for it, a living issue. The Vedānta, the quintessence of Indian Wisdom, is a quest for Reality—'brahma-jijnāśā.' And It is also a quest for immortality—'amṛtatva' by man. It seeks the eternal significance and meaning of human existence. For it, man is a metaphysical reality, rather than a physical fact. And the Vedāntic wisdom consists in this unveiling of the metaphysical significance of man.

The Vedānta as seen by the ancient rishis is called 'brahma-vidyā'. And it is also 'ātma-vidya'—the metaphysics of self. So the Vedānta is essentially more a metaphysics of man, than anything else. For it, Philosophy is a study of human existence in the light of eternity. A Philosophy that lacks an insight into the depth of human existence, is, according to it, oblivious of its serious task. For those who reflect on the deepest problems of the human reality man is a problem and human existence, a mystery. Man, for the Vedāntin, is an enigma and a paradox. And, the mission of the Vedāntic Philosophy is unearthing the existential worth of man in the world of objectivity. But, this is not a scientific and objective study of man, since for the Vedānta, man's existence is a subjective truth, not an objective fact. Man, above all, is an ontological situation. Thus, there is a strong undercurrent of existentialistic thinking in the Vedānta, as formulated by the early seers of the Upanisad. But the later thinkers from Śāṅkara onwards, emphasised the objective aspect of the Vedāntic philosophy much to the loss of the proper study of man.

The existentialistic approach of the Vedānta refutes the naturalistic view of man, which makes man an object among other objects. For the naturalists and materialists, man is a thing, a referrable fact. But this view is a gross misunderstanding of truth and it degrades man into the level of objectivity. But, for the Vedānta, man is essentially a subject and an individual existence. Besides, above everything else, he is a spiritual existence. He is a living centre of spiritual reality. He is not a mere creation, but also a creator. He is not thrown off into the world as a thing of no significance. There is a meaning and a purpose in his existence.



Therefore, the Vedānta declares that man is the son of the Immortality (amṛtatva putrah). This means that man is a spiritual Being and he partakes of the immortality of the Divine. The rishis say that there is an inextinguishable spark of divinity in him, which may be dimmed for the time being, but can never be extinguished. For the Upanisad, the Divinity that is in man is also the Reality of the Universe. Man is 'Brahmah' himself—'tatvamasi.' Sankar's famous utterances 'Siyoham' and 'Aham brahmasmi' assert the same truth that, man is in essence Divine. The Vedantic insight, thus, unveils the 'amṛtatva' or immortality in man. According to it, there is a timeless element in man which defies time and supersedes the Nature.

But the idealistic humanism of the Vedānta is not a fantastic dream oblivious of the reality. For it does not forget the fact that man as found in the everyday world, is not the Divine man it visualises. But it only asserts that, man has infinite divine possibilities, which he can manifest if he desires so. Therefore, the Vedānta says that the man as found in the world, is a 'Jiva'—a bound creature of time. The 'Jiva' is a 'being-in-time'—finite and fettered. He is conditioned in the historicity of the world of time, since existence is grounded in the process of temporality.

Besides, man as bound in the historical necessity is also conditioned in the objectivity. So he is a 'being-in-world', a 'Dasein' and as result, loses the freedom of his subjectivity. The objective determination and necessity he is fettered to; is antithetical to his freedom. Therefore, freedom remains an unrealised dream in the world of time.

Again, man as bound to historical necessity, is subject to death. Temporality necessitates death, since everything that is in time must meet its doom. So man is confronted with an existential dread of death. He is acutely aware of the temporality of his existence. And, the Vedānta asserts with the Existentialists that this awareness of temporal character of existence makes man 'sick unto death', and threatens his existence with a prospect of meaninglessness. Therefore, Kierkegaard and Heidegger rightly point out that existence-in-time, suffers from a chronic agony of death, and nothingness.

This agony is the deep-rooted sorrow of man. Man, therefore, suffers and infinitely suffers. The Buddha's famous utterance that human existence is itself sorrowful, is a pointer to this fact. Thus, human existence is 'sick with time' and this sickness takes the form of an acute awareness of the meaninglessness of existence. This makes man suffer.



from a chronic malady of meaningless existence. Therefore, rightly the rishi proclaims that this world is the world of death—'mrityuloka' and a wheel of time 'samsara-chakra', where the 'jiva' is tied to suffering and death.

But the Vedānta does not end in nihilism as some Existentialists like Sartre do. For it man is not condemned to a 'mortal' and meaningless existence. Human existence is not ultimately a meaningless chaos. Mortality is not the ultimate truth.

Man in his awareness of mortality and temporality is also aware of something beyond, which is immortal and timeless. The agony and suffering in man testify to the fact that there is aspiration in him for something which is free from this. In the depth of temporality and death, there is a cry for the immortal and eternal. The rishi voices the truth in the famous utterance :

"Lead me from untruth to truth,  
Lead me from darkness to light,  
Lead me from death to immortality."

The Vedānta asserts that the timeless and immortal spirit of man defies time and death and seeks to transcend them. There is a level in man's existence, where time stands still and death ceases to rule. This is the immortality in man, the 'Atman.' This is the spiritual soil in which man is rooted.

According to the Vedānta, man becomes free from death and suffering when he rises to this level of his spiritual existence. He becomes 'mukta' then, transcending the world or time and death. This is called the 'amṛtatva' in the Upanisad. Immortality does not mean, for Vedānta, an endless life in the world of time, but a timeless existence here and now. 'Amṛtatva' is a spiritual rebirth and a divine regeneration. It is an awareness of the infinite and immortal, and realization of the subjective truth.

For the Vedānta, transcending time does not mean leaving the world of time. Rather, it is a freedom from the sway of time, while yet living in it. The man who rises to the timeless is yet in the midst of time, but no more under its sway. The Hindu conception of 'Siva' and the Buddhist conception of the 'Buddha'—Seated in deep meditation with eyes turned inward—point to the state of existence when one is above time unswayed by temporality and death. This is the state of 'Bodhi' or the 'Samadhi', in which the 'Jiva' becomes Siva, and



becomes the conqueror of Death; 'mṛtyunjaya'. The vedānata says that, in the state of deathlessness---amṛtatva---Death is conquered by the immortal spirit, the God in man. Death is, then, a shadow of the immortal and a slave of the supreme. Man is, then, the unconquered self-ruler-'svarat'---of the realm of truth that he establishes in himself.

According to the upanisad, Death is not the destiny of man. Death is a way to immortality. Both death and immortality are the shadows of the immortal. So Death is not all. This truth of the 'victory of death', simply means that man can rise above his present existence to an existence awakened by the realisation of the spirit in him. The categorical representation of this truth is found in the struggle between Death and Nachiketas in the upanisad and between Death and Savitri, in the immortal poem of Sri Aurobindo, called 'Savitri'.

In this context, Sri Aurobindo's conception of 'Life Divine' is supremely important, since, this is a direct continuation of the truth seen by the rishis of the Upanisad. The question of 'amṛtatva' or conquering the 'sickness of death' preoccupied the rishis. And this has been a paramount question, in the tradition of Vedānta. Different speculations have been offered by different. But the issue of 'amṛtatva' has not been so living and burning an issue in the systems as it is in the upanisad. Upanisadic period is admittedly the most creative period in the history of Indian thought. But centuries after, there has been a tremendous revival of the upanisadic spirit in Sri Aurobindo, who is the greatest thinker in India of this century and who is perhaps the greatest in history after Śaṅkara.

In Sri Aurobindo, the same question of 'amṛtatva' or Life Divine has assumed supreme importance. And his success lies perhaps in this sphere, rather than in his metaphysical speculations. Sri Aurobindo's Views on the 'amṛtatva' or establishment of Divine in earthly consciousness is epochmaking. Since he has given a new dimension to the old question, and has offered a new solution on thought of before.

Sri Aurobindo's basic contention is that man is on the process of an evolution, and he is the result of an earlier evolution. So he is an unfinished Being, waiting for a greater goal, and aspiring for a divine existence. Man in the present mental stage is half-animal and half-divine. There is a spirit in a material robe. But this is not the highest stage. There is a higher future of man, yet unknown and unaspired for. The next stage, according to Sri Aurobindo, is the supra-mental stage in which



## 1972] THE VEDANTIC VIEW OF MAN AND AUROBINDO 177

the Divine will be established in the human consciousness, and will transform the earthly existence.

The transformation of the earthly consciousness into the divine illumination, has been the momentous problem of his 'Supra-mental Yoga.' He says that, earthly consciousness can be wholly occupied by the Divine, since Divine is already engrossed in Matter. Man is already a divine being but he can be divinised in his total and integral being, through the 'Yoga.' That is the old problem how man can conquer death or in other words how his finite existence will be ended. And Sri Aurobindo gives vivid allegoric picture in 'Savitri' how man can conquer death.

'Savitri', who represents the spirit in man, has conquered death through her power of yoga—'Yoga-sakti.' But before she conquered there was darkest hour that preceded. She made to be distracted from her path by Death himself. Death denied the possibility of descending God into the earthly consciousness. But Savitri is sure that God must manifest in man, since he manifested in the world already, as matter, life and mind. The world is an unmanifest form of God. And so, Savitri argues, God is to descend into human consciousness and his earthly existence. Savitri, the supreme consciousness incarnate, challenged the Death, and suddenly she manifested as the form bearing the immortal and illumined light of God. Darkness of Death vanished and, the life was restored to Satyavana, who represents the earthly consciousness. Thus, according to Sri Aurobindo, Divine can be brought back to human consciousness established in it through the supramental Force and Yoga-sakti.

Sri Aurobindo believes that, though the power of Yoga, human existence can be transformed into divine existence, and man will be then wholly Divine. That is, he will be a superman. 'Superman' does not mean a magnified human Being, but, he will have a new consciousness which is purely divine and it will be a transformed and illumined existence.

Sri Aurobindo's claim for a superman's existence, may seem an impossible claim from the mortal creature called man. But, he is resting, for his claim, upon the truth embedded in man. He believes that if man is divine in essence, he can be fully a God—divine man. His claim may be a distant cry in a world, where man has not developed yet an established human consciousness. But that is not Sri Aurobindo's mistake. His only claim is this that is the ideal possibility for man upon earth. His 'Yoga' is not a magic-word that can transform earthly consciousness into divine consciousness. It is a difficult and distant goal.



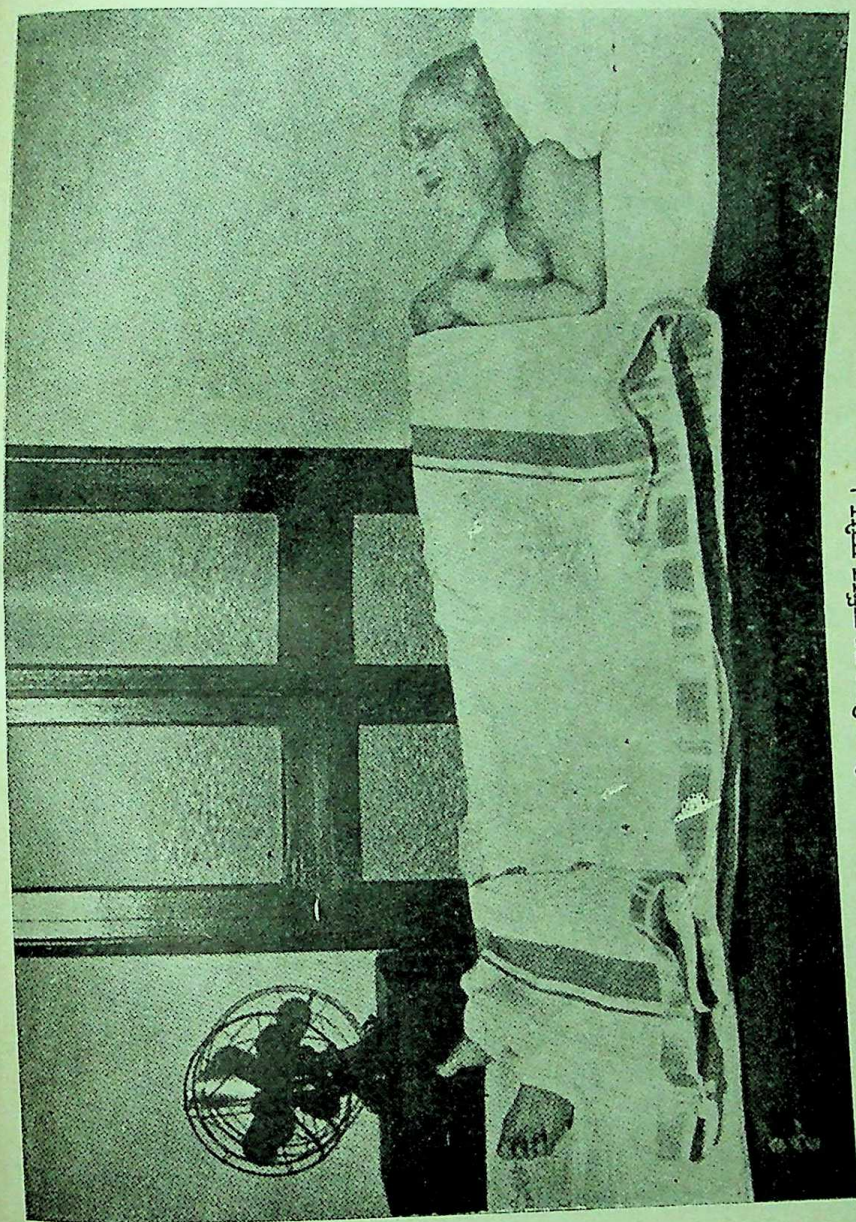
Man can move effort to reach the goal through that path. The fault of all great man in the history has been into that they see far ahead of their time, which the people of his time cannot see. Sri Aurobindo sees the truth, which is far ahead and mortal man is yet unprepared to see it.

Sri Aurobindo is not alone in his cry for a divine life in man, but there is the whole Vedantic tradition behind him. All have equally testified to the truth that man can be something more what he is not; and that there is an ideal possibility for man, which will lead him to a better existence. Whether we accept it or not, yet that is the truth. That has been written in the letters of blood by the rishis.

In a world, where man has known how to conquer sea and space, but has failed to know how to live as man. and where he is seeking his own extermination from earth through or fatal means of his own making, the message of the Vedānta, at least can restore a faith in man, and can show a path, how to live upon earth.







श्री अरविन्द का पार्थिव शरीर ।







## NATURE OF CONSCIOUSNESS IN SRI AUROBINDO PHILOSOPHY

Deo Brat Chaturvedi,

*Research Scholar, Department of Philosophy, B. H. U.*

The problem of consciousness is one of the persistent problems with which men have struggled for centuries. This problem is important in philosophy because of its close connections with philosophy's central concerns. What is consciousness? According to Aurobindo consciousness is an eternal and immanent existence. It is infinite.

The Absolute, according to Sri Aurobindo, is Saccidanand viz, Existence-Consciousness-Force-Bliss, Saccidanand is consciousness Force. It is creative. But it is not in active and passive. Absolute is Existence as well as Force. Force is conscious. We can not say that Force is unconscious. According to Sri Aurobindo the phenomenon of consciousness can not be explained if the ultimate creative force is regarded as unconscious. The materialists hold that the consciousness is the product of matter. Sri Aurobindo does not accept this view. He refutes the contention of the materialist that the brain secretes thought as the liver secretes bile. As he says, "Materialism indeed insists that whatever the extension of consciousness, it is a material phenomenon inseparable from our physical organs and not their utilizer but their result. This orthodox contention, however, is no longer able to hold the field against the tide of increasing knowledge. Its explanations are becoming more and more inadequate and strained. It is becoming always clearer that not only does the capacity of our total consciousness far exceed that of our organs, the senses, the nerves, the brain but that even for our ordinary thought and consciousness, these organs are only their habitual instruments and not their generators. Consciousness uses the brain which its upward strivings have produced, brain has not produced nor does it use the consciousness."<sup>1</sup>

---

1. Aurobindo : The life Divine, Vol. I, page 108.



Consciousness is called *cit* in ancient Indian Scriptures which means consciousness inseparable from 'Sakti', Sri Aurobindo says," As we can not separate the Divine Reality and its Consciousness-Force, Chit-Sakti.<sup>1</sup> But such a consciousness is not the mental making consciousness of an individual which is limited, temporary and accidental. Human consciousness is weak and ignorant. There are, however, various forms of consciousness such as unconsciousness, sub-consciousness, subliminal consciousness, and super consciousness. Sri Aurobindo says, "But this vulgar and shallow idea of the nature of consciousness though it still colours our ordinary thought and associations, must now definitely disappear out of philosophical thinking. For we know that there is something in us which is conscious in sleep when we are stunned or dragged or in a swoon, in all apparently unconscious states of our physical being. not only so, but we may now be sure that the old thinkers were right when they declared that even in our making state what we call then our consciousness is only a small selection from our entire conscious being."<sup>2</sup>

Consciousness is an eternal. It is also immanent existence. It is found in every thing. It is infinite. Consciousness is not only present in living bodies but it is present in matter and plant also. But in plant and matter it is found in latent manner. The consciousness is present in plant in an intuitive manner. Sri Aurobindo says, "The seekings and Shrinkings of the plant, its pleasure and pain, its sleep and its wake-fulness and all that strange life whose truth an Indian Scientist has brought to light by rigidly scientific methods, are all movement of consciousness, but, as far as we can see, not of mentality. There is then a sub-mental, a vital consciousness which has precisely the initial reactions as the mental, but is different in the constitution of its self-experience, even as that which is super-conscious is in the constitution of its self-experience different from the mental being."<sup>3</sup>

Existence, Consciousness-force and Bliss is found in Absolute together in the same time and space. Whatever we see in this world

- 
1. Aurobindo : The life Divine, Book II, Part I, page 314.
  2. Ibid, Book I, page 80.
  3. Ibid, Vol. I, page 110.



is nothing else than its forms and creations. Matter can never be absolutely unconscious. But matter seems to be a complete negation of consciousness.

But Aurobindo is not prepared to admit any sudden gulf in nature. "Thought", he says, "has right to suppose a unity where that unity is confessed by all other classes of phenomenon and in one class only, not denied, but merely more concealed than in others. And if we suppose the unity to be unbroken, we then arrive at the existence of consciousness in all forms of the force which is at work in the world."<sup>1</sup>

The Supreme consciousness is universal and cosmic. This consciousness exists in the deep sea and sky, in animate and inanimate. The supreme consciousness force is transcendent, universal and individual.

The supermind has three ways of action in its three successive poises. These poises have three types : (1) Comprehending Consciousness, (2) Apprehending Consciousness and (3) Projecting Consciousness. About these consciousness Haridas Choudhury says, "The comprehending consciousness of the supermind ensures the truth of the self containing all things, the apprehending consciousness ensures the truth of the self inhabiting all things and the projecting consciousness ensures the truth of the self becoming all things."<sup>2</sup>

There are three essential characteristics of consciousness :

(1) Infinite Self-variation, (2) Self-limitation and (3) Self-absorption.

(1) The Conscious Force of Brahmn is not restricted to one particular state of consciousness or, "to one state or law of its action; it can be many things simultaneously, have many co-ordinated movements which to the finite reason may seem contradictory; it is one but innumerable manifold, infinitely plastic, inexhaustibly adaptable."<sup>3</sup> "Maya is the supreme and universal consciousness and force of the Eternal and Infinite and, being by its very nature unbound and illimitable, it can put forth many states of consciousness at a time, many dispositions of its Force, without ceasing to be the same consciousness-force for ever."<sup>4</sup> Infinite self variation means that

1. Aurobindo : Life Divine, Vol. I., page 111

2. Sri Aurobindo Mandir Annual, 15th August, 1942, page 136.

3. Life Divine, Vol. II, Part I. 57

4. Ibid., p. 57.



conscious force is not only particular state of consciousness but it is also a bundle of contradictory states.

(2) The second characteristic of the Infinite consciousness is that it has been stated above and has also the power of self limitation. It is the sub-ordinate movement of the Infinite consciousness determining itself within the bounds of space and Time. Apart from the individual self-limitation, there is also the cosmic limitation of the Infinite Consciousness. It is this power of limitation that is responsible for the existence and working of the universe. "The Infinite Consciousness supports the universe with duly a certain part of itself and holds back all that is not needed for the cosmic movement."<sup>1</sup>

(3) Third characteristic of the Infinite consciousness is *self absorption*. This characteristic takes place in two ways : (1) that of super conscience and (2) Inconscience. In first state there is no knowledge of the individual or the universal existence. In the state of Inconscience the Consciousness and Force are also their intrinsically in that a part non-being. It is out of the inconscient that an ordered world is created.

'Sankar and Sankhya-Yoga regard consciousness as an eternal light existing in its own right and constituting as the very essence 'Svarupa' of the Ātman or the Pursa. It is neither quality, nor an action of anything else, but it is independent.

Rāmānuja accepts consciousness to be both an essence and a property of the Ātman.

According to Prabhākara consciousness is a quality of the Ātman. Kumārila does not accept this view. He says that the consciousness is an action of the self, because it is the result of its cognitive activity.

According to Nyāya, Consciousness is a mechanical quality produced by the contact of various factors inheriting in a substance separate from itself is metaphysically the least satisfactory.

Thus we see that there are various differences between the ancient Indian Philosopher's view and Sri Aurobindo's view.

---

3. R. S. Mishra : The Integral Advatism of Sri Aurobindo, page 108.



## RISHI AUROBINDO

Kathindra Prasad Sen,

*Deptt. of Economics, B. H. U.*

"What Sri Aurobindo represent in the world's history is not a teaching, not even a revelation; it is a decisive action direct from the Supreme."

*-The mother*

The whole life span of Sri Aurobindo is an antithesis. Not so much in the case of his other sons, as in that of Sri Aurobindo, Dr. K.D. Ghose took the greatest care that nothing Indian should touch this son, even when he was a little child. Sri Aurobindo knew very little of his mother-tongue till his return to India at the age of twenty one.

Sri Aurobindo was seven when the father took his three sons to England and placed them in English family—the Drewetts who were his personal friends with strict instruction that they should not be allowed to make the acquaintance with any Indian or undergo any Indian influence. These instructions were carried out to the letter and Aurobindo grew up in an entire ignorance of India, her people, her religion and her culture.

At the age of eleven he realized that the world was preparing for big revolutionary changes and he himself was destined to play a part in it. But this thought took full shape only towards the end of another four years. Even in England he joined a secret society—'Lotus and Dagger' for the liberation in India.

The next phase of his stay in England covered the period of his preparation for the Indian Civil Service Examination, of which his father was very particular. In a letter to a relative he wrote : Auro (Aurobindo) I hope will glorify his country by his brilliant administration'. In 1890 Sri Aurobindo passed with credit his final examination at St. Paul's securing a scholarship for further studies in the college. The same year he appeared for the I. C. S. Examination which also he passed with credit scoring record marks in the language group, Greek and Latin. At the end of the period of probation, however, he avoided appearing for the departmental riding test. The fact is that he felt no call for the I. C. S. and wished to escape from the bondage. Sri Aurobindo now came to Cambridge and took up classical tripos and passed first part scoring first class. This is what Oscar Browning, the famous Don of Cambridge, told Sri Aurobindo who quoted his words in a



letter to his father, "I suppose you have passed an extraordinarily high examination. I have examined papers at thirteen examinations and I have never during that time seen such excellent papers as yours."

When Sri Aurobindo was disqualified for the Indian Civil Service, the Gaeakwad of Baroda was in London. Sri Aurobindo was introduced to him by the brother of Sir Henry Cotton and got an appointment in the Baroda Service and left England in February 1893.

Sri Aurobindo passed thirteen years from 1893 to 1906 in the Baroda service, first in the Settlement and Revenue Department and afterwards as Professor of English and finally Vice-Principal in the Baroda college. The outbreak of the agitation against the partition of Bengal in 1905 inspired him to give up the Baroda service and to join the political movement of the country. He left Baroda in 1906 and went to Calcutta as principal of the newly founded "Bengal National College." Sri Aurobindo edited *Bandematram*, the most popular national paper of its time. It took the whole country by storm. As editor Sri Aurobindo gave a Clarion call to the nation and as the principal of the National college he laid the foundations of the future.

In the words of a contemporary English editor each and every line of *Bandematram* was full of sedition but it was so cleverly put into it escaped the grip of law. Still Sri Aurobindo was put behind the bars. It was in Alipur Jail that Vasudeva revealed himself to Sri Aurobindo and Gita was put in his hands. It is there that Sri Krishna told Sri Aurobindo, "I am in the notion and its uprising. I am Vasudeva, I am Narayan, and what I will, shall be, not what others will. What I chose to bring about, no human power can stay." After his release Sri Aurobindo gave the famous Uttarpara speech in which he told his audience about his spiritual experience in jail in which he had seen Narayan every where and in every one. And it was Narayan who chalked out his future programme.

In 1910 Sri Aurobindo received an 'adesh' from within asking him to leave Calcutta. He landed in Pondichery on April the 4th and thus began his long odyssey in the spiritual life. It was in 1914 that Mother came to Pondichery and met Sri Aurobindo on 29th March. After the interview she wrote in her diary: "It matters not if there are hundreds of being plunged in the densest ignorance. He whom we saw yestereay is on earth: His presence is enough to prove that a day will come when darkness shall be transformed into light, when thy reign shall be indeed established upon earth."



With her collaboration he launched the monthly 'Arya' which gave us most of his important books ( 1916-20 ). Mother had to go back for some time. She came finally in 1920 on 24th April.

But what he was destined to give out in the world, drawn upon him during his jail life. He thought that India's liberation is immaterial and it would come in time but salvation of mankind was essential because he realized that—Beyond all preference and limitations there is a ground of mutual understanding where all can meet and find their harmony : It is the aspiration for a divine consciousness.

Sri Aurobindo, the Master-patriot who later became the Master-yogi was a unique phenomenon in human history with a significance for the whole world. He came to tell us :

"One need not leave the earth to find the Truth; one need not leave the life to find his soul; one need not abandon the world or have only limited belief to enter into relation with the Divine. The Divine is every where, in every thing and if He is hidden; it is because we do not take the trouble to discover Him."

Sri Aurobindo's Yoga is known as Integral yoga. It is integral because it touches the totality of one's being. For him, Yoga is not an escape from the work-a-day world; in fact it is a return to the world with divinisation of entire being. The spiritualization of matter is the central theme of Integral yoga, and it is here that it differs from most of the traditional approaches of yoga. He says : "The practice of this yoga is double : One side is of ascent of the consciousness to the higher planes, the other is that of descent of the power of the higher planes into the earth consciousness so as to drive out the power of darkness and ignorance.....To ascend is easier than to bring down." Explaining still further the aims of Integral Yoga, he says : "It is not merely to rise out of the ordinary ignorant world-consciousness into the Divine Consciousness, but to bring the Supramental power of the Divine Consciousness down into the ignorance of mind, life and body : to transform them, to manifest the divine here and create a divine life in matter."

One may ask : What are the practical steps that Sri Aurobindo's Integral Yoga suggests ? Sri Aurobindo says in his synthesis of Yoga :

"The Sadhana of the Integral Yoga does not proceed through any set mental teaching or prescribed forms of meditation, mantras and others but by aspiration, by self-concentration inwards or upwards, by



a self-openings to an influence, to the Divine Power..... It is faith, Aspiration and Surrender that this self opening can be made."

The teaching of Sri Aurobindo starts from that of the ancient sages of India that behind the appearances of the universe there is the Reality of a Being and Consciousness, a self of all things, one and eternal. All beings are united in that one self and Spirit but divided by a certain separatively of consciousness, an ignorance of their true Self and Reality in the mind, life and body. It is possible by a certain Psychological discipline to remove this veil of separative consciousness and become aware of the true Self, the Divinity within us and all.

Sri Aurobindo's teachings states that this One Being and Consciousness is involved here in Matter. Evolution is the process by which it liberates itself; consciousness appears in what seems to be inconscient and once having appeared is Self-impelled to grow higher and higher and at the same time to enlarge and develop towards a greater and greater perfection. Life is the first step of this release of consciousness; mind is the second; but the evolution does not finish with mind; it awaits a release into something greater, a consciousness which is spiritual and Supramental. The next step of the evolution must be towards the development of Supermind and Spirit as the dominant power in the conscious being. For only then will the involved Divinity in things release itself entirely and it become possible for life to manifest perfection.

But while the former steps in evolution were taken by Nature without a conscious will in the plant and animal life, in man Nature becomes able to evolve by a conscious will in the instrument. It is not, however, by the mental will in man that this can be wholly done, for the mind goes only to a certain point and after that can only move in a circle. A conversion has to be made, as turning of the consciousness by which mind has to change into the higher principle. This method is to be found through the ancient psychological discipline and practice of Yoga. In the past, it has been attempted by as drawing away from the world and a disappearance into the height of the Self or Spirit. Sri Aurobindo teaches that as descent of the higher principle is possible which will not merely release the spiritual Self out of the world, but release it in the world, replace the mind's ignorance or its very limited knowledge by a supramental Truth-consciousness which will be as sufficient instrument of the inner Self and make it possible for the human being to find himself dynamically as well as inwardly and grow out of his still animal humanity into a diviner race. The psychological discipline of yoga can be used to that end by opening all the parts of the being



1972 ]

RISI AUROBINDO

187

to a conversion or transformation through the descent and working of the higher still concealed supramental principle.

This however cannot be done at once or in a short time or by any rapid or miraculous transformation. Many steps have to be taken by the seeker before the supramental descent is possible. Man lives mostly in his surface mind, life and body, but there is an inner being within him with greater possibilities to which he has to awake—for it is only a very restricted influence from it that he receives now and that pushes him to a constant pursuit of a greater beauty, harmony, power and knowledge. The first process of yoga is therefore to open the ranges of this inner being and to live from there outward, governing his outward life by an inner light and force. In doing so he discovers in himself his true soul which is not this outer mixture of mental, vital and physical elements but something of the Reality behind them, a spark from the one Divine fire. He has to learn to live his Soul and purify and orientate by its drive towards the Truth the rest of the nature. There can follow afterwards an opening upward and descent of a higher principle of the Being. But even then it is not at once the full supramental Light and force. For there are several ranges of consciousness between the ordinary human mind and the supramental Truth consciousness. These intervening ranges have to be opened up and their power brought down into the mind, life and body. Only afterwards can the full power of the Truth-Consciousness work in the nature. The process of this Self-discipline or Sadhana is therefore long and difficult, but even a little of it is so much gained because it makes the ultimate release and perfections more possible.

There are many things belonging to older systems that are necessary on the way—an opening of the mind to a greater wideness and to the sense of the Self and the infinite, and emergence into what has been called the cosmic consciousness, mastery over the desires and passions; an outward asceticism is not essential, but the conquest of desire and attachment and a control over the body and its needs, greeds and instincts are indispensable. There is a combination of the principles of the old systems, the way of knowledge through the mind's discernment between Reality and the appearance, the heart's way of devotion, love and surrender and the way of works turning the will away from motives of Self interest to the Truth and the service of a greater Reality than the ego. For the whole being has to be trained so that it can respond and be transformed when it is possible for that greater Light and Force to work in the nature.



In this discipline inspiration of the Master and in the difficult stages, his control and his presence are indispensable—For it would be impossible otherwise to go through it without much stumbling and error which would prevent all chance of success. The Master is one who has risen to a higher consciousness and being and he is often regarded as its manifestation or representative. He not only helps by his teaching and still more by his influence and example but by a power to communicate his own experience to others.

This is Sri Aurobindo's teaching and method of practice. It is not his object to develop any one religion or to amalgamate the older religions or to found any new religion—for any of these things would lead away from his central purpose. The one aim of his yoga is an inner self development by which each one who follows it can in time discover the One Self in all and evolve a higher consciousness than the mental; a spiritual and Supramental consciousness which will transform and divinise human nature.

*References :*

1. Sri Aurobindo : The Life Divine ( Vol. I & II )
2. Sri Aurobindo : Synthesis of Yoga.
3. S. K. Mitra : The Liberator.
4. Nirodbaran : Correspondence with Sri Aurobindo.
5. From 'Sri Aurobindo and his Ashram'.
6. Advent ( August 1972 ).
7. Message ( November 24, 1972 ),





## गीता में वैयक्तिक स्वतंत्रता का अस्तित्ववादी आधार

कुमारी सुधा,

शोधछात्र, उच्चानुशीलन दर्शन केन्द्र, का० हि० वि० वि०

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् प्रारम्भ होनेवाले अस्तित्ववादी दर्शन की परिस्थितियाँ गीता में प्रस्तुत परिस्थितियों से कुछ अर्थों में समानता रखती हैं। आज का मानव विषाद, भय, संघर्ष (यह संघर्ष मानवीय भी हो सकता है और प्राकृतिक भी) एवं युद्ध की विभीषिका से घिरा हुआ अपने को असहाय पाता है। किसी भी युद्ध को रोकने में वह असहाय है। उसकी यह असहाय अवस्था उसको स्व-अस्तित्व एवं मानवीय-अस्तित्व की सुरक्षा के सम्बन्ध में चिन्तित कर देती है। गीता के विषादयोग में अर्जुन का पलायनवादी दृष्टिकोण इसी परिस्थिति की ओर इङ्गित करता है। इस भय के पीछे पूर्व परिस्थितियाँ भी अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। अर्जुन का यह पलायनवाद केवल युद्ध को विभीषिका को अनुभव करने मात्र से सम्बन्ध नहीं रखता, अर्जुन के मस्तिष्क में संजय का पांडव शिविर में दिया गया आध्यात्मिक उपदेश (जो पांडवों को युद्ध से विचलित करने एवं नैराश्य उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही दिया गया था) भी सम्मिलित है। जिसका पूर्व संकेत उद्योगपर्व में पाया जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि अर्जुन को इससे पहले युद्ध की भयानकता का आभास नहीं था लेकिन सम्भवतः इस भयानकता का ध्यान होते हुए भी यह तथ्य उसके विचार से दूर था कि यह युद्ध उसके स्वजनों के बीच हो रहा है और युद्ध समाप्ति के बाद वह अपने गुरुजनों एवं प्रियजनों का सामोप्य खो बैठेगा। अतः अर्जुन का यह भय दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। प्रथम दृष्टिकोण से उसका भय जय-पराजय के विषय में था और दूसरा भय स्वयं की मृत्यु से इतना अधिक सम्बन्धित नहीं था जितना कि अन्तर्मीयजनों की मृत्यु से। अर्जुन अपनी इस चेतना का अनुभव करता है और इसी चेतना की अनुभूति के साथ ही उसे अपने अस्तित्व का भी भान होता है। अपने अस्तित्व की अनुभूति के साथ-साथ अपने स्वजनों के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी चिन्तित हो जाता है। ऐसी चेतना हममें तभी जन्म लेती है जब उससे सम्बन्धित कोई वस्तु, तथ्य या परिस्थिति हमारे सम्मुख हो।

यहाँ अर्जुन के भय की उत्पत्ति सामने उपस्थित युद्ध की भयानकता के साथ ही उसके ममत्व के कारण भी थी। उसके मन में जिज्ञासा उठती है कि वह इन सबका नाश करके किस प्रकार राज्य-सुख का भोग कर सकेगा। वह कृष्ण को स्पष्ट बतलाता है कि अपने स्वजनों की हत्या करके वह राज्य-सुख की भी इच्छा नहीं रखता—'युद्ध नहीं कहूँगा' अर्जुन का यह निर्णय यद्यपि पूर्णतः वैयक्तिक है, लेकिन अन्ततः यह (निर्णय) दूसरे मानवीय अस्तित्वों से उसके (अर्जुन) सम्बन्धों को निश्चित करता है। स्वजनों को लेकर चिन्तित होने का अर्थ



है कि मनुष्य अपने अस्तित्व के साथ ही अन्य मनुष्यों ( जिन्हें वह अपना प्रिय समझता है ) के अस्तित्व के विषय में भी चिन्तित होता है। ज्यों पाल सार्त्र प्रेम में आवद्ध मनुष्य की मनःस्थिति का वर्णन करता हुआ इस एकाधिकार ( प्रेम की आत्यान्तिकता एवं अपने प्रिय पर सम्पूर्ण एकाधिकार ) और स्व-अस्तित्व मूलक स्वामित्व की विवेचन करता है।<sup>1</sup> अतः यह धारणा निराधार है कि अस्तित्ववादी दर्शन वैयक्तिक दर्शन की ही श्रेणी में आता है। उसका सम्बन्ध मानवीय अस्तित्व से भी है जिसका किञ्चित् प्रतिपादन गीता का यह विषाद-योग स्पष्ट करता है। स्पष्टतः अस्तित्ववाद मानवतावाद ( मानव सत्ता ) से भी सम्बन्ध रखता है। मानव को वह वस्तुगत दृष्टिकोणों के मध्य रखकर विचार नहीं करता क्योंकि वस्तुगत दृष्टिकोण मानव सत्ता के प्रति उदासीन होता है। उसका प्रमुख लक्ष्य वस्तु से प्रभावित होता है और मनुष्य की स्थिति वहाँ गौण हो जाती है। सत्य का चिन्तन आत्मनिष्ठ पद्धति से होना चाहिए। अस्तित्ववाद ने बहिर्मुखी (बाह्य वस्तुओं पर आधारित) चिन्तन को अन्तर्मुखी बना दिया है और 'सत्य को आत्मगत' सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। यह विचार इस चिन्तन के निकट है जिसमें सत्य को स्वयं वेद्य या स्वप्रकाश कहा गया है। इसकी तुलना हम सुकरात के इस कथन से भी कर सकते हैं कि 'अपने को जानो'। इसका अर्थ यह है कि सुकरात मानवीय बुद्धि को बाह्य-संसार से हटाकर आन्तरिक संसार में लगाना चाहते थे। अस्तित्ववादी दर्शन भी इसी का समर्थन करता है। अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिए हमें किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है जैसा कि डेकार्त एवं हीगेल जैसे वस्तुवादी दार्शनिक मानते हैं। हम अपनी सत्ता ( किसी वस्तु की तरह ) दूसरों पर सिद्ध नहीं कर सकते। दूसरे व्यक्तियों का भी अस्तित्व हमारे लिए सम्भाव्य मात्र है, वह निश्चित नहीं है। दूसरे व्यक्तियों को उनकी अपनी सत्ता तो संदेश रहित है पर उनके लिए मेरी सत्ता, अनुमान पर आधारित और सम्भाव्य है। विषयात्मकता ही उसका प्रारम्भिक बिन्दु होना चाहिए। हमारे सभी कर्म विषयगत सम्बद्धता को लेकर ही होना चाहिए। सिरें किर्केंगाई ने नैतिकता को पर-सापेक्ष नहीं माना है। ऐसी स्थिति में नैतिकता का मुख्य उद्देश्य आत्मोत्थान ही रह जाता है। इस नैतिक पथ पर चलने के लिए अन्तर्मुखी चिन्तन का होना आवश्यक है। मनुष्य के लिए यही आवश्यक है कि वह अपने स्वत्व पर विश्वास रखे और उसे जैसा उचित एवं करणीय प्रतीत हो, वैसा करे।

गीता आत्मोत्थान से ऊपर उठकर लोकसंग्रहार्थ कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। यहाँ मनुष्य मात्र वैयक्तिक स्तर पर नहीं रुक सकता; यह दूसरी बात है कि उसके समस्त कर्म ईश्वरार्पण हों। सार्त्र ईश्वरीय सत्ता का निराकरण करता है। उसका कथन है कि यदि ईश्वर नहीं है तो प्रत्येक कार्य करणीय है। मनुष्य से पहले वह किसी भी तत्व को नहीं मानता। परिणाम स्वरूप ( ईश्वर रहित ) मनुष्य अकेला है। इसका कारण है कि वह स्वयं न तो भीतर और बाहर कोई ऐसी वस्तु पाता है जिसका सहारा प्राप्त कर सके। जीवन का सम्पूर्ण सार कर्म में है और यही कर्म जीवन का आदेश है।

1. Sartre : *Being and Nothingness*, p. 367.



गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म और सार्त्र द्वारा कथित कर्म में मुख्य अन्तर यह है कि सार्त्र का कर्म किसी भी रूप में ईश्वर से सम्बन्धित नहीं है। उसके कर्म में एक निरर्थकता, मनुष्य की असहाय अवस्था एवं उसका अकेलापन लक्षित होता है। उसका दर्शन शून्यता पर आधारित है। उसके विचार में मनुष्य अस्ति और नास्ति दोनों ही हैं। मनुष्य में शून्यता या नास्ति होने के कारण वह प्रश्न कर सकता है और उस पर विचार भी कर सकता है ( यहाँ वह डेकार्त के चिन्तन को बदल देता है—“मैं नहीं हूँ इसलिए चिन्तन करता हूँ” अतः उसके अनुसार जिज्ञासा का मुख्य कारण अपनी नकारात्मकता को पादा है ) ।

मनुष्य की यह शून्यता दुःख में अधिक प्रकाशित होती है। मनुष्य के कार्यों और विचारों के बीच शून्यता ( नकारात्मक ) सदैव रहती है अतः उसके मन में संकल्प-विकल्पात्मक स्थिति बनी रहती है। संकल्प-विकल्पात्मक स्थिति किसी विषादमय वातावरण से प्रभावित होकर ही उत्पन्न होती है। अर्जुन इसी विषादमय परिस्थिति में पड़कर ही किर्कत्तव्यविमूढ़ हो जाता है। यह तथ्य उसको अपनी समझ के बाहर प्रतीत होता है कि करणीय क्या है और क्या अकरणीय। उसे युद्ध करना चाहिए अथवा नहीं। आशंका की अनुभूति अर्जुन में किसी अभाव को लेकर ही उत्पन्न होती है और वह स्थिति ‘ममत्व’ की है। अर्जुन को युद्ध स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता के होने का मुख्य कारण है उसकी चेतना का पूर्ण अस्तित्व में न होना। यहाँ सार्त्र चेतना को आत्मा का मात्र औपाधिक गुण ( जो किसी विशेष अवस्था में उत्पन्न हो जाता है ) मानता है। गीता में आत्मा सत्-चित् है। उसमें किसी भी प्रकार का औपाधिक गुण नहीं है और संकल्प-विकल्पात्मक स्थिति मनुष्य की इस चैतन्य स्वरूप आत्मा में न होकर मन में होती है। मन चंचल होने के कारण एक विचार पर स्थिर नहीं रहता। अर्जुन की स्थिति इसी संकल्प-विकल्प में पड़े हुए व्यक्ति के समान है। गीता का अर्जुन स्वयं किसी प्रकार का चयन कर पाने में अपने को असमर्थ पाता है और उस चयन का निर्णय कृष्ण के ऊपर बाल देता है जो सर्व शक्तिशाली एवं असोम सत्ता से युक्त हैं। लेकिन सार्त्र किसी सर्वव्यापी सत्ता को नहीं मानता और उसके विचारों में हमें यह वैषम्य दीख पड़ता है। गीता में निष्काम कर्म को मानवीय सुख ( आत्मिक ) का आधार बताया है और इच्छायुक्त कर्म को मनुष्य के दुःख का मूल कहा है। अतः दुःख से मुक्ति पाने का उपाय सभी कर्मों को ईश्वरार्पण करना और मोक्ष की प्राप्ति को लक्ष्य कहा गया है। पर सार्त्र मोक्ष प्राप्ति की इच्छा को ही दुःख का कारण समझता है। अपनी सत्ता का अनुभव कर लेना ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। किसी बाह्य-आधार ( ईश्वरीय सत्ता का ) सहारा लेने का अर्थ है कि मनुष्य अपने को असहाय अनुभव करता है या वह स्वयं अपने को समर्थ नहीं समझता।

सार्त्र को ईश्वर पर आधारित होना स्वीकार नहीं है। उसके अनुसार मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र है और उसे किसी भी कर्म को चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। चुनाव स्वयं से अनुश्रुत



होता है और उसका लक्ष्य सीधे उद्देश्य की ओर जाना होता है।<sup>1</sup> किसी भी चुनाव में होता है और उसका लक्ष्य सीधे उद्देश्य की ओर जाना होता है।<sup>1</sup> किसी भी चुनाव में आकांक्षा का होना आवश्यक है। मनुष्य को अपनी आकांक्षानुसार चयन-स्वतन्त्रता है। इस विचार का गीता के विचार से विरोध है जिसमें हम पाते हैं कि आकांक्षा रहित होकर मनुष्य को कर्म करना चाहिए। इसके विपरीत अस्तित्ववाद प्रतिपादित करता है कि हम आकांक्षा का विनाश नहीं कर सकते क्योंकि आकांक्षा का विनाश स्वयं मनुष्य की सत्ता नष्ट कर देगा। मनुष्य यदि अपने-आप के लिए ही सन्तुष्ट हो जाता है तो वह स्वयं अपने अस्तित्व को संकट में डाल लेता है। आकांक्षा रहित किसी भी कर्म की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य का भविष्य ईश्वर द्वारा निर्मित किसी भी तत्व पर आधारित नहीं है। और यदि उसी तत्व पर मनुष्य का जीवन निर्भर करता है तो उसको स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। निर्भरता को इस अवस्था में उस 'तत्व' के निर्माता के अनुसार ही कर्म भी करना पड़ता है और यदि मनुष्य अपना तत्व स्वयं चयन नहीं करता तो उसको यह स्वतन्त्रता किसी दासता से कम नहीं है।<sup>2</sup>

गीता में सभी मानवीय क्रियाकलाप एक अज्ञात शक्ति द्वारा निर्धारित किये गये हैं। यह निर्धारण मनुष्य का पूर्व निर्धारण है। हम अपनी इच्छा से संसार में कुछ भी नहीं कर सकते। कृष्ण स्वयं कहते हैं कि जन्म, मृत्यु निश्चित है और इस अनिवार्य परिणाम के लिए तुझे शोक नहीं करना चाहिए।<sup>3</sup> मानव का प्रारम्भ एवं अन्त प्रत्यक्ष नहीं है फिर वर्तमान एवं मध्य अवस्था के विषय में कौसी चिन्ता।<sup>4</sup> संसार में प्रकृति आदि के समक्ष मनुष्य की असहाय अवस्था एवं किसी भी घटनाक्रम को न रोक पाने की उसकी असमर्थता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर ने सम्पूर्ण घटनाक्रम पहले से निर्धारित कर रखे हैं। लेकिन यदि हम ऐसा मानते हैं तो नवीन सृजनकारिता मनुष्य की वरण-स्वतन्त्रता, प्रेम, विश्वास, आत्मार्पण आदि सभी भ्रम-मात्र सिद्ध होकर रह जायेंगे। संसार में अनेक प्रकार की भावनाएँ हैं। गीता स्वयं भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करती हुई ईश्वरीय प्रेम की व्याख्या

1. No choice without decision, no decision without will, no will without duty, no duty without being. This formula shows choice proceeding from its source in Myself to which it also returns in make me become what I am. Such choice is no hoping uncertainly before after natives; it is elicited from me, it proceeds straight to its goal.

—Karl Yaspers : *Six Existentialist thinkers*, p. 60.

2. For Libnitz we are free since our acts derive from our essence. Yet the single fact that our essence has not been chosen by us shows that all this freedom in particulars actually covers a total slavery.

—J. P. Sartre : *Being & nothingness*, p. 538.

३. गीता, २।२७-२८।

४. गीता, ९।१८।



करती है। उसके अनुसार ईश्वर प्रेममय होने के कारण मनुष्य को असाहाय अवस्था में नहीं छोड़ सकता। ईश्वर की सत्ता व्यक्तिगत सत्ता के रूप में मानी गई है।

अरविन्द ईश्वर का अवरोहण मानव रूप में मानते हैं और मनुष्य का सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ते हैं। यह सम्बन्ध सहकारिता पर आधारित होता है। ईश्वरवादी अस्तित्ववादी दार्शनिक संसार में ईश्वरीय प्रेम को स्वीकार करता है। सिरन किर्केगाई मानता है कि संकल्प-विकल्प की विषादात्मक स्थिति से बचने के लिए मनुष्य अपनी निर्वलता का अनुभव करके किसी शक्ति में श्रद्धा करने लगा। इस भय से उत्पन्न श्रद्धा ने धर्म की उत्पत्ति की है। ऋग्वेद काल के मनुष्य ने प्रकृति की उपलब्धियों एवं उसकी असामयिक प्रचण्डता में प्रेम और भय का अनुभव कर उसकी पूजा की। इससे उसकी शक्ति के प्रति श्रद्धा प्रकट होती है। बाद में चलकर उसका विश्वास एकमात्र सर्वशक्ति सम्पन्न सत्ता में बदल जाता है। मनुष्य विश्वास करने लगता है कि वह अज्ञात-शक्ति उसकी सहायता अवश्य करेगी और उसे अपने आन्तरिक विरोध (संकल्प-विकल्प एवं कर्त्तव्यमूढता की स्थिति) के दुःख से बचा लेगी। मनुष्य सदैव परम्परागत दर्शन के रहस्यवाद में इस तनाव से निष्कृति खोजता है। यह उसका शाश्वत आकर्षण है जिसके आधार पर मनुष्य अपनी समस्त समस्याओं का समाधान खोजता है और सम्भावनाओं द्वारा निर्मित काल्पनिक-मानस के माध्यम से एक सर्वात्म सत्ता से स्वयं को सम्बद्ध कर लेता है। मनुष्य का सर्वात्म सत्ता से सम्बद्ध होना कार्ल यास्पर्स के अनुसार एक प्रकार का मोह है।

यास्पर्स व्यक्ति को परिस्थिति से सम्बद्ध मानता है—व्यक्ति प्रस्तुत परिस्थिति में परिवर्तन नहीं कर सकता। किन्तु सार्व परिस्थितियों को परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है, और इन्हीं परिस्थितियों के भीतर स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। सार्व अपनी सत्ता को स्वगत मानता है। वह किसी विश्वगत सत्ता (ईश्वरीय सत्ता—जो सबमें समान रूप से स्थित है) को नहीं मानता। मनुष्य अपने कृत्यों के लिए किसी असोम सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं है। मनुष्य वैसा हो है जैसा कि उसने अपने को बनाया है।<sup>1</sup> उसके अस्तित्व की व्याख्या बाह्य आधार से नहीं की जा सकती। मनुष्य की व्याख्या का सम्बन्ध विषयात्मक सम्बद्धता से है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य केवल स्वअस्तित्व के लिए उत्तरदायी है। विषयात्मक सम्बद्धता विश्वगत अस्तित्व को प्रकट करती है और मनुष्य अपने अस्तित्व की तरह मानवमात्र के अस्तित्व के लिए उत्तरदायी है। लेकिन सार्व समाज के लिए भी इस तथ्य को वरण करते समय व्यक्ति के अस्तित्व को सामाजिक अस्तित्व से ऊपर रखता है। मनुष्य के कार्य सार्व के अनुसार इस प्रकार कार्यान्वित होते हैं जैसे कि सम्पूर्ण मानव जाति उसके कार्यों द्वारा स्वयं को नियमित करती हो।<sup>1</sup> सार्व के अनुसार अस्तित्ववाद मानवता

1. Man is nothing else but that which he makes of himself.—J. P. Sartre : *Existentialism & Humanism*, p. 38.

“Am I really a man who has the right to act in such a manner that humanity regulates itself by what I do.”—Ibid., p. 32.

2. Life is nothing until it is lived; but it is yours to make sense of and the value of it is nothing else but the sense that you choose.



का प्रतिनिधित्व करता है।<sup>१</sup> मनुष्य अपने विश्वातीत का स्वयं ही केन्द्र है। मनुष्य के 'स्व' की स्थिति पूर्णतः आत्मनिष्ठ और अन्तर्मुखी होती है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह समाज और संसार की उपेक्षा करता है। वह मनुष्य समाज के अन्य व्यक्तियों के समान ही आचरण करता है, किन्तु उसकी भावना लोकहित की ओर परिवर्तित हो जाती है। किर्केगाई का Knight of Faith और गीता का स्थिति-प्रज्ञ मानव एक ही स्तर के हैं। किर्केगाई का प्रतिपादित मनुष्य गीता के कर्मयोगी के समकक्ष है। किर्केगाई और गीता का यह मानव नीत्से के महामानव से भिन्न प्रतीत होता है—नीत्से का यह शक्तिशाली मानव पूर्णतः वैयक्तिक श्रेणी का है। ईश्वरीय अनुभूति से उसका किसी भी प्रकार का साक्षात्कार नहीं है।

जहाँ तक कर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता का प्रश्न है, हम पाते हैं कि गीता के अनुसार हम दो प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकते हैं। पहला, अपनी प्रकृति में लीन सक्रिय मनुष्य का जीवन जिसमें अपने बाह्य और आन्तरिक उपकरणोंके साथ तदाकार और आवृत होकर प्रकृति से बँधा रहता है। इस स्थिति में वह प्रकृति द्वारा नियत कर्मों के लिए बाध्य है। जीव के इस स्वरूप को प्रकृति अद्भुत शक्ति से कार्य करने के लिए विवश करती है। वह स्वतन्त्रतापूर्वक उसे कुछ नहीं करने देती, उसे वह यन्त्रवत् कार्यान्वित करती है ( यन्त्रारूढ़ीन माया )।<sup>२</sup> शंकर के अनुसार इस स्तर पर काम करने वाला मनुष्य व्यावहारिक जगत् से सम्बन्ध रखता है और भ्रमवश जगत् के समस्त कार्यकलापों को सत्य समझता है। दूसरा जीवन आत्मा का है जो समस्त सांसारिक वस्तुओं से श्रेष्ठ है। यह निर्व्यक्तिक, मुक्त, विश्व-व्यापी अतिवर्ती है और जो असीम सत्ता से ममत्व स्थापित कर अपने सभी कर्मों को करती हुई भी अपनी मुक्त स्थिति एवं असीम से तादात्म्य होने के कारण सांसारिक मोह से परे रहती है।<sup>३</sup> गीता में मनुष्य को इतनी स्वतंत्रता है कि वह दोनों स्तरों में से किसी एक को भी चुन सकता है। वह चाहे तो अपनी ( व्यावहारिक ) प्राकृत सत्ता में रह सकता है अथवा उससे ऊपर उठकर असीम सत्ता में भी निवास कर सकता है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य यह निर्धारित किया गया है कि वह अपने को ईश्वरीय शक्ति में तदाकार कर दे। ईश्वर से परे रहकर उसका अस्तित्व एक अंधकार में भटकते हुए व्यक्ति की तरह है। ईश्वरवादी किर्केगाई इसी तथ्य को स्वीकार करता है, मनुष्य आत्मनिष्ठ चिन्तन से वेदना, दुःख, आत्मग्लानि आदि भावनाओं के बीच घिरा रहता है परन्तु उसे इसी प्रकार की पीड़ाओं के बीच ही आनन्द की प्राप्ति होती है। अभाव के क्षेत्र से ही धर्म का क्षेत्र प्रारम्भ होता है।<sup>४</sup> सिरें किर्केगाई आत्म-स्वातन्त्र्य की अनुभूति की ओर बढ़ते हुए अपने अन्दर

1. Therefore you can see that there is possibility of creating a human community. I have reappraised for suggesting that existentialism is a form of humanism.—Ibid., p. 54.

२. गीता, १८।६१।

३. अरविन्द : गीता प्रबन्ध, पृ० २६५।

4. In the religions sphere the positive is recognisable by the negative.  
—Concluding unscientific Postscript, p. 474.



[1972]

गीता में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अस्तित्ववादी आधार

195

ईश्वरीय सत्ता को अनुभव करता है लेकिन गीता में मनुष्य को ईश्वरानुभूति उस समय होती है जब मनुष्य अपना अहं (स्वत्व) ईश्वरीय सत्ता में समाहित कर देता है। असीम सत्ता से तादात्म्य स्थापित कर लेना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य कहा गया है और असीम में तदाकार होने के लिए स्व को मिटाना ही होगा। असीम में तदाकार हो जाने के पश्चात् किसी भी प्रकार की आत्म-स्वतंत्रता अनुभव करने की आकांक्षा नहीं रहती। वहीं आप में ही स्वतंत्र है। इसीलिए भारतीय चिन्तक वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रति अधिक चिन्तित नहीं दिखायी पड़ते। यदि स्वतंत्रता संबंधी चिन्तन किया भी गया है तो वह व्यावहारिक स्तर पर ही, आध्यात्मिक स्तर पर नहीं। इसी विचार की समानता गीता में परिलक्षित होती है। गीता संसार के व्यावहारिक स्तर पर मनुष्य को चयन सम्बन्धी स्वतंत्रता देती है पर गीता का ईश्वर (ब्रह्मन्) सर्वग्राही स्तर का कहा जा सकता है जो समस्त प्राणियों को जन्म देकर फिर उनको अपने में ही समाहित कर लेता है। एक तरह से कहा जा सकता है कि यहाँ यह नहीं माना जा सकता कि ईश्वर के अतिरिक्त भी किसी अन्य सांसारिक स्तर की सत्ता है, समस्त व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक क्रियाकलाप ईश्वर में ही होते हैं—कृष्ण का विराट् स्वरूप इस तथ्य को प्रमाणित करता है। ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में निवास करता हुआ सभी को अपनी इच्छानुसार घुमाता है।<sup>१</sup> ईश्वर ही समस्त कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता है।<sup>२</sup> 'उसके' अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है। इस स्थिति में हम पाते हैं कि मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए ईश्वरीय कृपा पर निर्भर है। जैसा कि श्लाएमारवर इस अनुभूति को पर-निर्भरता (feeling of dependence) की अनुभूति मानता है।

गीता का मनुष्य पूर्णतः ईश्वरीय इच्छाओं पर आश्रित है। यद्यपि गीता मनुष्य के सामने कर्म के चुनाव का मार्ग प्रस्तुत करती है पर अन्ततः वह यह भी सिद्ध कर देती है कि मनुष्य यदि कर्म न भी करना चाहे तो भी उसको उसके नियत कर्म करने के लिए विवश कर देगी।<sup>३</sup> ऐसी स्थिति में ज्ञानमार्ग इतना उपदेश दे सकता है कि अपने समस्त कर्मों को ईश्वरार्पण कर देने के लिए कहेगा।<sup>४</sup> जगत् में जो कुछ भी घट रहा है वह ईश्वर अपने संकल्पानुसार कर रहा है अतः ज्ञानी मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपना अस्तित्व (अहंकार और वृद्धि को) ईश्वर को समर्पित कर दे। गीता मानवीय कर्मों का प्रतिपादन न कर दिव्य कर्म का प्रतिपादन करती है, उसका कर्म मानवीय कर्मों, कर्त्तव्य अथवा सामाजिक कर्म नहीं है, वरन् सहज स्वभावानुसार ईश्वरीय संकल्प का अहंकार-रहित आचरण है। गीता सांसारिक संघर्ष क्षेत्र से ऊपर उठने का आदेश देती है। यह नैतिक एवं व्यावहारिक दोनों स्तरों से ऊपर है—यह ब्राह्मी स्थिति है। मात्र मानवीय स्तर पर किया गया कार्य (जो मानवीय संवेगों से संचालित हो) गीता को मान्य नहीं है। उसके अनुसार इस

१. गीता, १८।६१, १५।१५, १०।८।

२. गीता, ९।२४—'अहं हि सर्वज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'।

३. गीता, ३।३३, १७।६०।

४. गीता, १८।६१-६२।



प्रकार का किया हुआ कर्म मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। जब कि मनुष्य का परम लक्ष्य परम मोक्ष (ब्राह्मी-स्थिति) प्राप्त करना है। गीता मानव को मात्र मानव रूप में स्वीकार नहीं करती है (उसका लक्ष्य केवल सांसारिक अभ्युदय ही नहीं है) मानव को अपनी उन्नति के लिए दिव्य स्तर पर पहुँचना आवश्यक है। नीचों का महामानव इस दिव्य पुरुष से भिन्न है क्योंकि इस मानव का सीधा सम्बन्ध सामाजिक परिस्थितियों एवं वातावरण से है, जब कि गीता के दिव्य पुरुष का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है। आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य का अपना अस्तित्व ईश्वरमय हो जाता है। इस आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य स्वतंत्र है लेकिन उसे यह स्वतंत्रता स्वअस्तित्व समाप्त कर देने के बाद ही प्राप्त हो पाती है और अपना अस्तित्व समाप्त करने के बाद प्राप्त की गई स्वतंत्रता अपने वैयक्तिक रूप से कोई मूल्य नहीं रखती। अतः वैयक्तिक स्तर पर यह कहना कि गीता व्यक्ति को कर्म करने के चुनाव का अवसर प्रदान करती है भ्रम-मात्र कहा जाता है। आध्यात्मिक स्तर पर कर्मविस्था का नाश हो जाता है, अतः इस अवस्था में कर्म चयन स्वतंत्रता का प्रश्न नहीं उठता। इस अवस्था में मनुष्य ईश्वरीय चेतना में निवास करता है। गीता दर्शन में ब्रह्म और जीव अभिन्न एकत्व कहे गये हैं। जीव अज्ञान से ही अपनी सत्ता को उससे पृथक् देखता है। अरविन्द इस मानवीय अस्तित्व के लिए उचित मानवीय-चिन्तन और आत्मपरक जीवन का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। श्रीनिवास के० आर्यंगर अरविन्द-दर्शन को अस्तित्ववादी दर्शन के अन्तर्गत मानते हैं।<sup>१</sup> यद्यपि स्वयं अरविन्द अपने दर्शन को अस्तित्ववादी स्वीकार नहीं करते।

अरविन्द-दर्शन में भी मानव ईश्वर से पृथक् अपनी कोई सत्ता नहीं रखता। मानवीय प्रकृति ही निरन्तर ईश्वर की ओर अवरोहणावस्था में रहती है। श्री अरविन्द इस विचार से सहमत हैं कि गीता-दर्शन किसी सामाजिक जीवन को प्रस्तुत नहीं करता, उसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के आध्यात्मिक स्तर से है। वरन् सामाजिक ढाँचे को वे पूर्ण रूप से आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं। जब कि यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने अस्तित्व की स्थापना (रक्षा) व्यावहारिक स्तर (जगत्) में रहकर ही कर सकता है।

१. Adventures of Criticism, p. 673.



## अर्वाचीनजगति योगः\*

पं० केदारनाथ त्रिपाठी,

दर्शनविभागाध्यक्षः, प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान संकाय, का० हि० वि० वि०

“न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।”

उपर्युक्तविषयमवलम्ब्य किञ्चिन्निवद्धुकामस्य मे मनसि केचन प्रश्नाः समुदिता यदावर्जितातः करणो निबन्धमिमं प्रस्तोतुमुद्युक्तः । इतर विद्यानामिव योगविद्याया अपि भारतमेवाद्या भूमिरिति मन्यन्ते सर्वे विपश्चितः । यतो व्यवस्थितरूपेण योगस्य साङ्गोपाङ्ग-वर्णनमितैव क्रियमाणमुपलभ्यते पातञ्जलदर्शनादिरूपेण । योगिनोऽपीतैव भूयांसोऽभूवन् । किन्त्विदानीं सिद्धान्तरूपेण समुपलभ्यमानापीयं विद्या कालप्रभावात् क्रियारूपेण लुप्तप्रायेति निश्चप्रचम् । अतः कथंकारमस्या विद्यायाः पुनरुद्धारो भवेदित्ययमेव प्रमुखः प्रश्नोऽस्माकं समक्षमास्ते । अथ च को योगः ? के च तदुपायाः ? किञ्चेदानीन्ततो लौकिकं पारलौकिकञ्च प्रयोजनं संसाधितं भवेदित्यादयोऽपि विषयाः सन्ति विवादास्यदीभूताः । त एवात्र विचार्यन्ते विभिन्नदृष्टिभिः ।

तत्र युजियोगे, युज् समाधौ इति धातुद्वयाद् योगशब्दो निष्पत्तुमर्हति । किन्तु योगार्थकयुज्धातुः साधारणं व्यवहारविषयीभूतं योगं प्रतिपादयति, समाध्यर्थको युज्धातुस्तु कञ्चिद्विशिष्टं योगं प्रतिपादयति, यत्र सर्वापि योगप्रक्रिया गमिता प्रतीयते । तस्मात् समाध्यर्थकयुज्धातुप्रकृतिक एवायं योगशब्द इति मन्तव्यम् । अतएव भगवान् पतञ्जलिः को योगः ? अर्थात् कः समाधिरिति प्रश्नाभिप्रायेणैव सूत्रयाञ्चकार—“योगश्चित्तवृत्तिनिरोध” इति । सामान्ययोगस्य ( संयोगस्य ) तु सर्वविदितत्वात् तद्विषयजिज्ञासायाएवानुदयाद् योगानु-शासनं शास्त्रमुन्मत्तप्रलापयितं स्यात् । एवं समाध्यर्थकत्वे साधारणयोगार्थोऽपि घटत एव—जीवात्मपरमात्मनो योगो वा, जीवशिवयोर्योगो वा, शिवशक्त्योर्योगो वेति ।

युज्धातोर्भावि घञ्प्रत्ययनिष्पन्नो योगशब्दाश्चित्तवृत्तिनिरोधात्मकं समाधि जीवात्म-परमात्मयोगादिकं वार्थमाट, करणे घञ्प्रत्यय निष्पन्नस्तु तत्साधनभूताद् योगात्ताह । ते च साधनभूता योगा मुख्यगौणभेदेनानेक विधा भवन्ति । यथा—क्रियायोगे, मन्त्रयोगे, जपयोगे लययोगः प्राचीन मार्कण्डेयस्य ) हठयोगो नवीन ( मत्स्येन्द्रनाथस्य ) हठयोगो राजयोगः, कुलकुण्डलिनीयोगोऽकुलकुण्डलिनीयोगो भक्तियोगः प्रपत्तियोगो निष्कामकर्मयोगः पूर्णयोगश्चेति ।

गीताकारा वर्तमानमहापुरुषाश्च सामान्यतो योगं त्रिधा विभजन्ति कर्मज्ञानभक्तियोग-भेदः । एतदभिप्रायेण कर्मज्ञानभक्तिद्वारैः परमात्मसम्बन्धोऽधिगम्यते । एतेषु त्रिविधयोगेषु लोककल्याणमपि निहितमस्ति । किन्तु प्राचीनयोगग्रन्थेषु हठयोग लययोग राजयोगनामका स्त्रिविधा योगा दृश्यन्ते । एषु हठयोगिनो नेतिधौति वस्तिकपालभातिमुद्रासनप्राणायामादिभिः शारीरक्रियाभिः शरीरं स्वस्थं बलिष्ठं यथापेक्षं कार्यशीलञ्च सम्पादयितुं भृशं यतन्ते इति ।

\*निबन्धोऽयं दिल्लीनगरे विश्वसंस्कृतसम्मेलने मार्च, १९७२ वत्सरे पठितः ।



लययोगिनश्च समस्तकामनावासनाऽऽसक्तिसङ्कल्पविकल्पजालैर्मुक्ता भूत्वा चित्तञ्च वृत्तिशून्यं विधाय शान्तावस्थाधिगमा चेष्टन्ते । तेषां विश्वासानुसारं नित्यसिद्धं स्वयंप्रकाशमात्मतत्त्वं शुद्धे शान्ते च चित्ते स्वयमेव स्फुरतीति । राजयोगिनस्तु देह तत्त्वं मनस्तत्त्वमात्मतत्त्वञ्च सम्यग् विज्ञाय स्वरूपे स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितास्सन्तः पिण्ड ब्रह्माण्डयोः स्वामिभूता देहेन्द्रियादिषु प्राप्ताधिकाराः सर्वमिदं यन्त्रं स्वेस्वे कार्ये भगवदिच्छापरिपूरणाय सन्नियोज्य स्वतन्त्रो राजेव विराजतेतराम् ।

आसनाद्यङ्गभूतयोगमन्त्रयोग जपयोगादियावद्योगप्रणालय एष्वेव त्रिविधयोगेऽन्तर्भूताः सन्ति ।

### जैनागमे योगः

पुजेः समाधिवचनस्य योगः, समाधिर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम् (तत्त्वार्थवार्तिकम् ६।१ १२) । एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् (तत्त्वार्थ सूत्रम् अ० ९ सु० २७) । यतेऽस्मिन् आत्मनो वैभाविकपरणमनमत्यन्तं दूरीकृत्य तस्य स्वीये शुद्धस्वरूपेऽवस्थापनमेव स्वस्वभावोपलब्धिः सिद्धिः मुक्तिरिति च कथ्यते, तदर्थञ्च यत्नो विधीयते । स च यतः स्व शुद्धस्वरूपं प्राप्तानां सिद्धानां ध्यानादिविधिनोपासनमेव । स्थिरात्मतत्त्वध्यानेनैव जीवनं सफलं भवति । तदुक्तं योगसार प्राभूते—.....ध्यात्वाऽऽत्मतत्त्वं स्थिरम् । तेषां जन्म च जीवितञ्च सफलम्..... (अधिकरः ९ श्लोक ८२) । अपरञ्च—मूलच्छेदे (पुण्यपापद्वयच्छेदे) विवर्त्तितं वियदिवविमलं ध्यायति स्वस्वरूपम् (८१) ।

एवम्—धुनाति क्षणतो योगी कर्मावरणमात्मनि ।

मेघस्तोममिवादित्ये पवमानो महाबलः ॥

विविक्तात्मपरिज्ञानं योगात् संजायते यतः ।

स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः ॥

निरस्तमन्मथातङ्कं योगजं सुखमुत्तमम् ।

शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्यु जरापहम् ॥ अ० ९ श्लो० ९, १०, ११ ।

निषिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीतचेतसः ।

तद्रूपं स्पष्टमाभाति कृताभ्यासस्य तत्त्वतः ॥ अ० १ श्लो० ४५ ।

शुष्काशुष्का यथावृक्षा हृन्ते दववह्निना ।

पक्वापक्वास्तथा ध्यानप्रक्रमेणाद्यसञ्चयाः ॥ अ० ६ श्लो० ३ ।

आत्मतत्त्वरतो योगी कृतकलमषसंवरः ।

यो ध्याने वर्तते नित्यं कर्म निर्जीर्यतेऽमुना ॥ अ० ६ श्लो० ५ ।

एभिर्वचनैर्योगस्वरूपे तत्फले च प्रकाशोऽधिगम्यते ।

### बौद्धेषु योगः

प्राचीनो बौद्धयोगः पातञ्जलयोगेन बहुधासाम्यं भजते । भगवान् बुद्धयो महान् योग्यासीत् इत्यत्र नास्ति सन्देहः । स च समाधिं सिद्धिञ्चोभे अपि उपदिदेश । तत्सम्बन्धे



1972 ]

अर्वाचोनजगति योगः

199

वर्णनमिदमुपलभ्यते यत् समाधेरुच्चतमावस्थायामेवास्य सिद्धिरुपाजायत । किन्तु बौद्धधर्मस्य मूलसिद्धान्तेषु उच्चतम कोटिकस्य ध्यानस्य तुलनायां सिद्धीनां स्थानं महत्त्वपूर्णं नास्ति । नवा निर्वाणलाभाद सिद्धयः आवश्यक्योऽभ्युपगम्यन्ते । सिद्धयस्तु कतिपयानां स्वभावतो विषयलोलुपानां योगाभ्यासिनामानुपङ्गिकफलरूपेण प्राप्यन्त इति मन्यते । सिद्धीः प्रति भगवतो बुद्धस्यापि नादर बुद्धिरासीदित्यपि निश्चितमेवास्ति । यद्यपि स स्वोयं महामोग-  
लायन नामानं शिष्यं सिद्धिप्राप्तपुरुषेष्वग्रगण्यम्, अनिरुद्धञ्च दूरदृष्टिसम्पन्नपुरुषेषु श्रेष्ठं तथा पन्थकाभिधानं शिष्यं च बहुकाय निर्माणे प्रमुखमभिदधानस्तान् प्रशंसति स्म । किन्तु स सहैव पिण्डोलभरद्वाजमिति हेतोर्भृशमभत्संयदयदसौ कस्यचिद् गृहस्थस्य वचनमनुकूय वाया वृद्धीयत । भगवान् बुद्धः स्वानुयायिनां संख्यावृद्धयर्थं सिद्धिप्रदर्शनं नामोपायं जघन्यममन्यत । तथा विनयारत्यआचारग्रन्थे भिक्षूणां कृते आदेशोऽयमासीद् यन्ते गृहस्थानां समक्षं सिद्धीनां प्रदर्शनं नैवकुर्वीरन्निति ।

किन्त्वेवमपि लोककल्याण तत्त्वसाक्षात्कारादि प्रयोजनेभ्यः सिद्धीनां भूयानुपयोगो भवितुमर्हतीति स्वीकारे न कापि विप्रतिपत्तिः । यतो हि कस्यापि रहस्यभूत तत्त्वस्य निश्चयार्थं एको उपयुज्यन्त इति सर्वं विपश्चित्साधारणी मान्यता वरीवर्ति तथापि तर्क-  
निर्धारितमपि वस्तु प्रबलतरैस्तर्कान्तरैरन्यथाक्रियन्त इत्यप्यस्त्यनुभवसिद्धम् । अतो जगद्रहस्य-  
साक्षात्कारः स्वयं कर्तव्यमिति कारणात् तदर्थं योगसाधनैवैकमात्रोपायो वर्तत इति । अतएव बुद्धस्याप्यास्फानकसमाधेरभ्यासादेव बोधोऽभूदित्यास्ति प्रसिद्धिः ।

बौद्धेधेषु तन्त्राणामाविर्भावो राजयोगस्य हठयोगस्य च मूलमितावेवाभूत् । एतदुभय-  
विधयोगसाधनानां दिग्दर्शनं “गुह्यसमाजतन्त्र” नामके ग्रन्थे समुपलभ्यते । ग्रन्थोऽयं सभवतः  
तृतीय शताब्द्याअस्ति ( गायकवाड प्राच्यग्रन्थमालायास्त्रिपञ्चाशत्तमं पुष्पम् ) । अत्र योगस्य  
षडङ्गानि वर्णितानि सन्ति । यथा—प्रत्याहारो ध्यानं प्राणायामो धारणाऽनुस्मृतिः समाधि-  
श्चेति । अयं हि साक्षात्कारो पायस्य प्रथमो भेदोऽस्ति य उक्तमसेवेत्युच्यते । अथमेव  
च राजयोगः ।

द्वितीयश्चोपाय उपसाधनमुच्यते, स च न प्रमुखः । अस्य चाधारो हठयोगोऽस्ति ।  
यदि हि राजयोगतो नेष्टदेवः साक्षात्क्रियते तदा हठयोगस्याभ्यासोऽनुष्ठेयः । तन्त्रोक्तं तृतीयं  
प्रमुखसाधनं सा क्रिया वर्तते यद् द्वारा साधकः स्वामीष्टदेवस्य दर्शनार्थंभुदयुक्तो भवति । स  
चैष्टदेवः तत्साधकवाञ्छितां सिद्धिं प्रापयति । बौद्धेषु लीला ब्रज नामकेनाचार्येण ( विक्रम-  
शिला ) एव मन्त्रबलेन तुरुष्काणामाक्रमणं निष्फलं कृतमासीत् । आचार्य कमलरक्षितश्च  
निजयोगबलेन तुरुष्काणां पञ्चशतीं दूरमुत्सार याञ्चकार । अनेनाचार्येण तुरुष्कसैन्योपरि  
पूर्णकुम्भः प्रक्षिप्तो येन रक्तमुद्रमन्तस्तुरुष्काः प्राणानादाय प्रपलायिताः ( द्रष्टव्या सरस्वती  
१९११ ) । १२०२ ख्रीस्ताब्दे बख्तियार खिलजीद्वारा विक्रमशिलानगरी भृशं लुण्ठिता तत्रत्यो  
विशालग्रन्थसङ्ग्रहश्च प्रज्वालितः । तत एव बौद्धतान्त्रिकाः भारताल्लुप्ताः अवशिष्टाश्च त्रिविध-  
पादिषु प्राप्ताइतीहासतो विज्ञायते । तथापि बौद्धेषु योगमहत्त्वं प्रकामं स्वीकृतमासीदिति  
निश्चीयत एव ।



### ख्रीस्त्वधर्मे योगस्य स्थानम्

अत्रापि धर्मे योगस्यार्थोऽस्ति निजेश्वरेण सह सम्बन्धः ईसामसीहेनोक्तम्—“अहं मम पिता च वस्तुत एक एव स्वः” इति ( I and my father are one. ) अत्र नाद्वैतार्थो विवक्षितस्तथा सति मम पितेति द्वैत प्रयोगो न भवितुं शक्नुयात् । अर्थात् आवयोर्धनिलः सम्बन्धो वर्तते न त्वभेदः । परमात्मना सहैकताया अयमर्थः ईश्वरेच्छेव मम जीवनस्य सञ्चालिका पथप्रदर्शिकास्तीत्यतो निजात्मानमोश्वरस्य मनसा विचारेण च योजयेदिति । महात्मना पालेनोक्तम्— ( I live and yet no longer, but Christ liveth in me. ) अर्थात् अहं जीवामि, परन्तु नेदानीम्, मयि तु ईसामसीहो जीवतीति । इत्थञ्च ख्रीस्त्वधर्मे परमात्मना पूर्णसाहचर्येणैव योगोऽस्ति । यद्यपीसामसीहस्य जीवने योगसम्बन्धिनीनां साधनानां न कश्चिदुल्लेखो मिलति, तदृष्टौ ध्यानस्यापि किमपि बाह्यं साधनं नास्ति, तथापि मनोवृत्तेरनवरतं भगवदुन्मुखीकरणेनैव योगः, यतश्च सनातनसत्येन स्वसान्निध्यमनुभूयेत । प्रार्थना निर्भरतावश्यता-प्रेमाण्येव हि योगसाधनानि, यानि परमात्मना सहाधिकाधिकाहचर्यापादने सहायकानि मन्यन्ते ईसामसीहेनेति । एतदतिरिक्तसाधनरूपेणोपवासस्यापि महत्त्वमङ्गीकरोति ।

रमण महर्षेर्योगः

हृदयकुहरमध्ये केवलं ब्रह्मात्रं ।

ह्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति ॥

हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा ।

पवन चलन रोधादात्मनिष्ठो भव त्वम् ॥ (रमणगीता)

निदिध्यासनस्यानेके सन्ति प्रचलिताः प्रकारास्तेषु पञ्चविध प्रकाराः विशिष्टाः सन्ति—महायोगः, मन्त्रयोगः, स्पर्शयोगः भावयोगः अभावयोगश्चेति । तस्मिन्नन्तर्यामिनि सदात्मनि स्थितिरेव महायोगोऽस्ति । महायोगस्य यत्साध्यमस्ति तदेवास्य साधनमप्यस्ति । साधकेन केवलं स्वविचाराणां बाह्यप्रवाहमवरुध्य “कोऽहमस्ति” इति मूल विचारे आगन्तव्यं भवति । अयं मूल विचार एव तं दृक्चक्रे प्रापयति । तस्मिन्नेव च साधकेन स्थितिः करणीया भवति । यतस्तत्रैव सनातनात्मसत्ता वरीवति । महायोगस्य मार्गः सरलो निर्बाधश्चस्ति । अन्यसाधनानि कठिनानि कष्ट साध्यानि च सन्ति ।

मन्त्रयोगे च स्वराणां मूलमात्मनि अन्वेषणीयं भवति । स्पर्शयोगे कुण्डलिनिमुदबोधय सुषुम्नाद्वारा सहस्रारचक्रे तां नयन्ति । भावयोगे च “भूर्यस्य पादौ, नाभिर्वियत्, असुरनिलः, चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे” इत्यादि—भावानां ध्यानं करणीयं भवति । अभावयोगे च परब्रह्मणो ध्यानं करणीयं भवति । पूर्वोक्तो महायोगमार्गः सरलोऽवगम्यमानोऽपि आचरणे दुष्करो भगवत्कृपासापेक्ष उत्तम गुरु सापेक्षस्य वर्तते ।

महर्षेः रविन्दस्य योगः

महर्षेः रविन्दस्य मतानुसारं योगमार्गस्य लक्ष्यं न केवलं सामान्यसांसारिकाद् देहात्म-भावादूर्ध्वमुत्थाय परमात्मभावाधिगमात्रमस्ति । प्रत्युत परमात्मभाव विज्ञानमेवास्मिन् तम आत्मके मनसि बुद्धौ प्राणेषु समस्ते जीवने चावतार्यते । एषु भगवतः प्रकटीकरणं जडपार्थिव-स्वरूपे च दिव्यजीवन निर्माण मेवास्य लक्ष्यमस्ति ।



1972 ]

अर्वाचीनजगति योगः

201

अस्य योगसाधनायाः कश्चिन्निर्धारितो मानसिकाभ्यासक्रमो, ध्यानस्य वा कश्चिन्निश्चितः प्रकारो, मन्त्रस्वतन्त्रं वा नास्ति । किन्तु साधकस्य प्रबलारोहणेच्छया, साधकस्यान्तर्बहिर्वा परमात्मध्यानेन च अस्य दुपरि वर्तमानस्य भगवतः प्रभावमिमुखं, तदीयकार्यामिमुखं तथाऽस्मद्बुद्धयेऽपि वर्तमानस्य भगवतः सत्तामिमुखं च निजस्योन्मुखीकरणादेतद्योगसाधनायाः प्रारम्भो भवति । एवंविधा भगवदुन्मुखता श्रद्धाविश्वासाभ्यामारोहणेच्छयाऽऽत्मसमर्पणेनैव च जायते । अस्मद्योगो नास्मदर्थं प्रत्युत भगवदर्थमस्ति । योगसाधनाद्वारा न वयं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रे सर्वबन्धविनिर्मुक्तस्वरूपे आत्मनोऽभिव्यक्तिं सम्पादयामः किन्तु स्वयं भगवानेवास्मासु अभिव्यक्तो भवति । साधनाद्वाराऽस्माकं मुक्तिः पूर्णकामना परिपूर्णता वा अस्मासु भगवदभिव्यक्तेरेव परिणामोऽस्ति । स च परिणामो भगवदर्थमेव भवति नास्मदर्थम् । तस्यै च भगवमभिव्यक्ति-परिणामभूतायै मुक्तये एकस्तथाभूत आभ्यन्तरोऽभ्यास आवश्यको यश्च केवलसदाचारापेक्षया कृच्छ्रचान्द्रायणादिकायिकतपोऽपेक्षया च निश्चितमेव विशेषेण कठिनोऽस्ति ।

एतदीय साधनायाः पक्षद्वयमस्ति । भगवच्छक्तेरवतरणाय निजपूर्वागतायाः निम्नप्रकृतेः शोधनं कृत्वा बाधानामयाकरणं क्रियते इत्ययमेकः पक्षः द्वितीयश्च पक्षो भावात्मकः परशक्तेरवतरणानुभवरूपः । अयमेव मुख्यः पक्षः साधनायाः । तथ्यमिदमस्ति यद् यावत्या मात्रया निम्नप्रकृतेः शुद्धिर्भविष्यति तावत्यां मात्रयां परप्रकृतेरवतरणं सुकरं भविष्यति । परमिदन्तु ततोऽप्यधिकसत्यं यत् परप्रकृतेर्यावदवतरणं तावदेव निम्नप्रकृतेर्नैर्मल्यं भविष्यतीति । न हि पूर्णा शुद्धिर्न वा । पूर्णावतरणं च सहसैव जायते किन्तु निरन्तरधैर्येण दीर्घकालात् क्रमश एव भवतः । चित्तस्य शुद्धिर्भगवच्छक्त्यवतरणञ्चेत्येतद् द्वयमपि सह जायमानं प्रत्यहंमधिकाधिक-स्थैर्यं दृढतया च परस्परमालिङ्गति । साधनाया अयं सामान्यक्रमः । एवंविधा स्थिति दिव्यीकरणमाचक्षते ते । एवंविधोऽभ्यासो महर्षेररविन्दस्य योगस्य प्रथमं सोपानमस्ति ।

मानवजीवनं पीतलपात्रवद्वर्तते तच्च पात्रं येन विधिना सुवर्णतया परिणमयितुं शक्येतः स एव विधिररविन्दमहर्षेः पूर्णयोगोऽस्ति । किन्तु केवलया मनुष्य चेष्टया तथा सम्पादयितुं न शक्यतेऽतो मनुष्यो निजसाधनाद्वाराऽऽत्मनि तादृशपरिणामयोग्यतां सम्पादयति । परिणाम-सम्पत्तये तु उपरिष्ठात् पारसमणेः स्पर्श आवश्यको मन्यते । श्रीमदरविन्दो योगलब्धया दिव्य दृष्ट्याऽपश्यद् यत् स दिव्यस्पर्श उपरितोऽवतरति निकटवर्ती चास्तीति । मनुष्येण तु केवलं निजान्तःकरणे तद्विव्यस्पर्शमधिगन्तुं तीव्रोऽमिलाषो जागरचितव्यः तद्विव्यस्पर्शं धारयितुं च देहप्राणमनांसि संशोध्य प्रस्तुतीकरणीयानि ।

अनन्तरं सदात्मनोऽनुभूतिर्भवति । सदात्मनोद्वैस्वरूपे भवतः । एक आत्मा, द्वितीय-श्रान्तरात्मा हृत्पुरुषः । आत्मानुभूती आत्मा विश्वव्यासतया प्रतीयते । अन्तरात्मा तु व्यक्ति-विशेषस्य मनःप्राणशरीराणि धारयन् व्यष्टिपुरुषतया प्रतीयते । आत्मानुभूती योगी आत्मानं सर्वपदार्थेभ्यः पृथक् निजस्वरूपेऽवस्थितं, संसारे सर्वथाऽसम्पृक्तं पश्यति । परन्तु अन्तरात्मानुभूती स भगवता सहैकत्वं पश्यति स्वात्मनि तामेव भगवच्छक्तिमनुभवति । इदमेव भगवच्छक्त्यवतरण-मित्युच्यते । इहैव अहन्त्वस्याहङ्कारात्मकस्य कार्यं परिसमाप्तं भवति । तदानीं तस्योपयोगिता नावशिष्यते तस्या वसानञ्च जायते । अहङ्कारस्य स्थाने सदात्मनोऽनुभूतिर्भवति । यतो हि सदात्मनः प्राप्तेरर्थात् एकीकरणस्थितेः प्रागेवाहंभाव आवश्यको भवति न सदात्मानुभूतो जातायामिति ।



एतदनुसारं योगिनः साधना न योगिनः कृते भवति किन्तु स्वस्मिन् भगवच्छक्त्य-  
वतरणार्थमेव भवति । सा च तस्मिन्नवतीर्णा भगवच्छक्तिस्तन्माध्यमेन जगत्कल्याणाय  
कल्पत इति ।

पाश्चात्यदृष्टौ योगस्य कुण्डलिन्याश्चविचारः तत्र मैडेमब्लैवेट्स्कीविचार वैशिष्ट्यम् ।

पाश्चात्याः कुण्डलिनीम् सर्पवत् वलयान्विताग्निरिति ( Serpent fire ) कथयन्ति ।  
ऋषिशिष्या मैडेम ब्लैवेट्स्कीमहोदया इमां विश्वव्यापिविद्युच्छक्तिरिति ( Cosmic  
Electricity ) कथयति स्म । यतो हि इयं कुण्डलिनी विश्वप्रसिद्धविद्युताम् सजातीया  
एकात्यन्तप्रचण्डा शक्तिरस्ति ।

"Kundalini is called the serpentine or annular Power, on account  
of its spiral like working or progress in the body of the ascetic,  
developing the power in himself. It is an electric fire occult or fohatic  
power the great pristine force which underlies all organic and  
inorgainc matter.

अर्थात् कुण्डलिनी सर्पाकारा वलयान्विता वा शक्तिरुच्यते यतो हि अस्या गतिवलय-  
याकार सर्पस्येव भवति । योगाभ्यासिनो यतः शरीरे चक्राकारा चलन्तीयं कुण्डलिनी तस्मिन्  
यतौ शक्तिमेधयति । इयमेका वैद्युती तेजोमयी गुप्ता शक्तिरस्ति । इयं सा प्रावतनी शक्ति-  
रस्ति या सेन्द्रियस्य निरिन्द्रियस्य वा सृष्ट पदार्थमात्रस्य मूले भवति ।

( The Voice of the Silence, p. 27 )

अस्याः कुण्डलिन्या गतिः प्रकाशस्य गतेरपेक्षयाऽपि अतितीव्रा भवति । मैडेम ब्लैट्स्की  
कथयति—

Light travels at the rate of 185000 miles a second, Kundalini  
at 345000 miles a second.

अर्थात् प्रकाशः प्रतिपलं पञ्चाशीति सहस्राधिकै कलक्ष मीलगत्या चलति कुण्डलिनी च  
प्रतिपलं पञ्चचत्वारिंशत्सहस्राधिकलक्षचद मीलगत्या चलति ।

अस्याः सम्बन्धे तन्त्रसारे लिखित मस्ति—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधार निवासिनीम् ।

तामिष्ट देवतारूपां सार्धत्रिवलयान्विताम् ॥

कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भुलिङ्गवेष्टिनीम् ।

तामुत्थाप्य महादेवीं प्राणमन्त्रेण साधकः ॥

प्रकृते रहस्यमय विधानानुसारं प्रचण्डशक्तिरियं मूलाधार चक्रे सुप्तेव तिष्ठति ।  
मानवशरीरे स्थूलशरीरस्य विशिष्टैः प्रत्यङ्गैः सम्बद्धानि चक्रवद्भ्रमणशीलानि षट्  
शक्तिकेन्द्राणि सन्ति । तेष्वेव चक्रेषु मूलाधारचक्रमन्यतममस्ति । षट्चक्राण्येतानि नाम्ना  
निर्दिष्टानि सन्ति—



1972 ]

अर्वाचीनजगति योगः

203

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम् ।

विशुद्धञ्च तथाऽऽज्ञा च षट्चक्राणि विभावयेत् ॥ इति ।

चक्राणां सम्बन्धे हडसनमहोदयेन कथितम्—

They are the forces-centers in the human body and are so called, because to clairvoyant sight they have the appearance of spinning vortices. They are the six plexuses in the heart of this Chakram lies the serpent fire ( Kundalini ) and there it sleeps throughout the ages until the time is ripe for it to be roused. Hudson—

अर्थात् एतच्चक्रान्तस्तले सर्पाकारा कुण्डलिनी निवसति, सा च तत्र युगानुयुगं सुषुप्तिं तिष्ठति, यावच्चक्रास्या जागरणकालो नोपावर्तते ।

यदाचेयं कुण्डलिनी मेखवंशतो भूत्वोपरि सर्पति तदैकैकं चक्रमुत्थापयन्ती सती चलति । अनेन च तानि तानि चक्राणि समुद्धाटितानि भवन्ति, भौतिकोत्तर जगतो भौतिक-जगत्पर्यन्तं मार्गश्चोद्धाटिता जायन्ते । इत्यञ्च कुण्डलिनीजागरणेन भौतिकोत्तर क्रियाणां साधनानि समुपतिष्ठन्ते, पुरुषस्य सर्वा अपि शक्तयः प्रकटीभवन्ति, तासामुपयोगश्च शक्यते कर्तुमिति । एवं स्थितौ जातायामपि मनुष्यो निजभौतिक शरीरे जागरन्नवतिष्ठते । तस्य साधकस्य भौतिकभौतिकोत्तर जगतोस्तुल्यमाधिपत्यमुपजायते ।

मूलाधारदुपरि स्वाधिष्ठानचक्रं भवति, यस्य स्थानं प्लीहाया निकटेऽस्ति । स्वाधिष्ठानादुपरि च मणिपूर चक्रमस्ति, अस्य च स्थानं नाभिरस्ति । एतत्सम्बन्धे ब्लैवेट्स्की कथयति—

There are three principal centres in man—the heart, the head and the navel.

अर्थात् मनुष्य देहान्तः त्रीणि प्रधान केन्द्राणि भवन्ति—हृदयं मस्तिष्कं नाभिश्चेति ।

स्वाधिष्ठानमणिपूरयोर्बिन्दो कुण्डलिनीद्वारा प्रज्वलनं भवति तदा जीवनक्रमो बलयुक्तो नवशक्तिसम्पन्नो नियतश्च जायते । एतदतिरिक्तं स्वाधिष्ठानचक्रे प्रदीप्ते सति मनुष्यः सूक्ष्मता-लोके स्वच्छन्दविहरणाधिकारमर्जयति, मणिपूरचक्रस्य प्रदीप्तौ सत्याञ्च साधकेऽधिकमात्राया-मात्यरक्षायाः क्षमता वृद्धिगता भवति । अर्थात् मनोविकारेषु सज्ज्ञानं प्रभुत्वं प्राप्तं भवतीति ।

मणिपूरादूर्ध्वं विद्यमानस्यानाहतचक्रस्य स्थानं हृदय मस्ति । तदुक्तम्—“हृत्पदमकोषे विलसत्तडित्प्रभम्” । एतच्चसाईसाधकागुसगुला ( Mystic rose ) इति वदन्ति । यथा—

The petals, of which open only after the child has been born in the heart.

अर्थात् तस्य गुसगुलावपुष्पस्य दलानि तदा विकसन्ति यदा च हृदये ईसारूपो बालक उत्पद्यत इति । इदमेव हि चैनिकं ( चीनदेशे प्रसिद्धम् ) कनककमलमस्ति । अस्मिन्ननाहतचक्रे समुद्भासिते सति मनुष्यबुद्ध्यतिशायिनी याज्ज्न्तदृष्टि ( Intuition ) रस्ति, तस्या उद्भवो भवति ।



It becomes the organ of intuition through it flows the power of intuitional world.

अर्थात् अयमनाहतचक्रोद्बोधोऽन्तर्दृष्टेः कारणतां प्रतिपद्यते । एतद्द्वारा बोधिजगतः शक्तयः प्रवाहिताः भवन्तीति ।

अनाहतचक्रादुपरि विशुद्धिचक्रमस्ति, यस्य स्थानं कण्ठमस्ति । आधुनिकविज्ञाने ( Thyroid gland ) थिरायड ग्लैण्डस्याद्भुतकार्याणामाविष्कारोऽपि अनेन विशुद्धिचक्रेण सह संलग्नोऽस्ति । अस्मिन् विशुद्धिचक्रे प्रज्वलिते सति साधका दिव्यश्रुतिं प्राप्नोति । यथोक्तम्—

Throat Chakram when vivified bestows the faculty of clair-voyant.

विशुद्धिचक्रदुपरि आज्ञाचक्रमस्ति । अस्य स्थानं भ्रूमध्यमस्ति । चक्रमिदं द्विदलमस्ति । एकं दलं पाश्चात्य विज्ञाने Pineal gland ( पाइनियल ग्लैण्ड ) तथा द्वितीयं दलं Pituitary body ( पाइट्यूटरी बॉडी ) इत्युच्यते । साधारण जीवन विज्ञानग्रन्थेषु एतद्ग्रन्थिद्वयं मानव-देहान्तरमुत्पन्नं निरर्थकं मांसनिर्मितं पिण्ड द्वयमस्तीति प्रतिपादितमस्ति । अध्यापकविचेमहोदयस्तद् दलद्वयं कपिशबालुकामृतं कठोरं मांस—पिण्डद्वयमुक्त्वा तदुपैक्षिष्ट । यथा—

Two horny warts covered with gray sand. इति :

किन्तु मैडम ब्लैवेट्स्की महोदया ध्यानपूर्वकं तां बालुकामेकदा निरिक्ष्योक्तवति—

The sand is very mysterious and baffles the enquiry of every materialist.

अर्थात् अस्यां बालुकायाम् अत्यन्त रहस्यं निगूढमस्ति येन समेषां जडवादिनां बुद्धिस्तब्धेव भवति ।

यस्मिन् क्षणे कुण्डलिनी शक्तिर्जागरिता सती सुषुम्नामार्गेणास्मिन् आज्ञाचक्रे प्रविशति, तस्मिन् क्षणे डा० हड्सनमहोदयानुसारं कुण्डलिनीदं ग्रन्थिद्वयमित्थं संचालितं करोति, येनैका ग्रन्थिर्घनात्मकगतियुक्ताऽपरा च ऋणात्मकगति युक्ता सती ते द्वे अपि ग्रन्थौ अतितीव्रतया चलन्त्यौ परस्परं सम्मित्यैकचक्रतां धारयतः ।

अस्मिन् प्रसङ्गे योगसिद्धा श्रीमती ब्लैवेट्स्की महोदया लिखति—

The pulsation of the pituitary body mounts upward more and more until the current finally strikes the Pineal gland and the dormant organ ( आज्ञाचक्र ) is awakened and set all glowing with the Pure Akashie fire ( कुण्डलिनी ) ।

अर्थात् एतद् ग्रन्थि द्वयेऽधस्तन्याः ग्रन्थेः स्पन्दनमधिकाधिक मुपरितो भवदन्ते चे । परितन्यां ग्रन्थौ आघातं करोति । तदानीं सुप्तमाज्ञाचक्रं जागरितमुत्तिष्ठति तथा विशुद्धाकाशाग्निना ( कुण्डलिन्या ) भृशं विद्योतमानं सम्पद्यते । इदमेव प्रज्वलितमाज्ञाचक्रं शिवनेत्रमस्ति । तस्मिन्नुन्मोलिते सति साधकस्यम्बको भवति । इदमाज्ञाचक्रमेव दिव्यदिष्टेर्मूलभूतं यन्त्रमस्ति । एतस्यैव साहाय्येनाणिमाद्यष्टसिद्धयः प्राप्यन्ते ।



1972 ]

अर्वाचीनजगति योगः

205

आज्ञाचक्रदुर्व्वं ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रार चक्रं भवतिष्ठते । आज्ञाचक्रमुदमास्य कुण्डलिनी सहस्रार चक्रं मुपतिष्ठति । एतत् सहस्रारस्य प्रज्वलितत्वसम्पादनमेव कुण्डलिनीसाधनायाश्चरमः सीमाऽस्ति । सहस्रारचक्रं यदा पूर्वरूपेण जागरितमुत्तिष्ठति तथा देहाभिमन्यात्मा यथेच्छं देहात् स्वयं निर्गमयितुं पुनरावर्तयितुञ्च शक्नो भवति । एवं स्थितावपि चित्ते चैतन्यं वर्तमानं तिष्ठति । अयं स्वच्छन्दो विहार एवोपनिषत्सु कामचार उक्तः—“तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।”

तान्त्रिक्यां भाषायामिदमेव कथयितुं शक्यते यत् अस्मिन् कुण्डलिनी देवी सहस्रारे सदाशिवेन सङ्गता भवति, इयमेव हि सर्वज्ञतासिद्धिर्योगिनाम तथा च योगसूत्रम्—“तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजज्ञानम् ।”—३।५४ ।

इमामेवावस्थां वर्णयति चैनिकयोगदीपिका—

The body and heart are completely controled and one is quite free and at place, letting go all entanglements, untravelled by the slightest excitement, with Heavenly Heart exactly in the middle.

अर्थात् तदानीं मनुष्यस्य पूर्णाधिकारो देह चित्तयोर्भवति । स च सर्वथा सर्वावस्थासु स्वच्छन्दः सुखासीनश्च भवति, सर्वाणि बन्धानि छिन्नानि जायन्ते, क्षोभस्य नामापि नावशिष्यते । इयमेव योगस्य चरमसिद्धिरस्ति एतामेवावस्थामभिलक्ष्य छान्दोग्योपनिषदुक्तम्—“एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभितिष्ठते” इति ।

मेस्मेरिज्म हिप्नाटिज्मयोर्योगस्य च तुलनात्मको विचारः ।

मेस्मेरिज्महिप्नाटिज्मौ मनस एकाग्रताया एव प्रकारविशेषौ स्तः । मेस्मेरिज्म विद्याया द्वावुपयोगौ स्तः—रोगनिवारणं दिव्यज्ञानञ्चेति । अस्मद्देशे मान्त्रिकचिकित्सकाः विभूति चरणादिकं दत्वा दर्भस्पर्शफूत्कारादि विधानेन च पुरा कालादेव मेस्मेरिकशक्तिं प्रयोगं कुर्वन्तोऽभूवन् अधुनापि च कुर्वन्ति । मनुष्यस्य यया शक्त्या मेस्मेरिकक्रिया समुत्पाद्यते, सा शक्तिराङ्गलभाषायां Will power ( इच्छा शक्ति ) इत्युच्यते । इत्थं च शक्तिर्मनोयोगेन चित्तैकाग्रताया अभ्यासेन प्राप्यते । इत्यञ्चेयं विद्या भारतीय महर्षीणां नापरिचिताऽभूत् कदाचित् ।

आधुनिक मेस्मेरिज्मस्य प्रचारः प्रायो द्विशतवर्षेभ्यः पूर्वं मेस्मेरनामकेन जनेन विहितः । मेस्मेरिज्मस्याभिप्रायोऽस्ति प्राणविनिमयः । प्राणा एव शरीरस्याधारभूताः सन्ति । तेषामेव विकृत्या रोगादि दोषा भवन्ति तेषां शुद्धिरेव बलं पराक्रम आरोग्यं चास्ति । अत एतत् द्वारा विकृत प्राणाम् दूरीकृत्य शुद्धप्राणानां सञ्चारः क्रियते । योगशास्त्रेण तन्त्रशास्त्रेण स्वरशास्त्रेण च सह मेस्मेरिज्मस्य घनिष्ठः सम्बन्धः आस्ते ।

मानवशरीरादेहः शक्तिशाली विद्युत्प्रवाहः सदा निःसरति । तथा यं चैक्र शरीरात् शरीरान्तरम् प्रवेष्टुं शक्नोति । मेस्मेरिज्मोपचारे रोगिशरीरे तेन्नाभ्यामङ्गुलिभ्यश्च विद्युत्प्रवाहः कार्यते । अयमेव प्राणविनिमयो मेस्मेरिज्म तत्त्वं बोध्यते यो यौगिक प्रक्रियां नातिवर्तते ।



हेप्नाटिज्मे आज्ञां सूचनां वा दत्वा ज्ञानेन्द्रियाणि प्रभावितानि क्रियन्ते । अस्यामवस्थायां यद्युच्येत “त्वं वक्तसि” इति तदा स व्याख्यानं दातुमारभते । इत्थमेव विरोधिसूचना द्वारा विविध व्यसनानि, मानसिकरोगाः दुराचाराश्च दूरीकर्त्तुं शक्यन्ते ।

अनयोर्मेस्मेरिज्महेप्नाटिज्म शक्तयोर्विकासस्य यानि साधनानि वर्ण्यन्ते आत्मविश्वासो दृढसङ्कल्पः शान्तचित्तञ्चेति तानि योगप्रक्रियाया एवान्तर्गतानि भवन्तीति ।

“योगविभूतयस्तत्र विभिन्नविचाराश्च ।

वर्तमानकाले शिक्षितवर्गेषु केचिद् योगविभूतिः ॥”

चमत्कारमात्रं ( miracle ) वदन्ति । ते कथयन्ति यज्जागति चमत्कारा नैव सम्भविनः । यतो हि प्राकृतिकनियमविरुद्धाकापि घटना नैव घटितुमर्हति । डा० हर्नाक महोदयेन प्रतिपादितम्—इदं ध्रुवसत्यं यच्चमत्कारा नैव भवितु मर्हन्ति । देशकालयोर्यत् किञ्चदपि घटितं भवति, तद् व्यापकनियमाधीनमेव भवति नान्यथा ।

दार्शनिक प्रवरः स्पाइनोजा अपि कथयति—प्रकृतौ नेतादृशी कापि घटना सम्भावनी या तस्या व्यापकनियमानुल्लङ्घयेत् । किन्तु केषांश्चित् पाश्चात्यविदुषां कथनमस्ति यत् चमत्कारास्त्ववश्यं भवन्ति, किन्तु ते पूर्वत एत प्रकृतौ तिष्ठन्ति तथा यथा समयं यथाविधि यथास्थानं बाह्यजगति तेषां प्रकाशमात्रं भवति । यथाकथाञ्चिदपि विभूतिनामनङ्गीकारो न शक्येत कर्तुम् इति ।

भगवान् श्रीकृष्णः, अगस्त्यो विश्वामित्रो वशिष्ठो बुद्धदेवः शङ्कराचार्यो महामौद्गल्यायनो नागार्जुनोऽसङ्गो रामदासश्चेत्येवमादयो योगिनो भारते प्रसिद्धा सन्ति । पाश्चात्य-देशेष्वपि एपोलोनियस ईसाप्रभृतयश्च योगिनो विश्रूयन्ते । श्रूयन्ते चान्येऽपि बहुसंख्याकाः प्राचीना मध्ययुगीनाश्च ख्रिस्त महापुरुषा अलौकिकशक्तिधारिणः । द्रष्टव्यम्—डा० ब्रूरस्य Dictionary of miracles नामकं पुस्तकम् । सूफी साधूनां यवनसाधूनाञ्चैश्वर्याणि वर्णितानि मिलन्ति । द्रष्टव्यं—निकल्सनकृतम् Islamic mysticism नामकं पुस्तकम् ।

केचित्तु योगप्रसिद्धा विभूतयः सिद्धयश्च विकृतमस्तिकाणां कल्पनामात्रमिति ब्रुवन्ति । ते प्रलयन्ति यद् योगदर्शनं सर्वेषु दर्शनेषु मध्ये गल्पप्रजल्पकं सर्वथाऽविश्वसनीयतमञ्चास्ति । वैज्ञानिका अपि प्रायशः एवमेव जायमानधारणाः सन्ति । किन्त्वेतत् सर्वमनवबोधस्य, अनभ्यासस्य कस्याप्यावरणस्य वा विलसितमेव मन्तव्यम् ।

अतो यहूदीनां प्राचीनग्रन्थेषु यदुक्तम् “मूसामहामागेन समुद्रे आरचितोऽमृतवर्षणञ्चाकार । एलिथा मृतमेकं बालकं पुनरजीवयत् । ईसामसीहः केवलं करस्पर्शनं कञ्चित् कुष्ठरोगादुदमोचयत् मृत्तिकास्पर्शसम्पादनेन जन्मान्धमपि दृष्टिसम्पन्नं समपीपदत् । एतत् सर्वं नाध्वेन सताऽवहेलनीयम्, किन्तु प्रयस्यानुभवनीयं दृष्टान्तसहस्रैः समर्थनीयं वा । एपोलोनियसोऽपि ईसासमकालिक एकः श्रेष्ठो योग्यासीत् । स च भारतवर्षे समागत्य सद्गुरु सकाशाद् योगशिक्षामध्यगच्छत् सोऽपि मृतजनम् पुनर्जीवितमकरोद् भूतं भविष्यञ्च प्रत्यक्षमोचरं चकार । स चाहस्म यत् संयतजीवनमेवैतस्य सिद्धिजातस्य मूलमस्तीति । संयमश्च धारणाध्यानसमाध्य एव “त्रयमेकत्र संयमः” इति पातञ्जल सूत्रोक्ताः ।



1972 ]

अर्वाचीनजगति योगः

207

बौद्धेषु परचित्तज्ञानं चेतः पर्यायि ज्ञानापरामिधानं प्रसिद्धम् । एवं महापरिनिर्वाण-  
सूत्राभिधर्मकोशादिग्रन्थेषु नैकविधा ऋद्धयो,— यथा एकस्मादनेकमवनम् अनेकस्मादेकमवनम्,  
आविर्भावतिरोभावौ, इत्याद्या मिलन्ति । यद्यपि भगवता बुद्धेन प्रतिपादितम्—जरा, मृत्युः,  
रोगो, जन्मान्तराणि चापरिहार्याणि सन्ति तथापि देहोपादानेषु शोषितेषु जराप्रभृतयस्तत्र  
भावितो जरादिधर्मा नावस्थातुमर्हन्ति । अत एव विशुद्धसत्त्वात्मकस्योपादानस्य प्राप्तिं सत्यां मलिनसत्त्वसह-  
इत्युच्यन्ते । किन्तु जगति इयं विशुद्धिरपि आपेक्षिको भवत्यतो निर्जरातामस्तादयोऽपि  
आपेक्षिक्य एव भवन्तीति ।

पातञ्जलदर्शनस्य सर्वसिद्धीनां सम्बन्धे मतद्वयमस्ति—योगमाहृत्यात् पदार्थविपर्यासः  
सम्भवीत्येकं मतम्, न सम्भवीत्यपरं मतम् । अस्मिन् विषये केचिदाचार्याः कथयन्ति यत्  
पदार्थविपर्यासे सम्भवित्यपि योगिनो न विपर्यासं कुर्वन्ति यतो हि ते योगिनः परमेश्वरानु-  
गृहीता न परमेश्वरसङ्कल्पविरुद्धमाचरन्ति । अन्ये त्वाचार्या वदन्ति, पदार्थविपर्यासे न  
कथमपि सम्भवी । यौगिकविभूति दत्ताद् यच्च किञ्चिद् भवदवलोक्यते तज्जात्यन्तरपरिणाम-  
मात्रं भवति प्राकृततत्त्वानामापूर्णात् । तदुक्तम् योगदर्शने—“जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्”  
इति । आपूरादित्युपलक्षणम् । प्राकृततत्त्वापकर्षणादपि जात्यन्तरपरिणामो भवतीति ।  
यत्प्रभावादगस्त्येन समुद्रः शोषित इति श्रूयते ।

यथाऽग्निः सम्बन्धादयोगोल्लेखेऽपि दाहकताशक्तिरायाति, तथैव सर्वेश्वरेण सह योगे  
प्रतिष्ठिते जिवोऽपि स्वसाधनाजारस्य परमेश्वरस्य धारणाशक्त्या सर्वैश्वर्यलाभं कुर्यादित्यत्र  
न किञ्चिदप्याश्चर्यम् । अतो वस्तुतस्त्यमेतद् यत् योगप्रभावान्नानैश्वर्यसिद्धयो जायन्त इति ।  
तथापि जीवस्य साधना नैश्वर्यप्राप्त्यर्थं न वा तत्त्यागार्थं भवति । किन्तुहि ? जीवसाधनाया  
लक्ष्यम् आत्मस्वरूपोपलब्धिरेवास्तीति ।

मार्गेऽस्मिन् पूर्वमैश्वर्याणां विविधानामुदयो भवति योगिनो हृदये प्रत्ययोत्पादनार्थम्,  
पश्चाच्चतदुपसंहारो जायते । तत्रायं क्रमः—पूर्वं भोगस्ततः सन्यासः, अन्ते च भोगत्यागयो  
रद्वैतभावः । तस्यां दशायां न भोगो नापि तत्त्यागोऽवशिष्यते । यत्तिष्ठति तदनिर्वचनीयमना-  
विलमात्मस्वरूपावस्थानमेवास्ति । यथाहि पूर्णिमानन्तरं स्वत एव क्रमेणामावस्या समायाति  
तथैव ऐश्वर्यस्य पूर्णविकासे सम्पन्ने पश्चात् क्रमेणैश्वर्यविसर्जनमपि स्वत एव भवति, अयमेव  
चात्मसमर्पणयोगोऽस्ति ।

एवञ्च योगस्य सिद्धायामभ्युदयनिःश्रेयससाधनतायां लुप्ताया अपि योगसाधनाया वर्त-  
मानयुगेऽपि नोपेक्षणीयता मन्तुमर्हा किन्तु अनुसन्धानदृष्ट्याऽपि नितरां तदपेक्षणीयतामङ्गीकृत्य  
सर्वथा तदुद्धारोद्योगे प्रवर्तितव्यम् शिक्षाविद्धिः सर्वकारेणः चेति विभावयामः ।

उपसंहार

एवं योगशास्त्रं हि प्रयोगशास्त्रमिव वर्तते सर्वशास्त्राणामुपजीव्यभूतञ्च । सर्वाणि हि  
शास्त्राणि श्रवणतोऽधिगतस्य परमार्थतत्त्वस्य स्वस्वपद्धत्या मननं सम्पादयन्ति सन्ति निदिध्या-  
सनरूपसाक्षात्काराय योगशास्त्रमेवोपजीवन्ति । मननशास्त्राणि विभिन्नदर्शनानि कामं परस्परं-



मिद्यन्ताम् अथापि स्वाभिमततत्त्वसाक्षात्काराय योगशास्त्रोक्तविधिमेव तदुपायतयाऽऽश्रयन्ति ।  
तथाच न्यायसूत्रम्—

“तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः” ( अ० ४ आ० २  
सू० ४४ ) ।

वेदान्त सूत्राणि च—

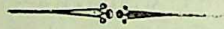
“शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।” ( अ० ३  
पा० ४ सू० २० ) ।

“आसीनः सम्भवात्, ध्यानाच्च, अचलत्वं चापेक्ष्य, स्मरन्ति च, यत्रैकाग्रता तत्रा-  
विशेषात्” ( अ० ४ पा० १ सू० ७, ८, ९, १०, ११ ) वैशेषिकसूत्राणि च—

“आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्, असमहितान्तः  
करणा उपसंहृत समाधयस्तेषाञ्च” ( अ० ९ आ० १ सू०, ११, १२, १३ ) संयोगे विशेषश्च  
योगजधर्मानुग्रह एवेति ।

एतेषां सूत्राणां व्याख्यानि तत्तद्भाष्यादिषु समवलोकनीयानीति नेह प्रत्यन्ते  
विस्तरभयात् ।

एतानि दर्शनसूत्राणि निःश्रेयसपक्षतो योगशास्त्रस्योपयोगितां समर्थयन्ति । अभ्युदेय-  
पक्षतस्तु स्वयं तदीया विभूतय एवास्य शास्त्रस्य त्रैकालिकयामुपयोगितां साक्षिभूता इत्यत्र  
नाणीयसाऽपि सन्देहेन भाव्यम् । किं बहुना विविधरोगाणां चिकित्सास्वपि समुपयुज्यमाना  
योगपद्धतयो मानवजाते राष्ट्रस्य च महान्तमुपकारं सम्पादयितुमर्हन्तीति दृढो विश्वासो  
देशीयानां वैदेशिकानाञ्च चिन्तकानाम् । अतएवात्र विषये कतिपय विश्वविद्यालया दत्ताव-  
धानाः चिकित्साविज्ञानसम्बद्धतया योगस्य प्रायोगिकीं शिक्षामुन्नमयितमपि प्रयतमानाः सन्ति ।





## AUROBINDO ON EDUCATION

Gyananand Prakash Srivastava,

*Lecturer, Faculty of Education, B. H. U.*

"The true basis of education is the study of the human mind, infant, adolescent and adult. Any system of education founded on theories of academic perfection which ignores the instrument of study, is more likely to hamper and impair intellectual growth than to produce a perfect and perfectly equipped mind. For the educationist has to do, not with dead material like the artist or sculptor, but with an infinitely subtle and sensitive organism. He cannot shape an educational masterpiece out of human wood or stone; he has to work in the elusive substance of mind and respect the limits imposed by the fragile human body."<sup>1</sup>

### The Human Mind

Sri Aurobindo classified mind ( or Antakarna ) into four layers. The first is the 'chitta' the store-house of past impressions or memory and the foundation of other three layers. The active memory, which selects the needed things at times, must be trained and improved whereas the passive memory needs no training. The second layer, the 'manas' is the proper mind, in which all the other layers are collected. It receives images from the senses and translates them into thought—sensations. At the same time mind is also capable of receiving images of its own direct grasping. These images are transformed into mental impressions. These sensations and impressions are materials of thought. It is the duty of the educator that senses and mind are so trained as to make them keen, subtle and sensitive as possible. The intellect or 'buddhi' is the third layer, the real instrument of thought. It arranges and rearranges the elements of knowledge coming into mind. The intellect has the comprehensive, creative, synthetic, critical and analytical faculties. The comprehensive, creative and synthetic faculties may be regarded as its right hand which judges, imagines, memories, observes, commands and manipulates. The critical and analytical faculties, Sri Aurobindo thinks, may be regarded as its left hand which 'distinguishes, compares, classifies, generalises, deduces, infers and concludes.' Thus these faculties are the essentials of logical reasoning. The right hand mind is the master of knowledge as it penetrates deeply

---

1. Aurobindo : Karmayogin, Feb. & March 1910.



into its very soul. The left hand mind is only the servant because it only touches the body of knowledge. For the complete education of the child both these hands of mind must be perfectly trained to the highest possible limits. The fourth layer of the mind is the power of 'intuitive perception of truth', 'a direct vision of knowledge' amounting to revelation and making a man a 'prophet of truth.' This power of mind, Sri Aurobindo remarks, is not yet fully developed, in man, and it is still in the process of a gradual and wider development. This power is rare and many possess it imperfectly or by flashes. "The admixture of error, caprice, or a biased imagination" may distort its perfect working. Sri Aurobindo remarks that the educationists have not yet grappled with the problem of developing this intuitive power which may be manifested in the genius of a pupil. The teacher must encourage and welcome this intuitive power in the pupil. The teacher is to allow him to grow into the way of his own perfection.

### Principles of Teaching

According to Aurobindo the system of teaching shall be natural, easy and affective. "It is only by strengthening and sharpening these instruments to their utmost capacity that they can be made effective for the increased work which modern conditions require."<sup>1</sup> The first principle is that nothing should be imposed on the child. The teacher, says Aurobindo, is a helper and a guide and not an instructor or task-master. He should suggest and not to impose. "He does not actually train the pupil's mind, he only shows him how to perfect his instruments of knowledge and helps and encourages him in the process."<sup>2</sup> He should enable the pupil to acquire knowledge for himself. He has to show him where the knowledge lies and how it can be habituated to rise to the surface.

"The second principle is that the mind has to be consulted in its own growth."<sup>3</sup> The mind should expand in accordance with its own nature. There should not be hammering the child into the shape desired by the parent or teacher. It is well said 'do not fill twelve ounce medicine in eight ounce bottle'. As Rousseau said, "Nature wills that children should be children before they are men. If we will seek to pervert the order, we shall have forward fruit without ripeness, and though not ripe soon rotten, we shall produce Young savant and old children", Sri Aurobindo believes that "there can be no greater error

---

1. Aurobindo : 'Karmayogin', Feb. & March, 1910.

2. Ibid.

3. Ibid.



1972 ]

## AUROBINDO ON EDUCATION

211

than for the parent to arrange before hand that his son shall develop particular qualities, capacities, ideas, virtues or be prepared for a pre-arranged career.<sup>1</sup> Everyone has his own originality and something Divine. The task of the educator is to find it, develop it and use it. The chief aim of education should be to find out what is best in the individual and make it perfect.<sup>2</sup>

The third principle of education is to work from near to the far, from that which is to that which shall be. "We must not take up the nature by the roots from the earth in which it must grow or surround the mind with images and ideas of a life which is alien to that in which it must physically move", said Sri Aurobindo. Nothing should be forced on the mind from outside, it should be offered. For genuine development there should be free and natural growth. Sri Aurobindo says, "The past ( the heredity and the cultural heritage ) is our foundation, the present ( the nature of the individual and the needs of the modern society ) our material the future our aim."

### The True Education

The true education, according to Sri Aurobindo, helps one to develop his latent powers and enables him to enter into the right relation with life, mind and soul of his nation as well as with the total life, mind and soul of humanity. Education should train mind and reason and satisfy the vital propensities and ego of man. Education must not be a 'machine made fabric'. It should build the powers of mind and spirit of man. Education should develop the individual mind, the mind of the nation and mind and soul of humanity. The central aim of education i.e. to build the power of mind and spirit, can be achieved by understanding human mind at all the stages of development—infant, adolescent and adult. Besides the ordinary mind there is a supermind, Sri Aurobindo believes, which exists beyond the mind, life and Matter. The supermind manifests itself in this world of Matter. The true education should aim at the development of consciousness of this supermind, and its utilization for the development of an integrated human personality. To possess the self, to rise above ego, and to be conscious of our real being is the meaning of life to Aurobindo. The true education helps to realise his real being—the self. To make conscious of a vital, a mental, a psychic, a superamental, and a supreme spiritual being is the aim of true education.

1. Karmayogin, Feb. & March, 1910.
2. Similar ideas by Gandhiji, "By education I mean an alround drawing out what is best in child and man, body, mind and spirit."



By education, the intellectual and moral capacities of the child should be developed to the maximum. So education should be based on child-psychology. Each human being is a self-developing soul. "The business of the parents and the teacher is to enable the child to educate himself, to develop his own practical, intellectual, moral and aesthetic capacities, and to grow independently as an organic being." True education helps the child in this supreme task.

The Divine power, the soul inwardly should be evoked. The fulfilment of the individual does not consist in the utmost growth of his egoistic intellect, vital force, physical welfare and the maximum satisfaction of his physical, emotional and mental cravings, but in the developing of Divine in him to the maximum limit of power, love wisdom and universality. The education which helps one in this developing is true.

### The Moral Nature

"The mental nature rests upon the moral and the education of the intellect divorced from the perfection of the moral and emotional nature is injurious to human progress."

Sri Aurobindo believes that moral and religious education should not be taught through text books. He says, "The attempt to make boys moral and religious by the teaching of moral and religious text-books is a vanity and a delusion, precisely because the heart is not the mind and to instruct the mind does not necessarily improve the heart." Though the moral and religious thoughts have their effect on the 'antakarna', and if become habitual, they influence the conduct, but the danger of moral text-books is that they make the thinking of high things mechanical and artificial, and thus in-operative for good.

The emotions, the 'samskaras' or formed habits and associations, and the 'svabhava' are nature of man are of the utmost importance in dealing with a man's moral nature. "The only way", says Sri Aurobindo, "for him to train himself morally is to habituate himself to the right emotions, the noblest associations, the best mental, emotional and physical habits and the following out in right action of the fundamental impulses of his essential nature." Mere moral instructions will not serve the purpose because it flies away from the mind as soon as the yoke of discipline at school and at home is removed. Man's conduct is guided by his likings and passions. Therefore heart and not the mind should be educated for the moral and religious uplift of the student. "The best way is to put the child into the right road to his own perfection and encourage him to follow it, watching, suggesting, helping, but not inter-



1972 ]

## AUROBINDO ON EDUCATION

213

fering." The teacher should be an ideal moral person before the students. His silent influence will mould the conduct of the pupil. For moral discipline the method of impression is considered best by Sri Aurobindo. According to him the teacher should be a wise friend, guide and helper to his pupil.

"The first rule of moral training is to suggest and invite, not command or impose." The suggestion should be by personal example, daily converse and the books read from day to day. These books should contain for the younger student, the lofty examples of the past given, not as a moral lessons, but as things of supreme human interest, and, for the elder student, the great thoughts of great souls, the passages of literature which set fire to the highest emotions and prompt the highest ideals and aspirations, the records of history and biography which exemplify the living of those great thoughts, noble emotions and aspiring ideals." In addition to these the child is to be given an opportunity, within his limited sphere, of embodying in action the moral impulses which rise within him. Practical opportunity as well as intellectual encouragement should be given to develop all that is best in the nature. "If he has bad qualities, bad habits, bad 'samskaras', he should not be treated harshly as a delinquent, but encouraged to get rid of them by the Rajyogic method of 'samyama', rejection and substitution. Falshood being rejected whenever it rises into the mind and replaced by truth, fear by courage, selfishness by sacrifice and renunciation, malice by love. The wildness and recklessness of many young nature are only the overflowings of an excessive strength, greatness and nobility. They should be purified and discouraged."

Merely teaching of dogmas of religion is an error. It either leads to mechanical acceptance of a creed having no effect on the inner and little on the outer life, or it creates the fanatic, the pietist, the ritualist or the unctuous hypocrite. "Religion has to be lived, not learned as a creed. No religious teaching is of any value unless it is lived, and the use of various kinds of 'Sadhana', spiritual self-training and exercise is the only effective preparation for religious living." "The essence of religion, to live for God, for humanity, for country, for others and for oneself in these must be made ideal in every school."





## ASCENT THROUGH DESCENT : AN AUROBINDO—AN PARADOX

Harsh Narain,

*Lecturer in Philosophy, B. H. U.*

Sri Aurobindo is a philosopher of involution and evolution of the Absolute or the Spirit, "a self-involution of Consciousness in form and a self-evolution out of form."<sup>1</sup> The Absolute is describable, if at all, as 'an Asat, a Non-Bing beyond' : 'it is beyond the highest and purest positive form.'<sup>2</sup> It descends from its pristine purity, for self-delight through progressive self-oblivion, into Sat or Existence, then Cit or Consciousness, and finally Ānanda or Bliss, thereby differentiating itself as Saccidānanda or Existence-Consciousness-Bliss, a triunity,<sup>3</sup> which is 'the highest positive expression of the Reality to our consciousness.'<sup>4</sup> Then this triune principle begins to involve itself or descend into Supermind, Supermind into Overmind, Overmind into Mind, Mind into Psyche or Soul, Psyche into Life, and, eventually, Life into Matter.<sup>5</sup> Matter marks the end of this series of descents. Then there is the inception of an inverse process of descent from Matter to the Spirit through the successive steps of Life, Payche, Mind, Overmind, Supermind, Bliss, Consciousness, Sat and finally the Spirit. Thus, the series of successive steps of evolution and involution may be represented as under in the descending order: the Spirit, Existence, Consciousness, Supermind, Overmind, Mind, Psyche, Life and Matter.<sup>6</sup> Spirit and Matter

- 
1. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. I ( 2nd ed., Calcutta : Arya Publishing House, July 1943 ), p. 18. This work will henceforth be referred to as 'I'.
  2. I, p. 42.
  3. I, pp. 151-154.
  4. I, p. 42.
  5. Cp. I, 319.
  6. Cp. I, pp. 8, 241, 284, 308, 311, 312, 340. Sri Aurobindo does not list all these terms together. He usually speaks of seven principles, 'seven great terms of existence', ( I p. 316 ), and sometimes 'eight principles instead of seven' ( I, p. 318 ), tabulating the eight principles immediately after ( I, p. 319 ). But a full list of the chief principles postulated by him would comprise ten terms as brought out by us.



## 1972 ] ASCENT THROUGH DESCENT : AN AUROBINDO 215

represent two involutions between which the world-process endures—Spirit 'in which all is involved and out of which all evolves downward to the other pole of Matter in which also all is involved and out of which all evolves upward's to the other pole of Spirit.'<sup>1</sup> Sri Aurobindo remarks that, 'as Matter is the last word of the descent, so it is the first word of the ascent.'<sup>2</sup>

Incidentally, Sri Aurobindo regards the above mentioned series of gradations as relative and tentative and openly admits that 'from other principles and view-points another classification of the same things can be equally valid.'<sup>3</sup>

That the descent and ascent are both progressive is clearly indicated by the following passages: 'in the descent there are successive levels, in the concealing successive veils.....the ascent and the revelation are both progressive.'<sup>4</sup> Again : 'Being, consciousness, force, substance descend and ascend a many-runged ladder.....'<sup>5</sup> Lastly, 'Our material world is the result of all the others, for the other principles have all descended into Matter to create the physical universe.....'<sup>6</sup> There are also stray indications of particular higher terms being involved in lower ones.<sup>7</sup>

Sri Aurobindo appears to postulate two phases of descent, involution ( but not of ascent, evolution ), one for self-enfoldment, self-oblivion, and the other for self-unfoldment, self-recovery. All descent, all involution, is descent of the Spirit successively into Saccidānands, Supermind, Overmind, Mind, Psyche, Life, and Matter. In the first phase of descent, the Spirit aims at self-oblivion, self-concealing, self-enfoldment; in the second, at self-

1. I, p. 154.

2. I, p. 311.

3. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II ( 2nd ed., Calcutta : Arya Publishing House, December 1944 ), p. 600. This work will henceforth be referred to as 'II'.

4. I, p. 53.

5. I, pp. 310-311.

6. I, p. 311.

7. See, for example, I, pp. 147, 223, 227, 265, 311-312, 319, 325, 327, 333, 347, II, 510, 511.



recovery, self-manifestation, self-unfoldment. when the arc of descent in the first phase has been completed, the Spirit become Matter proceeds to evolve and ascend into higher and higher forms, into Life, Psyche, Mind, Overmind, and Supermind and finally recovers its pristine self. According to Sri Aurobindo, this ascent, this evolution, out of Matter is possible because the higher stages are all involved in Matter. In the process of successive involution, every higher term hides and enfolds itself in lower terms; in evolution it reveals and unfolds itself. Sri Aurobindo has it that 'the material universe was bound in the nature of things to evolve from its hidded life apparent life, from its hidden mind apparent mind, and it must in the same nature of things evolve from its hidden Supermind apparent Supermind and from the concealed Spirit within it the triune glory of Sachchidānanda.<sup>1</sup> That is to say, involution must occasion evolution, which is in the nature of an inner, creative urge of things to realize their potentialities, to become completely themselves : 'evolution of the involved there must be.'<sup>2</sup>

But this is not enough, not all. Sri Aurobindo is inclined to hold that, if things are left to themselves, there will either be no evolution at all or, if evolution does take place, its pace will be too slow. He writes : 'The transition to Supermind through overmind is a passage from Nature as we know it into Super-nature. It is by that very fact impossible for any effort of the mere Mind to achieve; our unaided personal aspiration and endeavour cannot reach it.....'<sup>3</sup> Again : 'It is conceivable that, without the descent ( in its second phase ), by a secret pressure from above, by a long evolution, our terrestrial Nature might succeed in entering into a close contact with the higher now superconscious planes and a formation of subliminal Overmighth take place behind the veil; as a result a slow emergence of the consciousness proper to these higher planes might awake on our surface.....But this process would inevitably be a long and toilsome, endeavour of Nature.'<sup>4</sup> So, it is,

1, I, p. 325.

2, I, p. 324-325.

3, II, p. 765.

4, II, P. 766.



## 1972 ] ASCENT THROUGH DESCENT : AN AUROBINDO 217

on his view, scarcely possible for lower principles to ascend to higher planes without active cooperation of the latter. 'Evolution comes', he says, 'by the unceasing pressure of the supramental planes on the material compelling it to deliver out of itself their principles and powers which might conceivably otherwise have slept imprisoned in the rigidity of the material formula.'<sup>1</sup> Evolution is a necessity from below, indeed, but 'this necessity from below is actually very much aided by a kindred superior pressure.'<sup>2</sup> Otherwise, the lower principles would evolve higher ones at best 'in a qualified and restricted emergence.'<sup>3</sup> Such descent is 'essential for bringing the permanent ascension.'<sup>4</sup> No 'real transformation' can take place without 'a direct and unveiled intervention from above.'<sup>5</sup> This will be the case with the future course of evolution; this has been the case with the past course of evolution. 'All the previous ascensions have been effectuated by a secret Consciousness-Force.....: it has worked by an emergence of its involved powers to the surface, powers concealed behind the veil and superior to the past formulations of Nature, but even so there is needed a pressure of the same superior powers already formulated in their full natural force on their own planes.....'<sup>6</sup> Thus, on this view, evolution presupposes involution and the descent of higher into lower planes of existence is necessary precondition thereof. So also, in order for Matter to evolve Life, Life must be already involved in Matter and fresh Life must descend into it; in order for Life to evolve psyche, Psyche must be already involved in Life and fresh Psyche must descend into it; in order for Psyche to evolve Mind, Mind must be already involved in Psyche and fresh Mind must descend into it; in order for Mind to evolve Overmind, Overmind must be already involved in Mind and fresh Overmind must descend into it; in order for Overmind to evolve Supermind, Supermind must be already involved in Overmind and fresh Supermind must descend into it; in order for Supermind to evolve Saccidananda, Saccidananda must be already involved in Supermind and fresh Saccidananda must descend into it.

Roughly speaking, there are, on Sri Aurobindo's view, two Lives, two Psyches, two Minds, two Overminds, two Superminds, and two

1. I, p. 312.

2. Loc. cit.

3. Loc. cit.

4. II, p. 755.

5. II, p. 767.

6. II, pp. 765-766



Saccidanandas, one involved and the other descending or scheduled to descend in order to aid evolution. Sri Aurobindo seems to believe that there is a cosmic, microcosmic, or universal Life; a cosmic, microcosmic, or universal Psyche; a cosmic, microcosmic, or universal mind; a cosmic, microcosmic, or universal Overmind; and a cosmic, microcosmic, or universal Supermind; even as there is an individual, microcosmic, or particular Life; an individual, microcosmic, or particular Psyche; an individual, microcosmic, or particular Mind; an individual, microcosmic, or particular Overmind; and an individual, microcosmic, or particular Supermind.<sup>1</sup> Of course the individual, microcosmic, or particular Overmind and Supermind are awaiting their birth in the womb of the future. The former Life, Psyche, Mind, Overmind, and Supermind are also called the hidden or transcendent and the latter, the apparent or immanent Life, Psyche, Mind, Overmind, and Supermind.<sup>2</sup> Elsewhere, he also speaks of a 'primary Supermind'<sup>3</sup> which is the same as the universal Supermind. He clearly suggests 'the existence of a Life-world or Life-plane above the material' 'as a formative stage in a descent' and the idea that 'a pressure from some plane of Life above the material universe has assisted the emergence of Life here.'<sup>4</sup> To sum up, in the words of Sri Aurobindo himself, 'It is the pressure of the life-world which enables life to evolve and develop here in the forms we already know; it is that increasing pressure which drives it to aspire in us to a greater revelation of itself.....It is the pressure of the mind-world which evolves and develops mind here and helps us to find a leverage for mental self-uplifting and expansion.....It is the pressure of the supramental and spiritual worlds which is preparing to develop here the manifest power of the spirit.....'.<sup>5</sup>

1. Cp. I, pp. 265, 266-267, 283, 285, 288, 289, 312, 322, 334, 339, 342, 344; II, 583, 588, 595, 598, 599, 603, 604, 605.
2. Cp. I, pp. 224, 266-267, 325.
3. I, pp. 177, 178, Here Sri Aurobindo speaks of three general poises or sessions of the world-founding consciousness of Supermind. 'The first founds the inalienable unity of things, the second modifies that unity so as to support the manifestation of the Many in One and One in Many; the third further modifies it so as to support the evolution of a diversified individuality which by the action of Ignorance becomes in us at a lower level the illusion of the separate ego.' (I, pp. 176-177). The primary Supermind is the Supermind in its first poise or session, which is nothing but what we have termed the universal or microcosmic Supermind. The Supermind in its second poise or session is termed the secondary and that in its third, the tertiary Supermind. See I, p. 180.
4. I, p. 224.
5. II, p. 595.



## 1972 ] ASCENT THROUGH DESCENT : AN AUROBINDO 219

There is, according to Sri Aurobindo, a double soul in us 'as every other cosmic principle in us is also double.'<sup>1</sup> We have two minds, one the surface mind and the other a subliminal mind; two lives, one the superficial life and the other a subliminal life; two psychic entities or souls, one the surface desire-soul and the other a subliminal soul.<sup>2</sup> 'The external forms of our being are those of our small egoistic existence; the subliminal are the foundations of our larger true individuality.'<sup>3</sup> How do the higher planes descend into the lower? Sri Aurobindo's reply is that the former 'create their own foundations in our subliminal parts and from there are able to influence the evolutionary process on the surface.'<sup>4</sup> The cosmic Mind influences us through the subliminal mind; the cosmic Psyche through the subliminal Psyche; the cosmic Life through the subliminal Life.<sup>5</sup> The subliminal Mind is such as has escaped from evolutionary absorption in Life and sometimes mistaken for the pure spirit.<sup>6</sup> Of course, it is held that 'Overmind and Supermind are also involved and occult in earth-Nature, but they have no formations on the accessible levels of our subliminal inner consciousness; there is as yet no Overmind being or organized overmind nature, no supramental being or organized supermind nature acting either on our surface or in our normal subliminal parts.....'<sup>7</sup>

According to Sri Aurobindo, descent of the higher principles into the lower, pressure and penetration from above, is not so unusual as it appears to be: 'there is not an entire absence of penetration from above into our mental limits. The phenomena of genius are really the result of such penetration.....'<sup>8</sup> He also seems to trace the origin of the phenomena of inspiration, mystic and spiritual experience, revelatory vision, intuitive perception to the influx of what he calls 'the overhead consciousness beyond us.'<sup>9</sup>

Above we have seen that there are two phases of descent, two phases of involution-descent or involution for progressive enfoldment and that for progressive unfoldment of the spirit. From the foregoing

---

1. I, p. 265.

2. I, pp. 265-266.

3. I, p. 266.

4. II, p. 766.

5. I, pp. 266-267

6. I, p. 205.

7. II, p. 766.

8. I, p. 331.

9. Loc. cit.

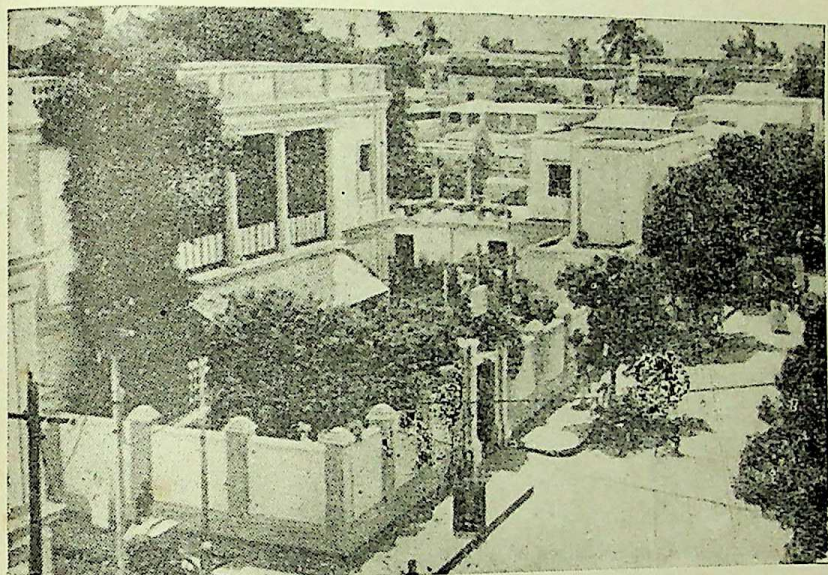


go with Sri Aurobindo far enough. Descent is as much a case of becoming as ascent and is, therefore, as much assignable to the realm of becoming forming a quarter of the Supreme Being as ascent. This being so, the question of the remaining three quarters of the Supreme Being becoming in any form or manner simply does not arise.

As a matter of fact, the postulation of descent, of the Supermind for instance, introduces an element of arbitrariness into the scheme of things. Such descent appears to be a gratuitous assumption. If, for the first phase of involution of the Spirit no such extraneous agency is needed, there is no reason why an extraneous agency like the transcendent Supermind is imperatively necessary for evolution of the Spirit. What is evolution after all ? Nothing but progressive actualization of potentialities and it would not be going too far to suggest that the part or moment of the Spirit which can potentialize itself is as well capable of actualizing itself. There is no reason why the unbecome realm of the Spirit should have to enter the realm of becoming. Again, if the Supermind does descend to effect ascent, it will be either absorbed in the process of becoming or remain unabsorbed. If the former be the case, its status will be nondifferent from that of the already absorbed part of the Supermind for the release of which the transcendent Supermind has had to descend anew, thereby defeating its own purpose. If, on the other hand, it is to continue unabsorbed after the so-called descent, it will be as good as not descended at all. What is descent ? It is the transition of the timeless into time, the involvement of the transcendent into the affairs of the immanent, the ingression of the transcendental into the temporal, the subjection of the Supreme Being to the laws of involution and evolution, its forming part of the world-process, the transition of the Spirit from transcendence to immanence. And such descent is very much there already, to undo and abrogate which the transcendent Supermind is believed to embark upon a new phase of descent. So, the new phase of descent, largely in the womb of the future, helps merely reinforce the old phase of descent rather than undo and abrogate it.

It will, therefore, be quite in keeping with the law of parsimony to maintain that the part of the Spirit undergoing involution is itself competent to embark upon evolution. This will also avoid confusion of levels, viz. confusion of the transcendent with the immanent aspect of the Absolute.





पाण्डीचेरी स्थित श्री अरविन्द आश्रम का मुख्य भवन







## SRI AUROBINDO ON YOGA

Lalit Kishore Lal Srivastva,

*Research-Fellow, Centre of Advanced Study in Philosophy, B. H. U.*

Sri Aurobindo, a great Yogi and philosopher of modern India, has produced a system of philosophy that fully meets the needs and demands of the modern age. He rejects both extreme materialism and extreme Spiritualism. He admits that both 'Being' and 'Becoming' are real and are the different aspects of the same Reality. As a metaphysician he says, like S'ankara that the Absolute Brahman is the ultimate Reality; but unlike Sankara, Sri Aurobindo thinks that it is Nirguna as well as Saguna and even beyond them. For human mentality, it is Saccidananda. It has got three aspects, viz, Sat (Existence), cit-Sakti (Conscious-Force) and Ananda (Bliss). It is an indivisible Reality which is viewed differently by different persons from different angles. What is Existence is also Conscious-Force and what is Conscious-Force is also Bliss. Sri Aurobindo Says, ".....Force is inherent in Existence. Shiva and Kali, Brahman and Sakti are one and not two who are separable."<sup>1</sup> This saccidananda Brahman out of sheer joy or sportive activity (Lila) put a limitation on Himself or took a plunge into Ignorance and thus emerged the world out of Him. This is the downward movement (creation or involution) of the Spirit. As the Spirit has descended into Matter, Life and Mind, they have capacity to rise to a higher form of existence—Life, Mind and Supermind. The evolution is the return of the Spirit to its original state. It is the upward movement of the spirit.".....In evolution we ascend from matter through a developing life, soul and mind and the illuminating medium of Supermind towards the divine Being."<sup>2</sup> As the result of descent of the Supermind, human beings will be transformed into Gnostic being or supermen. Matter, Life and Mind will all be transformed radically and there would be no more the present limitation of pains and evils in the world. Here lies our liberation. The liberation which Sri Aurobindo aims at, is not the liberation of individual only but also of Nature (matter, life and mind); not of one but of all. Thus our aim of life, according to Sri Aurobindo, consists in realising the saccidananda Brahman which is possible only by His grace. It is important

1. Life Divine, p. 78.

2. Ibid., p. 243.



to note here that the world according to Sri Aurobindo is real and that is why, he stresses on its transformation by evolution.

Now the question arises : how to realize this saccidanāda Brahman ? For this Sri Aurobindo suggests the discipline of 'Integral Yoga'. It is the practical side of his philosophy. The word Yoga is derived from the root 'Yuj', to join, to contact with God or the Ultimate Reality. It mainly consists in developing a peculiar state of consciousness or inwardness. Yoga, according to Sri Aurobindo, seeks to enable man to attain, higher and Supranatural abilities and powers. He thinks that yoga is a methodised efforts towards self-perfection by the expression of the latent potentialities of man and a union of the individual with the universal and transcendent existence. Swami Vivekānanda also believes that yoga may be regarded as means of compressing one's evolution into a single life or a few years or even a few months of the bodily existence of man.

Sri Aurobindo's approach to the problem of yoga may be said to be two fold : destructive and constructive. In the former, he criticises the traditional conceptions of yoga and in the latter he propounds his own view e.g. that of 'Integral Yoga.'

The ancient Indian sages have advocated and experienced certain methods of yoga known as Jñāna yoga, Bhakti yoga, Karm yoga, Hatha yoga, Raja yoga, Tantra yoga etc. Each of these forms of yoga emphasises a particular aspect and method to attain a higher state of consciousness. All these forms deal with moulding and cultivating the body and mind and their habits with a view to purifying them in order to make them adequate and convenient means for the attainment of the higher state of consciousness. For instance Hatha yoga lays greater emphasis on controlling the body i.e. its sense and motor organs, desires and the cray word activities of the mind. Sri Aurobindo says that it helps men to keep the body free from impurities and nervous tensions. But he criticises it on the ground that it is a very lengthy, laborious and tedious procedure it severs man's contact with the ordinary life and its results cannot be utilized for the life of world.

It becomes over rigid, austere and impracticable; and its practice and gain remain hopelessly restricted only to the individuals.

Coming to Raja yoga, we see that it aims at the liberation and preparation not of the bodily but of the mental being; it aims at the control of the emotional and sensational life and the mastery of the whole apparatus of thought and consciousness. By means of self-discipline and cultivation of a steady and balance cit, by renunciation of all forms



of egoistic seeking and by purity, Raja yoga liberates the mind from the confusions of the outer consciousness and gradually passes to spiritual consciousness. But Sri Aurobindo says that 'Raja yoga leads to aloofness of the individual from the physical life into which we have to bring the mental and spiritual gains. It does not help the whole humanity to elevate to a higher level of consciousness.'<sup>1</sup>

Jñāna yoga or the 'path of knowledge' aims at the realisation of the unique and supreme self by means of intellectual reflection and right discrimination (Viveka). It seeks to distinguish the pure, unique, immutable self from the perishable phenomenal existence (Māyā) and detach the self from the limitations and miseries of the wordly, life (as we find in Sankra ).

Bhakti yoga or 'Path of Devotion' aims at the enjoyment of the Supreme Love and Bliss of the Divine. 'It consists, Sri Aurobindo says about Bhakti Yoga, in an intense, ardent, sincere and loving dedication of the soul to the Divine self and in rendering devoted and selfless service to the Divine by his constant remembrance and meditation'<sup>2</sup> (as we find in caitanya cult ).

Karma Yoga or the path of Action aims at the dedication of every human activity to the Supreme will. It consists in the renunciation of all egoistic aim for work and in doing work with all energy for the universal good by transcending all selfish interests without cherishing any desire for the result of work (as we find in the Bhagvadgita ).

The method of Tantra aims at securing power by austere tapasya for doing good to the life on the earth.

Thus, from the above consideration, we find that the ancient Indian traditions incorporates these different methods (Yogas) for attaining spiritual existence and perfection. Each method has its own special approach, bias and emphasis but all of them indicate an excessive leaning to the benefit of the individuals only and not of the entire humanity. They are criticised by Sri Aurobindo, 'for having neglected the good of the entire humanity by keeping it deprived of tremendous joy and Bliss of the Divine.'

1. Synthesis of yoga, pp. 27-31.

2. Ibid, pp. 31-33.



According to Sri Aurobindo the essence of Yoga lies not in exercising strict and rigid control over the body, senses and mind not in the regular practice of Āsanas and Yam, not in the Pranayam, not in spending long hours in concentration and meditation, not even in entering into trances and Samadhis but it mainly consists in living into a higher state of consciousness or in the inner condition of a different kind of consciousness. What is really important for a real Yogin is not his external behaviour or conduct, but his attitude, his inner-state of Being, his way of looking at the wordly phenomena.

Sri Aurobindo has developed his 'Integral Yoga' (purna yoga) by unifying and harmonising the essential and significant merits of the various forms of yoga by synthesising them. He writes : "The synthesis, we propose, cannot, then, be arrived at either by combination in mass or by successive practice. It must therefore be effected by neglecting the forms and outsiders of the yogic disciplines and seizing rather on some central principle common to all which will include and utilise in the right place and proportion their particular principles, and on some central dynamic force which is the common secret of their divergent methods and capable therefore of organising a natural selection and combination of their varied energies and different utilities."<sup>1</sup>

According to Sri Aurobindo Yoga is the self fulfilment of the Purusa through his Energy and the aim of Yoga is to pass from lower to higher forms of expression with view to combining into the divine. The whole life is the Yoga of Nature. He says : "The Yoga that we seek must also be an integral action of Nature, and the whole difference between the Yogin and the natural will be this, that yogin seeks to substitute in himself for the integral action of the higher Nature working in and by ego and division the integral action of the higher Nature working in and by God and unity. The method we have to pursue is to put our whole conscious being into relation and contact with the Divine and to call Him into transform our entire being into His; So that in a sense God Himself, the Real Person in us, becomes the Sadhaka of the Sadhana as well as the Master of the



Yoga by whom the lower personality is used as the centre of a divine transfiguration and the instrument of its own perfection..... The divine and all-knowing and all effecting descends upon the limited and obscure, progressively illumines and energises the whole lower nature and substitutes its own action for all the terms of the inferior human light and mortal activity."<sup>1</sup>

Thus in his Integral Yoga, Sri Aurobindo has combined the elements of knowledge ( Jnana ), devotion ( Bhakti ) work ( Karma ), energy ( Tantra ) and the Purna Yoga, that he has advocated, results into a way of life which is neither negative nor repulsive. His Yoga is one which seeks to make the life of the individual and the life on the earth vigorous, forceful, rich, happy, noble and a grand and beautiful and delightful expression of the immensities of the Divine. It is the Yoga which does not reject the body and world, and does not seek withdrawl from the material existence, but it affirms the Divine in the finite and defective world of matter and Ignorance. He propounds the aim of 'Integral Yoga' thus : "The object of our Yoga is self-perfection, not self-annulment.....These are two paths set for the feet of the Yogin, withdrawl from the universe and perfection in the universe; the first comes by asceticism; the second is effected by tapasya, the first receives us when we lose God in Existence, the second is attained when we fulfil Existence in God. Let ours be the path of perfection, not of abandonment; let our aim be victory in the battle, not the escape from all conflict."<sup>2</sup> He further says : "God's purpose in us is that we should fulfil His divine being in world-consciousness under the conditions of the Lila."<sup>3</sup> Thus the Yoga of Sri Aurobindo is not escapist and negative in character. It advises man not to run away from the world but to transform himself and the world by spiritual practice into a divine character. Sri Aurobindo has radically changed and given an entirely new turn to Yoga by making it position affirmative, assertive, effective and relevant to the life of the humanity on the earth in order to make it free from all kinds of sufferings and defects. He writes, "Perfection has to be worked out, harmony has to be accomplished.....out of imperfection we have to construct perfection, out of limitation to discover infinity, out of death to find immortality, out of grief to recover divine bliss, out of ignorance to rescue divine Self-knowledge, out of matter to reveal Spirit. To work out this end for

1. Synthesis of Yoga, p. 38.

2. The Hour of God, p. 34.

3. Ibid.



ourselves and for humanity is the object of our Yogic practice."<sup>1</sup> He further says. "Our aim must be to be perfect as God in His being and bliss is perfect, pure as He is pure, blissful as He is blissful, and, when we are ourselves Sidhas in Purna Yoga, to bring all mankind to the same divine perfection."<sup>2</sup>

In the present context it is very necessary to consider the role of man in the descent of the Divine Light, which will liberate human beings. Sri Aurobindo accepts the middle position between the Jainism and early Buddhism ( which says that man, himself, has to work out his salvation ) on the one hand, and Vaisnavism ( particularly the followers of Ramanuja ) on the other ( which believes that God will do that is necessary for the liberation of the jiva, the jiva should simply surrender himself to God ). But Sri Aurobindo says that both the human beings and the Divine light have to share equally. The Divine will descend when we are properly prepared to receive it.

Thus, in conclusion, we can say that the Integral and Supramental Yoga of Sri Aurobindo contains in it the essential elements of all the previously existing Yogas and it supercedes them all on account of its special merits. It aims not at a departure from the world and life into Heaven or Nirvana, but at a change of life and existence. The object sought after is not an individual achievement of divine realisation for the sake of the individual but something to be gained for the earth-consciousness here, a cosmic not solely a supra-cosmic achievement. The method recognised here is as total and integral as the aim set before it viz. The total and integral change of the consciousness and Nature. "Our Yoga," says Sri Aurobindo, 'is not a retreading of old walks, but a Spiritual adventure.'<sup>3</sup> Thus, the 'Goal' and 'way' suggested by Sri Aurobindo, is really worth following.



- 
1. The Hour of God, pp. 25-26.
  2. Ibid, p. 36.
  3. On Yoga-Book Two Tome One, p. 108.



# SELECT BIBLIOGRAPHY ON SRI AUROBINDO'S THOUGHT†

S. K. Pandeya

1. ACHARYA, K. D. A Guide to Sri Aurobindo's Philosophy. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1968. 88 p.
2. AUROBINDO After the War (World War) Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1949, 22 p.
3. " A Glossary of Sanskrit Terms in 'The Life Divine'. Pondicherry. Sri Aurobindo Ashrama.
4. " A System of National Education. Ed. 3 Pondicherry. Sri Aurobindo, Ashrama. 1948. Ed 4. 1953, 57 p.
5. " Baji Prabhu: A Tale of Mahratta Chivalry in Verse Ed 3. Pondicherry. Sri Aurobindo Ashrama. 1949.
6. " Bankim Chandra Chatterjee : An Essay. Pondicherry. Sri Aurobindo Ashrama. Pondicherry. Ed 2. 1966, 41 p.
7. Bankim, Tilak, Dayananda. Ed 3. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1955 66 p.
8. " Basis of Yoga. Calcutta, Arya Publishing House. 1936. Ed 7. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1955. Ed 9. 1969. 168 p.
9. " Chitrangada : A Fragment. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1949.
10. " Collected Poems and Plays. 2 Vols. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1942.
11. " Collected Works of Sri Aurobindo. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama :  
Vol. I : Sri Aurobindo on himself and on the Mother, Ed 2.  
Vol. II : Savitri, Ed 2.

† Contains materials published by and on Aurobindo Ghosh better known as "Sri Aurobindo."



Vol. III : The Life Divine. Two parts.

Vol. IV : The Synthesis of Yoga. Four parts. Ed 3. 1965. 843 p.

Vol. V : On the Veda. Ed 2. 1964. 594 p.

Vol. VI & Vol. VII : Letters on Yoga. Ed 2. Tome I 1969. 806 p. Ed 2. Tome II 1970.

Vol. VIII : Essay on the Gita : 2 series in one volume. Ed 6. 1966. 546 p.

Vol. IX : The Human Cycle, The Ideal of Human Unity and War and Self Determinaters together with to other Essay. 1962, 912 p.

## 12. AUROBINDO

Conversations of the Dead. Pondicherry. Sri Aurobindo Ashrama. 1951 and 1953. 27 p.

## 13.       "

Correspondence with Sri Aurobindo. 2 parts in one. First combined edition. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1969. 356 p.

## 14.       "

Eight Upanishads. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1953. Ed 4 in press.

## 15.       "

Elements of Yoga. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1953.

## 16.       "

Essays on the Gita : New York, Sri Aurobindo Library. 1950. First series Ed 2. Calcutta, Arya Publishing House. 1926. second series. Calcutta, Arya Publishing House, 192 p.

## 17.       "

Evening Talks with Sri Aurobindo. Recorded by A. B. Purani, Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama.

I series 1959. 325 p.

II series 1961. 351 p.

III series 1966. 320 p.

## 18.       "

Evolution, Ed 2. Calcutta, Arya Publishing House, Ed 5, Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1950, Ed 6, 1964, 64 p.

## 19.       "

Food and Life : A Selections from the Writing of Sri Aurobindo and the Mother, Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama.



## 1972] BIBLIOGRAPHY ON AUROBINDO'S THOUGHT 231

20. AUROBINDO Foundation of Indian Culture, New York, Sir Aurobindo Library, 1953.
21. " Heraclitus. Calcutta, Arya Publishing House, 1941. Ed 2. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1947. Ed 3, 1968. 74 p.
22. " Hour of God. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1964, 100 p.
23. " Hymns to Mystic Fire. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 2nd enlarged Ed. 1952, 607 p.
24. " Ideals and Progress, Ed 4. Calcutta, Arya Publishing House, 1951. Ed 5 Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1966, 50 p.
25. " Ilion : An Epic in Quantitative Hexameters. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1957, 178 p.
26. " Isha Upanishad, Calcutta, Arya Publishing House, 1924, Ed 5. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1951. Ed 6. 1965, 103 p.
27. " Kalidasa, Pondicherry, [Sri Aurobindo Ashrama. 1950 and 1954. Ed 3, 1964, 34 p.
28. " Kena Upanishad. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1952. Ed 2, 1970, 124 p.
29. " Last Poems (with facsimile plates) Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1952.
30. " Letters of Sri Aurobindo.  
First Series. Bombay, Sri Aurobindo Circle. 1948. Ed 2. 1950.  
Second series. Ed 2. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1954.  
Third series. Bombay, Sri Aurobindo circle, 1949.  
Fourth series. Bombay, Sri Aurobindo circle, 1951.
31. " Letters of Sri Aurobindo. Translated from the original Bengali, not included in 'Letters of Yoga.' Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1960. 68 p.
32. " Letters of Sri Aurobindo on the Mother, Bombay, Sri Aurobindo circle, 1961.
33. " Letters of Sri Aurobindo on Savitri. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1951.



34. AUROBINDO Life-Literature-Yoga : New Letters with Questions. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1952. Ed 2 revised 1967, 278 p.
35. " Lights on Yoga. Howrah. Sri Aurobindo Library, 1935. Ed 6. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1952. Ed 7. 1967, 97 p.
36. " Love and Death : A Poem, Ed 4. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1948.
37. " Man—Slave or Free and other Essay. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1965, 69 p.
38. " Messages of Sri Aurobindo and the Mother Ed 2. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1949 and 1952, 27 p.
39. " More Lights on Yoga. Ed 3. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1970, 113 p.
40. " More Poems. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1957.
41. " On Nationalism. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1965, 140 p.
42. " On the Veda. Pondicherry, Sri Aurobindo International University Centre, 1956.
43. " On the War. Calcutta, Arya Publishing House, 1944.
44. " On Yoga. Tomes one and two. Pondicherry Sri Aurobindo International University Centre, 1958.
45. " Persens the Deliverer : A Drama. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1955.
46. " Poems from Bengali. Pondicherry, Sri Aurobindo International University Centre, 1956.
47. " Poems : Past and Present, Ed 2. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1952.
48. " Practical Guide to Integral Yoga. Ed 4. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1965. 455 p.
49. " Réason and Beyond Reason ( Compiled from Sri Aurobindo's works). Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama.



## 1972 ] BIBLIOGRAPHY ON AUROBINDO'S THOUGHT 233

50. BANERJEE, SIDDHESHWAR A Sort treatise on 'Life Divine' Vol I ed. 2 Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1960, 218 p.
51. BHATTACHARYA, A.C. Sri Aurobindo and Bergson : A Synthetic Study, Gyanpur ( Varanasi ) Jagabandhu Prakashan, 1972, 282 p.
52. BHATTACHARYA, PRANAB KUMAR A Scheme of Education: Containing Extensive Extracts from the Writings of Sri Aurobindo and the Mother. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1952, 208 p.
53. BHATTACHARYA, PASUPAT On the Mother divine. Translated from Bengali. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1968, 97 p.
54. CHANDRASEKHARAM, V. Sri Aurobindo's 'The Life Divine'-A Brief Study. ed. 3. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1961, 75 p.
55. „ Sri Aurobindo: Three Essays. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1961, 111 p.
56. CHATTERJEE T. D. Hand Book of Sri Aurobindo's Yoga, 1961.
57. CHATTOPADHYAYA, TULSI DAS Hand Book of Sri Aurobindo's Yoga, Hawrah, S. Chatterjee. 1961, 207 p.
58. CHAUDHARI, HARIDAS Sri Aurobindo : The Prophet of 'Life Divine', Calcutta, Sri Aurobindo Path Mandir, 1951, ed 2. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1960, 274 p.
59. „ The Philosophy of Integralism. Culcutta, Sri Aurobindo Path Mandir. 1954. Revised ed. 2. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1967, 187 p.
60. „ Integral Philosophy of Sri Aurobindo. London, George Allen and Unwin Ltd. 1960.
- AND SPEEGELBERG, FREDERIC, ed.
61. CHINMOY Chandelier. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1951, 51 p.
62. „ The Infinite: Sri Aurobindo's Poems Illustrated. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1956, 45 p.
63. „ The Mother of Golden All : Poems with 5 illustrations. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1958, 48 p.



64. CHUBB, J. N. Sankara and Sri Aurobindo.
65. DAS, A.C. Aurobindo and Some Modern Problems, 1958.
66. DIWAKAR, R.R. Mahayogi Sri Aurobindo, Bhartiya Vidya Bhawan. 1954, ed 4. 1967, 300 p.
67. DONNELLY, MORVENNA. Founding the 'Life Divine', London, Rider and Co. Hutchinson House, Stratford place. 1955, Jaico. 1958, 172 p.
68. GHANDHI, KISHOR H. Lights on Life-problems : Sri Aurobindo's views on important problems. Ist series. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1950, 230.
69. " Lights on Life-problems. 2nd series. Extracts from Sri Aurobindo's Writings on Art, Literature and Poetry. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1951. 176 p.
70. " Social Philosophy of Sri Aurobindo and the New Age. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1965, 273 p.
71. GHOSE, SISIR. The Poetry of Sri Aurobindo. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1969, 124 p.
72. GUPTA, NOLINI KANTA. Collected works. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. Vol I. 1970, 406 p. Vol II. 1971, 376 p.
73. " Sri Aurobindo and his Ashrama, ed. 4. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1969, 95 p.
74. INDRA, SEN. The Integral Yoga, 31 p.
75. IYENGAR, K. R. S. Sri Aurobindo : A Biography. Calcutta, Arya Publishing House 1945, ed. 2. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1950.
76. " Sri Aurobindo : An Introduction Mysore Rao and Raghavan, Clock tower square 1961.
77. KAUL, H. K. Sri Aurobindo : A description Bibliography. New Delhi, Munshiram Manohar Lal. 1972, 222 p.
78. KESHAVAMURTI, Y. Sri Aurobindo and his Yoga. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1967, 26 p.



## 1972] BIBLIOGRAPHY ON AUROBINDO'S THOUGHT 235

79. KESHAVAMURTI, Y Sri Aurobindo: The Hope of Man. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1967, 405 p.
80. LANGLEY, G. H. Sri Aurobindo. London. Royal India and Pakistan Society. Victoria Street, 1949.
81. MAITRA, S.K. An Introduction to the Philosophy of Sri Aurobindo. ed. 2. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1965, 71 p.
82. " Studies in Sri Aurobindo's Philosophy. Calcutta, The Book Co. Ltd. 1943.
83. MANIBHAI, ed. A Practical Guide to Integral Yoga : Extracts Compiled from the writings of Sri Aurobindo and the Mother. Revised ed. 5. ( In the press ).
84. MISHRA, R. S. Integral Advaitism of Sri Aurobindo. Banaras, Banaras Hindu University 1957, 410 p.
85. MIIRA, SISIR KUMAR Sri Aurobindo : A Homage. Dhakoria, Debidas Ray, 12-5 A Babu Began Lane. 1942, ed 3. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1950.
86. " Aurobindo and Indian freedom, 1948.
87. MOTWANI, KEWAL L Sri Aurobindo on Social Science and Humanities. Bombay, Orient Longmans. 1962, 128 p.
88. MOTHER, THE (of Sri Aurobindo, Pondicherry). Sri Aurobindo, Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1961.
89. NAHAR, PRTHWI SINGH The Winds of Silence: Poems on Sri Aurobindo and the Mother. ed 2 revised and enlarged (In the press).
90. NARAYAN PRASAD Life in Sri Aurobindo Ashrama. ed 2 Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1968 p.
91. NAVAJAJA Sri Aurobindo. New Delhi. National Book Trust of India. 1972. 127 p.
92. NIRODBARAN Correspondence with Sri Aurobindo Part I and II together in one volume. ed 2 Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama 1969. 356 p.



93. PANDEY, DULAT      Tales of India. Vol. I with three Coloured and other illustrations. Revised ed 2 Pondicherry. 1971. 114 p.
94. PANDIT, M P.      Sadhana in Sri Aurobindo's Yoga, ed 2. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1964. 107 p.
95. PREMA, NAND KUMAR      A Study of Savitri. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1962. 568 p.
96. PURANI, A. B      Life of Sri Aurobindo : a Chronological Account. ed 3. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1964. 335 p.
97. REDDY, V. MADHU-SUDAN      Sri Aurobindo's Philosophy of Evolution Hyderabad, Institute of Human Study, 1956 385 p.
98. RISHABHA CHANDRA      In the Philosopher's Light, 2 part Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama.
99. Roy, ANILBARAN      The World Crisis: Sri Aurobindo's Vision of the future. Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1942. 157 p.
100. SASTRI, T. V. KAPALI      Sri Aurobindo : Lights on Teachings. Madras, Sri Aurobindo Library, 1948. ed 2. 1948. p. 186.
101. SHARMA, RAMNATH      The Philosophy of Sri Aurobindo. Lucknow, Bharatiya Prakashan Mandir, Kashi Sadan, Pandariba, 1960,
102. SINGH, KARAN      Sri Aurobindo: Prophet of Indian Nationalism.
103. TAGORE, RABINDRA NATH      Salutation to Sri Aurobindo. Tr. in English in Verse by K.C. Sen Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama, 1949. 9 p.
104. VIJAYATUNGA, J.      Aspects of Sri Aurobindo: Madras Sunday Times Bookshop. Petters Road, Cathedral.
105. YVONNE      The Golden Journey: A Drama, Pondicherry, Sri Aurobindo Ashrama. 1960. 20 p,
106. ZAEHNER      Evolution in Religion : A Study in Sri Aurobindo and Pierre Teilhard Dechardin. London, Oxford University Press, 1971 121 p.



## हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थ

१. अभय देव      मन नहीं टिकता क्या, करें ? पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।
२.      "      वैदिक उपदेशमाला । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।
३.      "      वैदिक विनय ( ३ भागों में ) श्री अरविन्द आश्रम ।
४. अरविन्द      अरविन्द के पत्र ( दो भागों में ) संपादक—इन्द्रसेन । पांडिचेरी ।  
श्री अरविन्द आश्रम । १९५३ ।
५.      "      अवतार । अनुवादक—चन्द्रदीप । अदिति पुस्तकालय । पांडिचेरी ।  
श्री अरविन्द आश्रम । १९६१ । पृ० ७६
६.      "      इस जगत की पहली । कलकत्ता । अरविन्द ग्रन्थमाला । १६३७ ।  
१२४ पृ० ।
७.      "      उत्तरपाड़ा अभिमाषण । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।
८.      "      कठोपनिषद् मंत्र और अनुवाद पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।  
१९५३ । ४८ पृ० ।
९.      "      कतिपय संदेश ( श्री मां तथा श्री अरविन्द के ) पांडिचेरी ।  
श्री अरविन्द आश्रम । १९ पृ० ।
१०.      "      कर्मयोगी ( 'कर्मयोगी' पत्र के लेखों का संग्रह ) संपादक—इन्द्रसेन ।  
अनुवादक—जगन्नाथ वेदालंकार । अदिति कार्यालय । पांडिचेरी ।  
श्री अरविन्द आश्रम । ११५ पृ०
११.      "      गीता की भूमिका ( बंगाली से अनुदित ) पांडिचेरी । श्री अरविन्द  
सोसायटी ।
१२.      "      गीता प्रबन्ध ( २ भागों और ३ खण्डों में ) पांडिचेरी । श्री अरविन्द  
आश्रम ।
१३.      "      गीता प्रबन्ध ( सम्पूर्ण ) पांडिचेरी । श्री अरविन्द सोसायटी ।  
१९६६ । पृ० ६२९
१४.      "      चैत्यपुरुष ( ३ भागों में ) पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।  
१९६८ । पृ० ८६, ११२ एवं ९३ ।
१५.      "      जगन्नाथ का रथ ( हिन्दी में अनुदित कतिपय बंगाली लेखों का  
संग्रह ) । पांडिचेरी । श्री अरविन्द सोसायटी ।
१६.      "      दयानन्द । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।



१७. " दिव्य जीवन ( प्रथम भाग ) अनुवादक-श्री केशवदेव आचार्य ।  
पांडिचेरी । दिव्य जीवन साहित्य प्रकाशन । १९७१ । ४७९ पृ० ।
१८. " दिव्य जीवन ( दो भागों में ) अनुवादक-श्री श्याम सुन्दर झुनझुन-  
वाला । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम सोसायटी ।  
भाग १ १९७० ४४० पृ०  
भाग २ १९८० ३८३ पृ०
१९. अरविन्द दुर्गास्तोत्र । अनुवादक-श्री जगन्नाथ वेदालंकार । पांडिचेरी ।  
श्री अरविन्द आश्रम । ३१ पृ०
२०. " धर्म और जातीयता ( धर्म पत्रिका के लेखों का संग्रह ) पांडिचेरी ।  
श्री अरविन्द सोसायटी । १९४६ । पृ० ११९ ।
२१. " ध्यान और एकाग्रता ( ध्यान और एकाग्रता के विषय में श्री मां  
तथा श्री अरविन्द के विचारों का संकलन ) अनु०, चन्द्रदीप  
पांडिचेरी । अदिति कार्यालय । १९६६ । पृ० १०५ ।
२२. " नाटक और कहानियाँ । अनु० अनुबेन । पांडिचेरी । श्री अरविन्द  
सोसायटी । १९७२ । पृ० ३४२ ।
२३. " पत्रावली ( भाग १ व २ ) पांडिचेरी श्री अरविन्द आश्रम ।  
१९५४ । पृ० ४८ ।
२४. " पुनर्जन्म और क्रमविलास । अनु० श्याम सुन्दर झुनझुनवाला ।  
पांडिचेरी श्री अरविन्द सोसायटी । १९७२ । पृ० ३६७ ।
२५. " प्राण और उसका रूपान्तर ( २ भागों में ) अनुवादक-चन्द्रदीप ।  
पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।  
भाग १ १९६६ ८७ पृ० भाग २ १९६६ ९९ पृ० ।
२६. " प्रेम और मृत्यु ( श्री अरविन्द की कविताओं पर आधारित पांच  
कहानियों का संग्रह ) । अनुवादक-अनुबेन पुराणी । पांडिचेरी ।  
श्री अरविन्द आश्रम । १९६७ । पृ० ७२ ।
२७. " भागवत मुहूर्त । संपा० राजेश्वर जी० ओझा । अनु० चन्द्रदीप ।  
श्री अरविन्द सोसायटी । १९६७ । पृ० १२१ ।
२८. " भारतीय संस्कृति के आधार । पांडिचेरी । श्री अरविन्द सोसायटी ।  
१९६८ । पृ० ५०३ ।
२९. " माता ( माता के चार स्वरूपों-माहेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी  
और महासरस्वती का वर्णन ) । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।
३०. " मानव एकता का आदर्श । अनुवादक-नीलावती इन्द्रसेन ।  
पांडिचेरी । श्री अरविन्द सोसायटी । १९६६ । पृ० ४३९ ।



1972 ]

हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थ

239

३१. " मानव एकता का स्वरूप । संपा० चन्द्रदीप । पांडिचेरी । अदिति कार्यालय । १९६५ । पृ० ८९ ।
३२. " मानव चक्र । अनुवादक-लीलावती इन्द्रसेन पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम । १९७० । पृ० ३८४ ।
३३. " मुक्तिदाता परसियस ( एक नाटक ) अनु०-अनुवेन पुराणी । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम । १९६८ । १४६ पृ० ।
३४. " मृतकों से वार्तालाप । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।
३५. " मृत्यु और उसपर विजय । अदिति पुस्तकमाला-२ । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम । १९६५ । पृ० १०३ ।
३६. " योग के आधार । अनुवादक-चन्द्रदीप । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम । १९६९ । पृ० १३४ ।
३७. अरविन्द योग दीक्षा ( श्री अनिलवरण राय का श्री अरविन्द से योगजिज्ञासा विषयक पत्र-व्यवहार ) । संपादक-इन्द्रसेन । अनुवादक कृष्णशंभु । अदिति कार्यालय । पांडिचेरी श्री अरविन्द आश्रम । १९४८।८५ पृ०
३८. " योग प्रदीप ( योग साधना से सम्बन्धित कतिपय व्यावहारिक प्रश्नों का समाधान ) । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम । १९६७ । पृ० ६४ ।
३९. " योग विचार । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।
४०. " योगा समन्वय ( २ भागों में ) अनुवादक जगन्नाथ । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।  
पूर्वार्द्ध १९६९-६२२ पृ० ।  
उत्तरार्द्ध-१९६९-४२९ पृ० ।
४१. " योग साधना के कुछ प्रमुख तत्व । अनु० चन्द्रदीप । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम । १९६९ । पृ० १०८ ।
४२. " वचनामृत । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।
४३. " विचार और झांकियाँ ( सूत्र वचन ) । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।
४४. " विचारमाला और सूत्रावली ( ज्ञान, कर्म और भक्ति शीर्षक के अधीन सूत्र प्रवचन ) पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम । १९६८ पृ० ११८ ।
४५. " वेद रहस्य ( ३ भागों में ) श्री अरविन्द सोसायटी ।
४६. गदें, लक्ष्मी नारा- अरविन्द और उनका योग ।  
यण (संपादक) १९३६ ।



४७. गुप्त, नलिनी कान्त पूर्ण योग । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम ।
४८. मिश्र, भुवनेश्वर- अरविन्द चरितामृत । पांडिचेरी । श्री अरविन्द आश्रम । १९६३ ।  
नाथ 'माधव'
४९. सिंह, कर्ण (डा०) भारतीयता का अग्रदूत । अनुवादक-पद्मिनी मेनन । संपादक-रमेश  
वर्मा । नई दिल्ली, थामसन प्रेस ( इण्डिया ) लिमिटेड । १९७०  
११८ पृ० ।
५०. सिंह, शिवप्रसाद उत्तर योगी : श्री अरविन्द । इलाहाबाद । लोकभारती प्रकाशन ।  
(डा०) १९७२ । पृ० ४७३ ।



## काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

१	गीता प्रवचन :		
	गीता व्याख्यानमाला भाग १	म० म० पं० गिरिवर शर्मा चतुर्वेदी	१५.००
२	" " भाग २	" "	७.५०
३.	" " भाग ३	" "	१२.००
४.	प्रौढ़ मनोरमा	डा० सीताराम	३०.००
५.	भगवद्गीता का आशय और उद्देश्य	डा० मगवान् दास	०.५०
६	वैदिक कोश	डा० सूर्यकांत	२२.५०
७	प्रकरण पंचिका	श्री ए० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री	२५.००
८.	रसगंगाधर भाग १	श्री ए० मधुसूदन झास्त्री	१५.००
९.	" भाग २	" "	३५.००
१०.	महामना मालवीयजी के लेख और भाषण		५.००
१.	संगीतराज भाग १		
	राणा कुम्भाकृत	संपादिका डा० कु प्रेमलता शर्मा	४०.००
२.	रासायनिक तत्व विश्लेषण	डा० गोरख प्रसाद श्रीवास्तव	६.००
३.	विधि विज्ञान ( Jurisprudence )	श्री गिरिजा शंकर मिश्र	८.००
४.	तुलसीदास जी की दृष्टि में नारी और मानव जीवन में महत्व	डा० ज्ञानवती त्रिवेदी	१०.००
1.	Mahamana Malviya Birth Centenary Commemoration Volume	5.00	
2.	The Religion We Need—Dr. S. Radhakrishnan	..	1.00
3.	The Theism of Bhagwat Gita—Dr. S Radhakrishnan	..	3.00
4.	The Integral Advaitism of Shri Aurobindo—Dr. R. S. Misra		14.00
5.	Spinoza in the Light of Vedanta—Dr. R. K. Tripathi	..	12.00
6.	The Himalayan Beas Basin—Dr. S. L. Kayastha	..	25.00
7.	Sectional Price Movement in India—Dr. Ajodhya Singh	..	20.00
8.	A Study in Urban Geography of Allahabad—Dr. U. Singh		20.00
9.	Geochemistry of the Valcanic Rocks of Pavagarh— Dr. B. D. Tewari	..	23.00
10.	History of the Banaras Hindu University	..	25.00
11.	Deeds of Harsh Charita—Dr. V. S. Agrawal	..	
12.	Einstein's Generalized Theory of Gravitation—Dr. Ramji Tiwari		17.50

मुद्रक—शिवनारायण उपाध्याय  
नया संसार प्रेस, मदेनी, वाराणसी-१



## विश्वविद्यालय के उद्देश्य

१. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लामार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
२. साधारणतः कला तथा विज्ञान भी समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना।
३. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि संबंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
४. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

## OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India,
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches,
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country : and
4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.